उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

M.COM-09
उद्यमिता एवं लघु उद्योग प्रबन्ध

खण्ड

1

उद्यमिता एवं लघु उद्योग

इकाई -1 5
उद्यमिता - परिचय तथा विचारधाराएँ

इकाई -2 36
उद्यमिता विकास को प्रभावित करने वाले वातावरणीय कारक

इकाई -3 53
उद्यमिता विकास कार्यक्रम और मूल्यांकन

इकाई -4 68
सरकार तथा अन्य संगठनों की भूमिका

इकाई -5 91
सरकारी नीतियाँ तथा उसके प्रभाव

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	कुलपति - अध्यक्ष
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

विषयगत सम्पादन

प्रो0 मूल मोतिहार	प्रोफेसर, मोनिरबा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डॉ0 देवेश रंजन त्रिपाठी	असिस्टेन्ट प्रोफेसर, उ0 प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के स्वयं के हैं।

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री एम0 एल0 कनौजिया, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, मार्च 2010
मुद्रक नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद।

खण्ड-1 परिचय

भारत की विकासशील अर्थव्यवस्था में उद्यमिता का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह व्यापारिक समाज में निर्धारित उद्देश्यों, दृष्टिकोणों, विचारधाराओं व युक्तिपूर्ण योजनाओं के प्रति सहासिक निर्णय लेते हुए वातावरणीय कारकों का सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध उपयोग कर सुनिश्चित मार्ग प्रशस्त करता है। यह खण्ड क्रमबद्ध ढंग से उद्यमिता के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालेगी। अध्ययन को पूर्णतः प्रदान करने हेतु इस खण्ड को निम्नलिखित इकाईयों में विभक्त किया गया है :-

इकाई-1 में उद्यमिता की अवधारणा, इसके तत्व, प्रकार, विभिन्न विचारधाराएँ, उद्यमिता की दिशा और दिशा एवं उद्यमिता हेतु सफलता के मत आदि पर विस्तार से डाला गया है।

इकाई-2 में उद्यमिता विकास को प्रभावित करने वाले वातावरणीय कारकों, इसकी आवश्यकता एवं महत्व तथा वातावरणीय कारकों के अध्ययन हेतु उपयोगी बिन्दुओं का विश्लेषण किया गया है।

इकाई-3 में उद्यमिता विकास कार्यक्रम की विशेषताओं, महत्व, कार्यक्रम के विभिन्न चरण, क्षेत्र, कार्यक्रम से जुड़ी प्रमुख संस्थाएँ एवं वर्तमान दशा और दिशा का विस्तार से मंथन किया गया है।

इकाई-4 में उद्यमिता को जन-जन तक पहुँचाने में सरकार की भूमिका का मूल्यांकन किया गया है। सरकार के साथ-साथ इनके सहयोगी संगठनों की भूमिका एवं कार्य तथा इन प्रयासों में बाधक कारकों एवं इन प्रयासों को प्रभावी बनाने में विभिन्न उपायों की चर्चा की गई है।

इकाई-5 में उद्यमिता सम्बन्धी विभिन्न सरकारी नीतियों का परिचय, उद्देश्य तथा इनकी विशेषताओं तथा नीतिगत प्रयासों के प्रभाव तथा इसकी उपयोगिता का वर्णन किया है।

इकाई 1 : उद्यमिता - परिचय तथा विचारधाराएँ

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्यमिता-परिचय तथा अर्थ
1.3 उद्यमिता के आधार तत्व
1.4 उद्यमिता के विभिन्न प्रकार
1.5 उद्यमिता सफलता के मंत्र
1.6 उद्यमिता की विचारधाराएँ तथा अवधारणाएँ
1.7 उद्यमिता का महत्व
1.8 उद्यमिता की दशा और दिशा
1.9 सारांश
1.10 उपयोगी शब्द कोश
1.11 महत्वपूर्ण प्रश्नावली

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्यनोपरान्त आप छात्रगण इस योग्य हो सकेंगे कि -

- उद्यमिता की अवधारणा तथा इसके अर्थ को विस्तार से समझ सकेंगे,
- उद्यमिता के आधार तत्वों को आत्मसात् कर सकेंगे,
- उद्यमिता का वर्गीकरण कर उसे गहनता से समझ सकेंगे,
- उद्यमिता के सफलतम मार्ग हेतु पथ प्रदर्शक कारकों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- उद्यमिता की विभिन्न, विचारधाराओं को जान सकेंगे तथा
- उद्यमिता के महत्व के साथ-साथ प्रतिस्पर्धात्मक उद्यमिता की दशा और दिशा को निर्धारित कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

जिस प्रकार मानव के लिये समाज आवश्यक है ठीक उसी प्रकार व्यापारिक

समाज में उद्यमिता एक अभिन्न अंग है। यह व्यापारिक समाज में पूर्व निर्धारित उद्देश्यों दृष्टिकोणों, विचारधाराओं व यूक्ति पूर्ण योजनाओं के प्रति साहसिक निर्णय लेते हुए वातावरणीय कारकों का सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध उपयोग कर सुनिश्चित मार्ग प्रशस्त करता है। यह विभिन्न व्यापारिक निर्णयों क्रियाओं के समन्वयन से धनार्जन, पूँजी निर्माण, अधिक विकास, कार्य प्रणालियों एवं समिष्टि विकास का एक सफलतम मार्ग ही नहीं अपितु सामाजिक मूल्यों, स्तरों, आचरणों, व्यवहारों आदि का एक सुव्यवस्थित मिश्रण- भी है। उद्यमियों की कौशलता एवं कुशलता, उनकी भावी एवं प्रभावी भूमिकाओं के अन्तर्गत, नवीन प्रवर्तन अभिप्रेरणा, संसाधनों का सुव्यवस्थित विकास एवं प्रयोग तथा तर्कपूर्ण निर्णयों के द्वारा नवीन उपयोगी सेवाओं एवं उत्पादों का सृजन करना सम्भव होता है। इस प्रकार उद्यमिता व्यापारिक समाज में मानव के सृजनशील विचारों के प्रवर्तन का मूल आधार है।

1.2 उद्यमिता परिचय तथा अर्थ

संसार में किसी भी प्रगतिशील देश के आर्थिक एवं सामाजिक विकास में उद्यमिता के स्थान को प्रमुखता से रेखांकित किया जाता है। इसी गुण के कारण किसी भी देश में उपलब्ध राष्ट्रीय सम्पदा एवं अन्य उपलब्ध संसाधनों से विभिन्न प्रकार के उत्पाद, कार्यों में नियोजन, नवीन तकनीकी एवं विचारों को देश हित में साहसिक एवं सुव्यवस्थित निर्णयों द्वारा सृजनशीलता एवं क्रियात्मकता का निर्माण किया जाना सम्भव हो पाता है। इस प्रकार उद्यमिता का विकास सम्भवतः ढाई सौ वर्ष पुराना है किन्तु 21वीं शताब्दी के आविर्भाव से ही समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों में इसके प्रति इच्छा तथा रूचि को सहज ही देखा जा सकता है।

उद्योग या व्यापार चाहे छोटा हो या बड़ा इसकी स्थापना का कोई न कोई आधार अवश्य ही होता है जिसके बिना इसका संचालन व समन्वय नहीं हो सकता। इसके विकास में एक व्यक्ति की पृष्ठभूमि समाहित होती है जिसने व्यवस्था से सम्बन्धित विभिन्न अनिश्चिताओं व जोखिमों का सामना किया होता है, तत्पश्चात् नवीन विचारों, प्रयासों से अपने व्यवसायी साम्राज्य का विकास करता है। इस तरह के व्यक्तियों में हम अपने देश से रतन टाटा, कुमार मंगलम् बिड़ला, मुकेश और अनिल अम्बानी, तथा बिग बाजार जैसी व्यापारिक संस्था के प्रवर्तक किशोर बियानी आदि का नाम रख सकते हैं, जिन्होंने अपनी सोच, संघर्ष, लगन, से औद्योगिक वातावरण के शिखर पर अपना परचम फहराया है।

आज की प्रतिस्पर्धा एवं सेवा प्रधान अर्थव्यवस्था में साहसिक योग्यताओं व कौशलता की महत्ता निरन्तर बढ़ती जा रही है। आज उद्यमिता विकसित और विकासशील देशों के विकास का मुख्य आधार बन गयी है। यह आम धारणा बन गई है कि कोई भी देश उद्यमिता के विकास बिना आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति मार्ग की ओर प्रशस्त नहीं हो सकता। वस्तुतः प्रत्येक देश आज साहसी व कुशल उद्यमिता को अपना अग्रदूत स्वीकार कर चुका है।

विभिन्न व्यवसायिक दृष्टिकोणों के फलस्वरूप उद्यमिता के अर्थ के सम्बन्ध में विभिन्न स्थितियों का निर्माण हुआ है 18वीं शताब्दी के शुभारम्भ से ही विभिन्न, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं प्रबन्धकीय विद्वानों ने उद्यमिता को अलग-अलग अर्थों में समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है। श्री रिचमेन तथा शुम्पीटर के अनुसार-उद्यमिता एक नव प्रवर्तनकारी कार्य है जो किसी सृजनात्मक, बाह्य या खुली प्रणाली की ओर संकेत करती है। यह नवप्रवर्तन ही, जोखिम वहन तथा गतिशील नेतृत्व का कार्य है।

इसी प्रकार श्री एच० एन० पाठक के मतानुसार ''उद्यमिता उन व्यापक स्रोतों को समाहित करती है, जिनके लिए अनेक साहसिक निर्णय लेने पड़ते हैं। इन साहसिक निर्णयों को तीनों श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :-

(1) सही अवसरों को ढूँढ़ना

(2) इकाई का संगठन कर नेतृत्व करना, तथा

(3) इकाई की उत्पादकता बढ़ा लाभप्रद व गतिशील संस्था के रूप में संचालित करना।

इसी कड़ी में प्रो० हिगिन्स के मतानुसार ''उद्यमिता उत्पादन एवं विनियोग के अवसरों की तलाश, संसाधनों को एकत्रित कर नयी उत्पादन प्रक्रिया का प्रारम्भ, पूँजी की व्यवस्था एवं सही उपयोग, श्रम का उचित स्थानीकरण, नए उत्पादों व तकनीकी को आग्रसात तथा उपक्रम के नियमित संचालन हेतु उच्च वर्ग के प्रबन्धकों का चयन करने का कार्य है। अन्त में ए० एच० कोल के शब्दों में उद्यमिता एक मानव तथा मानवों के संगठित समूह की पूर्व निर्धारित एक उद्देश्यपूर्ण क्रिया है जिसमें निर्णयों की एक क्रमबद्ध शृंखला का जुड़ाव होता है। यह आर्थिक उत्पादों एवं सेवाओं के उत्पादन और विवरण के लिये एक लाभपूर्ण व्यवसायिक इकाई का निर्माण, विकास, योजना तथा संचालन करता है।

ऊपर वर्णित परिभाषाओं के सूक्ष्म मूल्यांकन से परिलक्षित होता है कि विभिन्न विद्वानों ने उद्यमिता के विभिन्न स्वरूपों को समाज के समक्ष रखने का प्रयास किया है। इस प्रकार हम उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर उद्यमिता की अग्रलिखित विशेषताओं का निरूपण कर सकते हैं :-

1. उत्पादन के साधनों को एकत्रित करके उन पर नियन्त्रण करके तथा एक लाभपूर्ण उत्पादक इकाई के रूप में समन्वयित करने की कौशल व कुशलता उद्यमिता का रूप होती है।
2. व्यवसायिक अनिश्चितताओं व जोखिमों को वहन करने की क्षमता।
3. उद्यमिता तथा प्रबन्ध में स्पष्ट अन्तर होता है।
4. नये-नये उपक्रमों का प्रवर्तन करना तथा व्यवसाय को समाज व वातावरण के साथ जोड़ने का गुण।
5. व्यवसाय में नवीन प्रवर्तनों, नवीन अवसरों, सामाजिक नव प्रवर्तनों को प्रोत्साहित करना तथा व्यवसाय को गतिशील तथा प्रभावी नेतृत्व प्रदान करना।
6. उद्यमिता को आर्थिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण का आधार माना गया।

1.3 उद्यमिता के आधार तत्व

अब हम कह सकते हैं कि उद्यमिता सर्वव्यापी, गत्यात्मक, निर्णायक एवं महत्वपूर्ण विचार है। इसके विभिन्न रूपों के कारण उद्यमियों के कार्यों व व्यवहारों में भी अनेकानेक गुणात्मक परिवर्तन सम्भव होने लगता है। अतः उद्यमिता के आधार पर तत्व निम्न प्रकार से निरूपित किये जा सकते हैं :-

1. नवाचार उद्यमिता का महत्वपूर्ण व आवश्यक तत्व है जिसके अन्तर्गत किसी भी औद्योगिक उपक्रम में नये विचारों, दृष्टिकोणों, विधाओं तथा नवीन तकनीकों को श्रेष्ठ कार्य सम्पादन हेतु अपनाया जाता है, तब यह नवाचार कहलाता है।
2. व्यवसाय में जोखिम प्रत्येक चरण में सन्निहित होता है, उद्यमिता की यह विशेषता है कि इसमें जोखिम निहित है जिनमें ग्राहकों की इच्छाओं व मूल्यों मे परिवर्तन होने, संसाधनों की आपूर्ति में बाधा आना आदि प्रमुख

है। उद्यमिता कौशल व गुणात्मक कुशलता को विकसित करती है जिनसे जोखिम को वहन करने की क्षमता का विकास हो सके। इस हेतु उद्देश्यपूर्ण कार्य, सुव्यवस्थित नियोजन, पूर्वानुमान तथा नयी तकनीकी आदि के समन्वय से जोखिम वहन क्षमता को समुन्नत किया जा सकता है।

3. उद्यमी के विशिष्ट गुण भविष्य में किसी भी प्रकार के जोखिमों को न्यून बनाये रखना व उन्हें नियन्त्रित करने में होती है।

4. उद्यमिता व्यावसायिक व औद्योगिक क्षेत्रों में ही नहीं अपितु मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिये सुव्यवस्थित, अनुशासित, सुसंगठित एवं संस्कारित जीवन शैली के निर्माण हेतु आधार स्तम्भ प्रदान करता है।

5. उद्यमिता एक ऐसा विचार है जिसमें उद्यमिता कार्यों से सम्बन्धित ज्ञान व शिक्षा के तत्व अन्तर्निहित होते हैं। उद्यमियों को अपने उद्योगों की स्थापना व संचालन की प्रविधियों, व्यापारिक नियमों, क्रय-विक्रय सम्बन्धी व्यवहारों, उपभोक्ता केन्द्रित विचारों व व्यावसायिक सिद्धान्तों का ज्ञान आवश्यक है। अतः उद्यमिता ज्ञान व शिक्षा के माध्यम से उद्यमीय प्रवृत्तियों को सुव्यवस्थित एवं विकासन्नोमुखी बनाती है।

6. उद्यमिता से सम्बन्धित मौलिक विचार रचनात्मक विचारों व सृजनशीलता से युक्त रहते हैं। उद्यमी व विचार, कुछ भी नया सृजन करने का होता है। इस प्रकार उद्यमिता की सम्पूर्णता एवं पहचान उसके रचनात्मक विचारों व दृष्टिकोणों की स्त्रोत मानी गई है।

7. उद्यमिता नये अवसरों के निर्माण का अवसर भी है। इस अवसर के अन्तर्गत किसी उत्पाद का सृजन या नवाचार करके विभिन्न तरीकों के निर्माण का कार्य भी किया जाता है। ऐसे अवसरों की प्राप्ति सामान्यतः किसी समस्या का अध्ययन करने, पूर्वानुमान करने तथा विभिन्न स्थितियों के साथ समायोजन कर शोध व अनुसंधान कार्यों द्वारा ही सम्भव होती है।

8. उद्यमिता सदैव उद्यमियों के कार्यों तथा व्यवहारों को रचनात्मकता कुशलता एवं सृजनशीलता की ओर उन्मुख करने का प्रयास करती है। इस प्रकार उन्हें नये विचारों, दृष्टिकोणों एवं अवसरों की खोज करने की भी प्रेरणा मिलती हैं। इस प्रकार उद्यमिता एक प्रेरणादायक अभिक्रिया है जो

उद्यमियों को अपने लक्ष्यों की ओर बढ़ाती है।

9. उद्यमिता में उद्यमशील प्रवृत्तियों के साथ-साथ योजना का निर्माण करने, व्यवसाय का संचालन करने, लाभार्जन करने एवं ख्याति प्राप्ति की ओर का भी रूझान पाया जाता है। यह व्यक्तियों में पायी जाने वाली व्यावसायिक अभिरूचि व प्रवृत्तियों की ओर होने वाले दृष्टिकोणों को भी प्रकट करती है।

10. उद्यमिता में प्रतिफल समाहित होता है। जब भी कोई उद्यमी निष्ठा की भावना के साथ उद्यमीय कार्य सम्पन्न करता है तो उसके प्रति प्रतिफल प्राप्ति की सम्भावनाएं स्वतः बन जाती है। प्रायः यह प्रतिफल लाभ, उत्पादन, ख्याति, औद्योगिक विकास, रोजगार वृद्धि एवं अन्य रूपों में दृष्टिगत हो सकते हैं।

11. उद्यमिता से सम्बन्धित विचार, योजनाएं, विधियाँ व प्रक्रिया कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित होती है। उद्यमिता के सिद्धान्तों में पहल करना, एकरूपता, यथार्थ गत्यात्मकता एवं सर्वव्यापकता जैसे तत्व पाये जाते हैं।

12. उद्यमिता स्वमेव ही सामाजिक मूल्यों की उपासक होती है। अतः उद्यमिता का विकास सामाजिक मूल्यों, दृष्टिकोणों व विचारों की पृष्ठभूमि पर आधारित होता है जो समाज के लिए आवश्यक एवं उपयोगी सिद्ध होते हैं।

13. उद्यमिता उन बिन्दुओं को सुस्पष्ट करती है, जिनसे उद्यमियों द्वारा सामाजिक दायित्वों का निर्वाह किया जाता है अर्थात यह उद्यमियों के सामाजिक दायित्वों के निर्वहन का मार्ग बनाती है और दायित्व निर्वाह के प्रति आवश्यक चरणों को सुस्पष्ट करती है।

14. उद्यमिता की सर्वव्यापकता का आधार पूर्णतः अन्तर्विषयक विचारों पर आधारित होता है। उद्यमियों द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति व कार्य निष्पादन में विभिन्न विषयों जैसे समाज विज्ञान, राजनीति शास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, प्रबन्ध शास्त्र व तकनीकी ज्ञान आदि को आधार बनाना अपेक्षित होता है।

15. उद्यमिता का मूल आधार उपलब्ध संसाधनों को प्राप्त कर उनका अधिकतम उपयोग करना है। उद्यमिता द्वारा ही संसाधनों में परिवर्तित किया जाता है तथा संसाधनों के आर्थिक मूल्यों में उद्यमिता का वास्तविक स्वरूप संसाधनों की रचनात्मकता में ही सन्निहित होता है।

16. उद्यमिता अपने उद्देश्यों के अनुरूप कठिन परिश्रम से परिणाम आधारित व्यवहारों को मान्यता प्रदान कर महत्वता देती है। इसमें कार्य द्वारा परिणामों की प्राप्ति पर गम्भीर प्रयास किये जाते हैं। अतः इसमें परिणामोन्मुखी दृष्टिकोण को पर्याप्त मान्यता दी जाती है।

17. जीवन के सभी क्षेत्रों में उद्यमिता की आवश्यकता महसूस की जाती है। सामाजिक, व्यावसायिक, आर्थिक, तकनीकी आदि सभी क्षेत्रों में जोखिमों का सामना करने व नवप्रवर्तन करने में उद्यमीय चिन्तन आवश्यक होता है। अतः सर्वव्यापी स्वीकारता के कारण ही इसे सार्वभौमिकता क्रिया के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है।

18. व्यवसायी किसी नये विचार को अपनाने मात्र से ही उद्यमी नहीं हो जाता जब तक कि वह उस नये कार्य को सीख कर निरन्तर अभ्यास करे। वस्तुतः इससे व्यक्तित्व के रूपान्तरण की भी सम्भावना होती है जो व्यक्तित्व विकास में मददगार सिद्ध होती है। अतः उद्यमिक प्रवृत्तियों के आत्मसात् से व्यवसायियों के व्यक्तिगत व सामाजिक गुणों में सुधार किया जाना सम्भव हो पाता है, अतः उद्यमिता व्यक्तित्व विकास का प्राथमिक आधार होती है।

19. आज व्यवसाय में तीव्रगति से हो रहे विशिष्टकरण से पेशेवर क्रियाओं का विकास तेजी से होने लगा है। उद्यमीय कार्यों की विशिष्ट पहचान के कारण उद्यमिता पेशेवर कार्यों की श्रेणी में रखा जाने लगा है। इसमें भी विशिष्ट गुणों व योग्यताओं की प्राप्ति के लिए शिक्षा, ज्ञान व प्रशिक्षण अनिवार्य हो गया है। इसे प्राप्त करने व सीखने का कार्य किया जाता है जिसमें वातवरणीय घटकों, दशाओं व प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए वस्तुओं का उत्पादन, विनिमय, वितरण व विपणन सम्बन्धी कार्यों को विस्तार से समझाया जाता है। वस्तुतः आदर्श उद्यमिता पूर्णतः वातावरणीय तत्वों से प्रभावित होती है।

20. उद्यमिता एक ऐसा विचार है जो व्यवसायिक क्षेत्रों में जुड़े विभिन्न व्यक्तियों के दायित्वों एवं भूमिकाओं का मूल्यांकन कर जांच करती है व कमियों को उजागर करने की कोशिश करती है। उद्यमियों द्वारा स्थापित क्षमता के उपयोग, लागत नियन्त्रण, जोखिमों की न्यूनता आदि से सन्दर्भ में विभिन्न वर्गों के दायित्वों व भूमिकाओं का पर्याप्त मूल्यांकन कर उन्हें लक्ष्यों व कार्य योजनाओं की ओर अभिप्रेरित करती है।

1.4 उद्यमिता के विभिन्न आधार

उद्यमिता का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है जो व्यवसायिक क्षेत्रों में विभिन्न स्वरूप व स्तरों के माध्यम से अपनी पहचान बनाकर प्रदान करता है। इन क्षेत्रों में व्याप्त समयानुकूल दृष्टिकोणों, चिन्तनों व व्यावहारिक रूपों में भी निरन्तर परिवर्तन आता रहा है, जिससे इसी के अनुरूप उद्यमिता के स्वरूपों में भी परिवर्तन आया है। अतः उद्यमिता को विभिन्न भागों में वर्गीकृत कर समझने का प्रयास किया गया। आइये इसके विभिन्न प्रकारों का विश्लेषण करते हुए अवलोकन करने की कोशिश करें-

I. प्रबन्ध शैली के आधार पर : उद्यमियों ने अपने श्रेष्ठ कार्य व वास्तविक परिणामों की प्राप्ति के लिए प्रबन्ध विज्ञान को किसी न किसी रूप में अपनाया। स्थिति यह है कि आधुनिक व्यवसाय में उद्यमी को एक कर्मशील के गुणों से परिपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में पहचाना जाना चाहिये। इसी से उसकी पहचान एक कुशल प्रबन्धक के रूप में भी होती है। इस प्रकार हम प्रबन्ध शैली के आधार पर उद्यमिता के विभिन्न स्वरूपों का विश्लेषण कर सकते हैं -

1. **संवर्द्धनकारी उद्यमिता :** उद्यमियों द्वारा किसी भी व्यवसाय व उद्योग को प्रारम्भ करने सम्बन्धी विभिन्न संवर्द्धन कार्यों का निष्पादन किया जाता है। वे युक्ति निर्धारण, उद्देश्य निर्धारण, व्यावसायिक अवसरों की पहचान करने, संसाधनों की प्राप्ति, इनका कुशल उपयोग एवं परियोजना निर्माण तथा क्रियान्वयन सम्बन्धी औपचारिकताओं आदि कार्यो को पूरा करते हैं। अतः संवर्द्धन सम्बन्धी भूमिका, जो प्रबन्ध का मूल आधार है, के कारण उद्यमिता का स्तर व स्वरूप संवर्द्धनकारी बन जाता है।

2. **नैत्यक उद्यमिता :** नैत्यक उद्यमिता मूलतः प्रबन्ध व संचालन से ही सम्बन्धित रही हैं इसमें उद्यमी व्यवसाय की युक्तियों, उद्देश्यों व कार्यक्रमों

की रचना करने के साथ इनके समुचित क्रियान्वयन की दैनिक व सामयिक व्यवस्था भी करते हैं। इसमें उद्यमियों द्वारा प्रबन्धकों के दैनिक कार्यों में सहयोग व सहभागिता प्रदान की जाती है।

3. **क्रियात्मक उद्यमिता :** प्रबन्धशैली के इस प्रकार में प्रबन्धकीय कार्यों को एकीकृत व क्रियात्मक आधार पर सम्पादित करने पर बल दिया जाता है। आज भी जब उद्यमी वर्ग प्रबन्धकों के साथ सहयोग करते हैं या उन्हें स्वयं ही सम्पूर्ण उपक्रम का संचालन करना होता है तो वे प्रबन्धकीय कार्यों को एकीकृत करते हुए इनके क्रियान्वयन की पृष्ठभूमि का निर्धारण करते हैं। अतः उद्यमियों द्वारा जब क्रियात्मक प्रबन्ध के दृष्टिकोणों व विचारों को समाहित करते हुए कार्य किया जाता है तब यह क्रियात्मक उद्यमिता कहलाती है।

4. **व्यावहारवादी उद्यमिता :** किसी भी उपक्रम के कार्य निष्पादन की श्रेष्ठता व्यवहारवाद पर आधारित होती है। उद्यमियों द्वारा उपनी औद्योगिक क्रियाओं में जब कार्य विभाजन, अनौपचारिक समूहों का निर्माण, मानवीय सम्बन्धों को बढ़ावा देने, युक्ति निर्धारण में श्रम सहभागिता जैसे विभिन्न विचारों को अपनाया जाता है, तब उसे व्यवहारवादी विज्ञान पर आधारित उद्यमिता की संज्ञा दी जाती है।

II. स्वामित्व के आधार पर : स्वामित्व का प्रमुख आधार पूँजी होती है अतः उद्यमिता के इस प्रकार को हम अग्रलिखित ढंग से विश्लेषित कर सकते हैं-

1. **व्यक्तिगत उद्यमिता :** जब व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार पर कोई व्यक्ति अपनी निजी पूंजी द्वारा व्यवसाय के संवर्द्धन व संचालन सम्बन्धी कार्य करते हुए विभिन्न साहसिक कार्यों को करते हैं तब इसे व्यक्तिगत या निजी उद्यमिता की संज्ञा दी जाती है। ऐसे निजी उद्यमी व्यक्तिगत लाभ अर्जित करने की आशा से स्वयं ही जोखिम उठाते हुए व्यावसायिक कार्य परिणामों के दायित्वों को वहन करते हैं। पूंजीवादी देशों में निजी साहस के उद्भव के कारण ही निजी व्यवसाय का अत्यधिक विकास एवं विस्तार हुआ है।

2. **साझेदारी व्यवसाय :** कुछ व्यक्ति जब साझेदारी फर्म की स्थापना कर

उसके व्यवसाय के लिए साहसिक कार्य करते हुए जोखिमों का सामना करते हैं तो यह साझेदारी व्यवसाय से सम्बन्धित उद्यमिता मानी जाती है। ऐसे साझेदारों में पूँजी स्वामित्व के अधिकार व दायित्व संलेखों द्वारा निर्धारित किये जाते हैं।

3. **सार्वजनिक उद्यमिता :** जब सरकार किसी उपक्रम में जन कल्याण कार्यों के लिए पूंजी नियोजित कर प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप उद्यमिता सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करती है तब इसे सार्वजनिक उद्यमिता की संज्ञा दी जाती है।

4. **संयुक्त उद्यमिता ;** यह उद्यमिता निजी स्वामित्व एवं सार्वजनिक स्वामित्व का एक संयुक्त रूप है। इसमें निजी क्षेत्र के उद्यमी सार्वजनिक क्षेत्र के साथ मिलकर एक निश्चित अनुपात में धन का विनियोजन करते हैं। ऐसी उद्यमिता में सरकारी या सार्वजनिक क्षेत्र की विशेष भूमिका पायी जाती है। हमारे देश में पिछड़े क्षेत्रों के औद्योगिक विकास करने, तथा नये उद्यमियों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से संयुक्त उद्यमिता को अंगीकार किया गया है।

5. **सहकारी उद्यमिता :** सरकारी उद्यमिता के अन्तर्गत विभिन्न व्यक्ति मिलकर सहकारिता के आधार पर व्यवसाय का संवर्द्धन नवाचार, संचालन, जोखिम वहन एवं विकास सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करते हैं। हमारे देश मे सहकारी उद्यमिता के अन्तर्गत, डेयरी उद्योग, हथकरघा व विभिन्न कुटीर व लघु उद्योग सम्मिलित किये जाते हैं।

III. स्थानिक प्रवृत्तियों के आधार पर : उद्यमियों द्वारा जब किसी स्थान विशेष की महत्ता तथा उपयोगिता को ध्यान में रखकर उद्यमशीलता को बढ़ावा दिया जाता है तब यह स्थानीय प्रवृत्तियों पर आधारित उद्यमिता कही जाती है। इसके अग्रलिखित स्वरूपों का अध्ययन किया जा सकता है-

1. **केन्द्रीयकृत उद्यमिता :** जब अधिकांश उद्यमी अपने उपक्रम की कुछ विशिष्ट सुविधाओं व कारणों से एक ही स्थान या क्षेत्र में स्थापित होने की प्रवृत्ति रखते हैं तब इसे केन्द्रीयकृत उद्यमिता की संज्ञा दी जाती है। इन सुविधाओं में कच्चे माल की उपलब्धता, उपयुक्त वातावरण, वाणिज्यिक सुविधाएँ तथा अन्य आधार मूल सेवाओं की प्राप्ति आदि को सम्मिलित किया जा सकता है

2. **विकेन्द्रीयकृत उद्यमिता** : जब उद्यमियों द्वारा अपने प्रत्यक्ष और परोक्ष कारणों से देश के विभिन्न भागों में अपने उपक्रमों की स्थापना करने व उन्हीं क्षेत्रों में उद्यमीय कार्यों को बढ़ावा देने का कार्य किया जाता है, तब यह विकेन्द्रीयकृत उद्यमिता मानी जाती है। इस सम्बन्ध में सरकार अपने नियोजित आर्थिक विकास के अन्तर्गत पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक विकास व धन के समान वितरण के प्रयास कर रही है। ऐसी उद्यमिता के मुख्य उद्देश्य नियोजित विकास करना, पिछड़े क्षेत्रों का विकास करना, रोजगार सृजन करना तथा धन का समान वितरण आदि हो सकते हैं।

3. **ग्रामीण उद्यमिता :** जब विभिन्न व्यावसायी व उद्यमी अपने कार्यों को ग्रामीण क्षेत्रों में सम्पन्न करते हैं, तो वह ग्रामीण उद्यमिता कहलाती है। इस उद्यमिता से सम्बद्ध प्रवृत्तियों में ग्रामीण विकास के बुनियादी आधारों में औद्योगिक कार्यों की सम्भावनाओं को देखने का प्रयास करती है।

4. **शहरी उद्यमिता :** जब विभिन्न उद्यमी शहरी क्षेत्रों व बड़े-बड़े नगरों में औद्योगिक विकास के ध्येय से उद्यमीय कार्यों का निष्पादन करते हुए उद्यमीय प्रवृत्तियों को बढ़ावा देते हैं, तो यह शहरी उद्यमिता कहलाती है।

IV. औद्योगिक विकास के अनुसार : किसी भी स्थान या समय विशेष में जहाँ औद्योगिक विकास के भिन्न चरणों के अन्तर्गत उद्यमीय प्रवृत्तियों का विकास होता है तब यह औद्योगिक विकास की अवस्थाओं के अनुरूप समझी जाती है। इन्हें अग्रलिखित स्वरूप में वर्गीकृत किया जा सकता है :

1. **परम्परागत उद्यमिता :** जब किसी व्यापारिक इकाइयों के समूहों में उद्यमीय कार्य प्राचीनतम विचारों व विधियों द्वारा सम्पादित किये जाते हैं, एवं सम्पूर्ण कार्यों की गति अत्यन्त मन्द होती है तब यह परम्परागत उद्यमिता समझी जाती है। इसके अन्तर्गत व्यक्तियों द्वारा विकास की गति में विश्वास रखते हुए छोटे समूहों द्वारा कुटीर व्यवसाय करने, पारिवारिक स्तर पर श्रम प्रधान कार्यों को प्रमुखता देने, नवाचार व शोध कार्यों को प्रमुखता न देने व परिवर्तन की गति के शिथिल होने आदि उद्यमिता से सम्बन्धित प्रत्यक्ष व परोक्ष उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

2. **विकासोन्मुख उद्यमिता :** जब औद्योगिक उपक्रम परम्परागत अवस्था से हटकर विकास की नई दशाओं के साथ उद्यमीय विचार प्रकट होकर

औद्योगिक विकास की गति के साथ कदम से कदम मिला देते हैं तो यह विकासात्मक उद्यमिता कहलाती है। ऐसे उद्यमी विकास की स्वाभाविक गति के साथ समन्वय स्थापित करते हुए जोखिम व अनिश्चितताओं को वहन करने का प्रयास करते हैं परन्तु शोध व विकास पर इनका कोई ध्यान नहीं जाता।

3. **आधुनिक उद्यमिता :** जब उद्यमी व्यवसाय की प्राचीनतम विधियों को छोड़कर नई विधियों, जोखिमों, योजनाओं, प्रवृत्तियों व उपक्रम के विस्तार व विकास की गति अपनाने का प्रयास करते हैं तो उसे आधुनिक उद्यमिता की संज्ञा दी जाती है। उत्पादन की कुछ प्रणालियों, जिनमें प्रमापीकरण, श्रम विभाजन, विशिष्टकरण, श्रम बचाने वाले साधनों आदि प्रमुख हैं, को आधुनिक उद्यमिता के लिए समुचित प्रक्रियाओं व सम्भावनाओं के आधार रूप में प्रयुक्त किया जाता है। लगभग सभी विकसित देशों ने अपनी रचनात्मक उद्यमशीलता के बल पर ही अपने यहाँ औद्योगिक विकास की दिशा निर्धारित करने में सफलता प्राप्त की है।

V. व्यावसायिक निर्णयों के आधार पर : व्यवसायिक निर्णयों के आधार पर उद्यमिता को निम्न भागों में विभक्त किया जा सकता है :

1. **व्यापारिक उद्यमिता :** व्यापारिक उद्यमिता के अन्तर्गत उद्यमीय कार्यों व प्रवृत्तियों के साथ व्यावसायिक क्रियाओं जैसे उत्पाद व सेवाओं के लेन-देन, क्रय, विक्रय, माल की सुपुर्दगी आदि कार्य का भी विकास किया जाता है। इसमें उद्यमी मांग का पूर्वानुमान कर बाजार शोध का कार्य करते हैं और नये बाजार में अपने उत्पाद व सेवाओं के विक्रय विकास हेतु सभी आवश्यक प्रयास करते हैं।

2. **औद्योगिक उद्यमिता :** जिन उद्यमशील प्रवृत्तियों के साथ उत्पादन व निर्माण क्रियाओं का संचालन विकास व विस्तार किया जाता है तो यह औद्योगिक उद्यमिता कहलाती है। ऐसी उद्यमिता से उत्पादन का विस्तार होता है, नये रोजगार सृजन होते हैं तथा नयी तकनीकी प्रणालियों का विकास होता है। इस प्रकार औद्योगिक उद्यमिता औद्योगीकरण की अवस्थाओं को विकास का नया मार्ग प्रदान करती है।

3. **सेवा उद्यमिता :** आज सामाजिक व आर्थिक वातावरण में सेवा उद्यमिता का विस्तार होता जा रहा है। ऐसी उद्यमिता में सेवा सम्बन्धी प्रकल्पों के साथ उद्यमशील व्यवहारों का भी उपयोग किया जाता है। व्यावसायिक क्षेत्रों में वित्त, बैंक, बीमा, संचार, पर्यटन आदि क्रियाओं में सेवा उद्यमिता का निरन्तर विस्तार हो रहा है। इनमें अनेक व्यक्ति प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में उद्यमीय क्रियाओं का निर्वहन कर रहे हैं।

4. **कृषि उद्यमिता :** कृषि उद्यमिता के अन्तर्गत कृषि आधारित औद्योगिक क्रियाओं का विस्तार किया जाता है। इसके अन्तर्गत कृषि सम्बन्धी क्रियाओं में उद्यमशील प्रवृत्तियों व व्यवहारों को सम्मिलित किया जाता है। इसमें डेयरी पशुपालन, बागान कृषि, फल उद्यान कृषि आदि में सम्मिलित किया जाता है।

VI. आकार के आधार पर : किसी भी औद्योगिक इकाई के आधार के निर्माण में उत्पादन विनियमय एवं बाजार से सम्बन्धित अनेक कारण उत्तरदायी होते हैं। उन्हीं कारणों पर उद्यमिता का स्वरूप भी निर्धारित होता है। अतः आकार के आधार पर उद्यमिता को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है -

1. **लघु उद्यमिता :** लघु आकार वाली इकाइयों में जहाँ पूंजी विनियोजन अपेक्षाकृत कम होता है, श्रमिकों की संख्या सीमित होती है, घरेलू स्तर पर उत्पादन कार्य किया जाता है तथा निजी स्वामित्व पाया जाता है, लघु उद्यमिता कहलाती है। लघु उद्यमिता की विशेषताएँ निम्न हैं -

    1. अपने श्रम प्रधान प्रवृत्तियों के कारण रोजगार के नये अवसरों का सृजन सम्भव होता है।
    2. लघु इकाइयों के कारण विकेन्द्रीकरण, स्थानीय संसाधनों के सदुपयोग व आत्मनिर्भरता को बढ़ावा मिलता है।
    3. ग्रामीण अर्थव्यवस्था में विकास के नये अवसर लघु व कुटीर व्यवसाय के विकास के कारण प्राप्त होते हैं।

2. **मध्यम उद्यमिता :** उद्यमिता का यह स्वरूप पूर्णतः लघु उद्यमिता का ही विकसित स्वरूप है। जिन इकाइयों में श्रम प्रधानता, अल्प तकनीकी संसाधन, क्रियाओं का समूहीकरण, विशिष्टकरण, सेवा क्षेत्र सम्बन्धी

कार्यों का समावेश, पेशेवर क्रियाओं का प्रादुर्भाव एवं श्रेष्ठ उपभोक्ता सम्बन्धों की होड़ होती है, प्रायः इसे ही मध्यम उद्यमिता की संज्ञा दी जाती है।

3. **वृहत उद्यमिता :** लघु व मध्यम उद्यमिता के विपरीत जब किसी भी व्यवसाय में उत्पादन प्रणाली का जटिल होना, उत्पादन की अधिक मात्रा, आधुनिकीकरण व मशीनीकरण, अत्यधिक श्रमिकों का होना, बढ़े स्तर पर पूंजी विनियोजन के होने तथा उपक्रम के वृहत आकार के होने के साथ उद्यमिता की क्रियाएँ एवं उपक्रियाएँ व्यापक व विस्तृत होने लगती है तब इसे वृहत उद्यमिता की संज्ञा दी जाती है। वृहत उद्यमिता के आधार पर विभिन्न प्रकार के आधारभूत उद्योगों को सम्मिलित किया जाता है, जैसे लोहा व इस्पात, इंजीनियरिंग, रसायन, विद्युत उपकरण, सीमेन्ट एवं कोयला आदि।

VII. नेतृत्व के आधार पर : उद्यमिता नेतृत्व प्रदान करने के एक विशिष्ट गुण का परिचायक है। नेतृत्व के आधार पर उद्यमिता के दो स्वरूपों का निरूपण कर सकते हैं-

1. **वैयक्तिक उद्यमिता :** वैयक्तिक उद्यमिता के अन्तर्गत किसी संस्था की प्रबन्ध व्यवस्था का सम्पूर्ण दायित्व एक ही व्यक्ति द्वारा पूर्ण किया जाता है। उद्यमी अकेले ही समस्त उत्पादन व वितरण सम्बन्धी कार्यों का निर्णय लेकर संचालकीय निर्देशन भी प्रदान करते हैं। इस दशा में स्वामित्व व प्रबन्ध एक ही व्यक्ति के पास होता है, वही सम्पूर्ण संस्था को नेतृत्व प्रदान करता है। ये प्रायः लघु उद्योगों की विशेषता है।

2. **समूह उद्यमिता :** ऐसी उद्यमिता प्रवर्तन की समस्याओं, श्रम विभाजन, यन्त्रीकरण, वृहत स्तरीय उत्पादन एवं व्यावसायिक जटिलताओं के कारकों द्वारा सामने आती है। इसमें उद्यमी एक समूह को आवश्यक निर्देशन व नेतृत्व प्रदान करते हैं और कभी-कभी नेतृत्व एक व्यक्ति से कुछ तकनीकी या विशेषज्ञों के एक संगठित समूह में हस्तान्तरित हो जाता है। ऐसे विशेषज्ञ प्रायः उपक्रम के स्वामी नहीं होते हैं। ये व्यक्ति समूह में रहकर आचरणों को बढ़ावा देने के साथ कुशल व संगठित तकनीकी संरचना का भी निर्माण करते हैं।

उद्यमिता के विभिन्न प्रकार

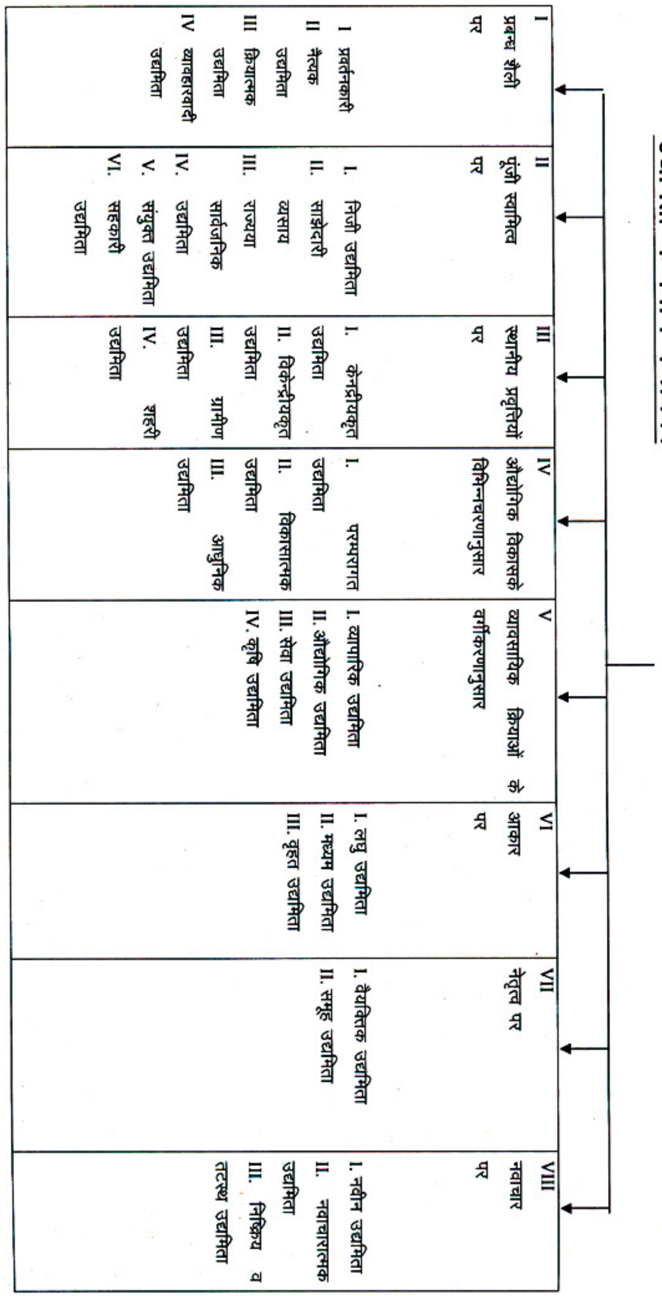

VIII. नवाचार के आधार पर : नवाचार के आधार पर उद्यमिता को इस प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है:-

1. **नवीन उद्यमिता :** इस उद्यमिता के अन्तर्गत उद्यमियों द्वारा नवीन विचारों, दृष्टिकोणों, विचारधाराओं, मान्यताओं एवं तकनीकों को काम में लाया जाता है। इसका तात्पर्य है कि उद्यमी नवाचार को आधार बना कर नयी उद्यमीय प्रवृत्तियों को बढ़ावा देता है।

2. **नवाचारात्मक उद्यमिता :** नवीन एवं नवाचारात्मक उद्यमिता में विशेष अन्तर नहीं है। नवाचारात्मक उद्यमिता में नयी प्रणालियों, नये उपायों, नये सिद्धान्तों आदि के बारे में विश्लेषण करना, जाँच करना, परीक्षण करना तथा वर्तमान व भावी सम्भावनाओं के बारे में अध्ययन करना शामिल है। यह एक प्रयोगात्मक प्रक्रिया का द्योतक है। इसमें अनेक तकनीकों जैसे श्रम व समय बचाने वाले उपायों, नयी उत्पादन तकनीक का प्रस्तुतिकरण, कच्चेमाल के नये स्त्रोतों का उपयोग एवं लागत कम करने वाले उपायों की खोज व उपादेयता का परीक्षण करना शामिल होता है।

3. **निष्क्रिय व तटस्थ उद्यमिता :** ऐसी उद्यमिता के अन्तर्गत उद्यमियों द्वारा अपने व्यवसायिक क्षेत्रों में किसी भी प्रकार का संशोधन एवं नवाचार नहीं अपनाया जाता है। उनकी रूचि व आकांक्षाओं के प्रति वे उदासीन होते हैं, भले ही अन्य उद्यमीयों लाभ क्यों न प्राप्त हो रहे हों।

1.5 सफलता के मंत्र

वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था में उदारीकरण, निजीकरण, तथा भूमण्डलीकरण की परिवर्तित स्थितियों में विकास के नये आयाम विकसित होते जा रहे हैं। इससे एक ओर उद्यमिता के विकास की नई सम्भावनाएं विकसित हो रही हैं, वहीं दूसरी ओर उद्यमिता के सन्दर्भ में अनेक समस्याएँ व चुनौतियाँ सामने आ रही हैं। अतः आधुनिक परिप्रेक्ष्य में, सन्तुलित औद्योगिक विकास एवं उद्यमिता की सफलता के लिए निम्नलिखित उपायों को अपनाना इसकी सफलता के लिये आवश्यक होता जा रहा है-

1. उद्यमिता की सफलता के लिये उद्यमियों को अपने व्यक्तित्व विकास पर पूरा ध्यान देना चाहिये। उन्हें अपनी सम्पूर्ण कार्य निष्पादन क्षमता, कौशलता व अभिरूचि में विस्तार व सुधार करने का प्रयास करते रहना चाहिए।

2. औद्योगिक इकाइयों में उद्यमियों द्वारा श्रेष्ठ कार्य निपटारे हेतु गुणवत्ता प्रबन्धन की नीतियों, उपायों, सिद्धान्तों एवं प्रक्रियाओं को अपनाया जाना चाहिए।
3. उद्यमियों द्वारा अपने निर्माणी क्षेत्र में उत्पादन की किस्म, टिकाऊपन डिजाइन, आकार व अन्य गुणवत्ता से सम्बन्धित मानक स्तरों के प्रावधानों का यथासम्भव पालन किया जाना चाहिए।
4. उद्यमियों को संस्था की नयी परियोजना की व्यापक सम्भावनाओं पर पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। उन्हें तैयार की जाने वाली व चालू परियोजनाओं के पहलुओं का तकनीकी रूप में भली प्रकार अध्ययन करना चाहिए। इससे संस्था की योजनाओं के क्रियान्वयन व प्रबन्धन तथा संचालन व्यवस्था में सुधार किया जा सकता है।
5. उपक्रम में व्यक्ति और समूह के मध्य श्रेष्ठ व यथार्थ संगठनात्मक संरचना एवं सम्बन्धों की स्थापना की जाये। ऐसे सम्बन्ध कार्य, अधिकारों व उत्तरदायित्वों से परिपूर्ण होते हैं।
6. उद्यमियों की नेतृत्व क्षमता में गुणात्मक सुधार किया जाना चाहिए। नेतृत्व के पहलुओं में नियोजन निर्माण, पहलपन, सहभागिता, निर्णयन की प्रभावी प्रक्रिया, अधिकार व दायित्वों, सामन्जस्यता व समुचित निर्देशन आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।
7. उद्यमियों के कार्यों व व्यवहार को प्रभावित करने वाले विभिन्न वातावरणीय कारकों का यथासम्भव विश्लेषण व निरन्तर मूल्यांकन किया जाये। इनकी प्रभावशीलता व अनुकूल व प्रतिकूल प्रभावों का मूल्यांकन भी किया जाये ताकि इनके साथ सामन्जस्यता व दीर्घ स्तरीय सम्बन्ध स्थापित किये जा सकें।
8. संस्था के बाजार विस्तार पर प्रतिस्पर्धात्मक क्षमताओं को उन्नत बनाने के लिए श्रेष्ठ व उपयोगी विपणन रचनाओं का निर्धारण व क्रियान्वयन किया जाना चाहिए।
9. उद्यमियों द्वारा अपने उपक्रम के साथ प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सम्बन्ध स्थापित करने वाले सभी बाह्य संस्थाओं के साथ सहयोग, समन्वय, सद्व्यवहार व एकात्मकता से पूर्ण व्यवहारों को विकसित करना चाहिए।

1.6 उद्यमिता की विचारधाराएँ तथा अवधारणाएँ

उद्यमिता उद्भव के लम्बे कार्यकाल में अनेक चिन्तकों ने इसके विकास सम्बन्धी अनेक विचार तथा विचारधारायें प्रतिपादित की है। अध्ययन की सुविधा हेतु हम उद्यमिता विकास यात्रा को अग्रलिखित चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं -

1. **मनोवैज्ञानिक विचारधारा -** यह विचारधारा इस तथ्य पर आधारित है कि हमारे समाज में कुछ मनोवैज्ञानिक विचार एवं गुणों वाले मनुष्यों के कार्यों एवं निर्णयों के कारण उद्यमीय प्रवृत्तियों का विकास होता है। मनुष्यों के विचार तथा व्यक्तिगत सम्बन्धी गुणवत्ता ही मनोवैज्ञानिक तत्वों को प्रेरित व विश्लेषित कर उद्यमिता लक्षणों के विकास में सहायक सिद्ध होती हैं। आइये इस विचारधारा की कुछ प्रमुख मान्यताओं का विश्लेषण कर समझने का प्रयास करें-

- इस विचारधारा में मनुष्य अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और आवश्यक तथ्यों से प्रेरित होकर कार्य करने की भावनाओं को जन्म देता है।
- जब मनुष्यों में उच्च श्रेणी की उपलब्धता प्राप्त करने इच्छा व आकांक्षा जाग्रत होती है तब उनमें उद्यमशीलता के गुणों का विकास सम्भव होता है।
- कुछ मनुष्य सदैव कुछ न कुछ नया समाज को देना चाहते हैं जिससे उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हो, ये उद्यमशीलता को जल्दी प्राप्त करते हैं।
- इनमें ऐसा अन्तर्ज्ञान निहित होता है जो भविष्योन्मुख होकर अनिश्चितता को निश्चितता में रूपान्तरित करने को तैयार होते हैं।
- इनमें अभिप्रेरण की विवेकशील विचारधाराओं को अपनाने की इच्छा जाग्रत होती है।

2. **समाजशास्त्रीय विचारधारा -** इस विचारधारा का आधार व्यक्तिगत सामाजिक एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत सम्पन्न और प्रभावित होता है। समाजशास्त्रीय विचारधारा के अन्तर्गत व्यक्ति से समाज की अपेक्षाएँ सामाजिक मूल्य, परम्परा जीवन शैली, सामाजिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि सामाजिक मान्यताएं आदि सभी को सामाजिक पृष्ठभूमि में सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार उद्यमी समाज का आदर्श व्यक्ति माना जाता है, सामाजिक मूल्य ही उसके व्यवहार तथा उसकी भूमिका

की अपेक्षाओं को निश्चित करते हैं। आइये इस विचारधारा की कुछ मान्यताओं का विश्लेषण कर समझने का प्रयास करें-

- किसी संगठन में व्यक्ति एवं समाज को मान्यता मिलनी चाहिए।
- उद्यमियों के लिये समाज में विभिन्न व्यवसायिक क्रियाओं व सुअवसरों की उपलब्धता पायी जाती है।
- सामाजिक मूल्यों, परम्पराओं व सम्बन्धों में लोचशीलता उद्यमिता विकास में सहभागी एवं प्रभावी सिद्ध होती है।
- विभिन्न सामाजिक पृष्ठभूमियों, धर्मशास्त्रों के विचारों में सधमिता विकास पर गहरा एवं सीधा प्रभाव पड़ता है।
- उद्यमिता विकास में सांस्कृतिक मूल्यों व सामाजिक मान्यताओं का व्यापक प्रभाव पड़ता है।
- वैयक्तिक व सामाजिक अवसरों द्वारा उद्यमिक प्रवृत्तियों के लिए दशाओं का सृजन किया जाना सम्भव होता है।
- जब व्यक्ति उपेक्षित शोषित उदासीन व विघटित पृष्ठभूमि से जुड़ा हुआ होता है तब उसके सृजनशीलता सम्बन्धी छुपे हुए गुण नवाचार की तरफ बढ़ सकते हैं जिससे उद्यमिता का विकास होता है।

3. **आर्थिक विचारधारा :-** यह विचारधारा इस आधार पर आधारित है कि उद्यमिता की उत्पत्ति उपर्युक्त आर्थिक परिस्थितियों पर आधारित होती है। इस विचारधारा के अनुसार कोई भी मनुष्य उद्यमिता की स्वीकार्यता हेतु तभी समन्वित प्रयास करेगा जब उसे उत्पादक संसाधनों का समुचित मूल्य लाभार्जन तथा उत्पादन बढ़ाने के उपयोगी अवसर निरन्तर मिलते रहें। इस प्रकार जब आर्थिक परिस्थितियाँ, अनिश्चितताओं व जोखिमों को वहन करती हुई लाभ कमाने योग्य होती हैं तभी उद्यमिता का विकास सम्भव हो पाता है। वस्तुतः आर्थिक कारक ही उद्यमिता का केन्द्र बिन्दु होते हैं। अतः उद्यमिता विकास तथा उद्भव के लिए पर्याप्त एवं अनुकूल आर्थिक कारकों का होना आवश्यक है। आर्थिक विचार की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार से हैं-

- उत्पादन के संसाधनों का कुशलता से उपयोग किये जाने से उत्पादन में वृद्धि सम्भव होती है।

- संसाधनों की उपलब्धता व अनुकूलतम उपयोग की जानकारी में कमी या ज्ञान के अभाव को दूर करने हेतु उद्यमिता विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।
- साहसिक प्रत्युत्तर की समुचित पूर्णता बाजार अवसरों पर निर्भर करती है।
- इसके अन्तर्गत आर्थिक वातावरण को पहचानने व विश्लेषण करने की पर्याप्त योग्यता का विकास होता है।
- इसके बाजार वातावरण के अनुरूप शीघ्र व युक्तिपूर्ण निर्णय करने की योग्यता का विकास होता है।

4. **एकीकृत विचारधारा -** व्यवसायिक क्षेत्रों में उद्यमिता के विकास की वर्तमान दशाएँ व प्रवृत्तियाँ अपने व्यापक रूप में प्रकट हो रही हैं। वर्तमान में उद्यमिता विकास की विचारधाराएं एकीकृत दृष्टिकोणों को आधार बना रही हैं। इस विचारधारा में वे सभी तत्व सम्मिलित किये जाते हैं जो किसी न किसी रूप में इसके विकास व जन्म में सहायक सिद्ध होती हैं। इस प्रकार उद्यमिता की एकीकृत विचारधारा में अग्रलिखित कारकों के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्षों पर वैचारिक चिन्तन को शामिल किया जाता है-

- व्यक्तिगत कारक
- मनोवैज्ञानिक कारक
- सामाजिक कारक
- आर्थिक कारक
- पर्यावरण सम्बन्धी कारक

उपरोक्त विचारधाराओं के अध्यनोपरान्त आइये कुछ सामान्य अवधारणाओं को आत्मसात् करने का प्रयास करें-

उद्यमिता की अवधारणा नवीन नहीं है, इसका प्रारम्भ कई शताब्दियों पूर्व ही हो गया था। विश्व की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं व आर्थिक प्रणालियों से प्रभावित होकर उद्यमिता की अवधारणाएं, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक मूल्यों से भी प्रभावित हुई है। प्रायः उद्यमिता की प्रमुख अवधारणाओं को हम निम्न रूप से व्याख्या कर सकते हैं-

1. **नवाचार की अवधारणा -** विद्वानों ने उद्यमिता में नवाचार को योग्यता के रूप में जोड़ते हुये कहा है कि अर्थव्यवस्था में साहसी वही व्यक्ति है

जो कि व्यवसाय में नये उत्पाद किस्म, उत्पादन प्रणाली, तकनीक व बाजार की खोज कर उनसे व्यावसायिक सृजनशीलता द्वारा लाभ उत्पन्न करता है। उद्यमिता में व्याप्त सृजनशीलता, गतिशीलता व रचनात्मकता ही उसकी नवाचार की क्षमता की द्योतक है। इसी को उद्यमिता की आधुनिक व मौलिक अवधारणा की मान्यता दी गई है।

2. **सामाजिक अवधारणा -** यह अवधारणा सामाजिक जीवन की पृष्ठभूमि रूपी स्त्रोत पर आधारित है। उद्यमिता सामाजिक जीवन से प्रभावित होते हुए अपनी गुणवत्ता व भूमिका से सामाजिक योग्यता जीवन के मूल्यों पर प्रभावी छाप डालती है। अतः उद्यमिता का मूल स्त्रोत सामाजिक दृष्टिकोण है जिससे यह सिद्ध होता है कि सामाजिक जीवन मूल्यों को नयी दिशा देने में भी उद्यमिता की प्रभावी भूमिका रही है।

3. **उच्च विकास उपलब्धि -** मूलतः व्यवसाय में लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयासों में उपलब्धि विकास का सर्वोच्च स्तर पर प्राप्त करना ही उद्यमिता का सांकेतिक रूप है। विद्वानों के अनुसार उद्यमिता का तात्पर्य किसी को भी नये रूप को कुशलता से पूरा करने एवं अनिश्चितता में किसी निर्णय को लेते हुए कार्य करना है। उनका मत था कि जो व्यक्ति उपलब्धि विकास की उच्च आकांक्षा रखते हैं उनमें उद्यमिता उच्च स्तर की पायी जाती है। प्रायः यह विचार परिणामोन्मुखी दृष्टिकोणों पर आधारित होती है, जिसमें कुछ परिणामों की प्राप्ति भी आवश्यक है। अतः उच्च विकास उपलब्धि कुछ परिणामों के साथ प्राप्त कर लेना ही उद्यमिता की परिचायक समझी जाती है।

4. **समूह स्तरीय अवधारणा -** उद्यमिता को वैयक्तिक योग्यता के रूप में स्वीकार न कर सामूहिक स्तर पर उत्पन्न 'प्रतिक्रियाशीलता' को प्रभावी परिणाम माना जाता है। यह इस विचार पर आधारित है कि उद्यमिता का विकास प्रतिक्रियावादी समूहों द्वारा उत्पन्न की गई प्रतिक्रिया व विभेदीकरण की मान्यताओं पर निर्भर होता है। वे उद्यमिता को सामाजिक व सांस्कृतिक रूपांतरण का कारण मानते हैं। यह भी मान्यता है कि उद्यमिता के समुचित विकास व उसकी पृष्ठभूमि को प्रभावी रूप देने के लिए समूह की भूमिका व महत्ता आवश्यक है। उद्यमिता को समूह एकात्मकता के संकेत के रूप में भी मान्यता प्रदान की गई है।

5. **नेतृत्वशाली अवधारणा -** उद्यमिता स्वयं ही कुशल नेतृत्व प्रदान करती रही है। उद्यमियों द्वारा अपने श्रेष्ठ व्यवहारों से उद्योग व समाज दोनों को समुचित नेतृत्व प्रदान किया जाता है। इस प्रकार उद्यमिता संस्था के संसाधनों का समुचित विकसित करने, मानवीय क्षमता का सही मूल्यांकन करके सृजनात्मक कार्यों को बढ़ावा देने एवं नवीन विचारों को समन्वित कर नेतृत्व करने का गुण है। उद्यमी का कार्य व्यवसाय व उद्योग को निर्देशित करते हुए मुख्य उद्देश्यों की प्राप्ति है। उद्यमी नवाचार के माध्यम से व्यापार व व्यवसाय की स्थापना, उसका संचालन करते हुए नेतृत्व प्रदान करता है। अतः उद्यमिता नेतृत्व अवधारणा से अभिभूत होकर आदर्श व निर्देशन प्रदान करने का एक आधार स्त्रोत है।

6. **जोखिम युक्त अवधारणा :** यह उद्यमिता की नितान्त मौलिक व सबसे प्राचीन अवधारणा कही जाती है। इसमें उद्यमिता की गुणवत्ता के लिए जोखिम उठाने की प्रवृत्ति का मूल आधार है। कुछ विद्वान तो इसे असीमित जोखिम उठाने वाला कार्य की संज्ञा देते। उनके अनुसार उद्यमिता जोखिम एवं अनिश्चिता वहन करने की योग्यता है। इस प्रकार यह अवधारणा उद्यमी को किसी भी नये उपक्रम की स्थापना हेतु, संसाधनों को एकत्रित करने का, इसका संचालन करने का, अनिश्चितताओं का सामना करने का तथा लाभार्जन क्रियाओं को प्राप्त करने आदि के लिये विभिन्न प्रकार की जोखिमें उठाने का गुण प्रदान करने की अवधारणा मानती है।

7. **प्रबन्धकीय अवधारणा :** विद्वानों के अनुसार उद्यमिता के लिए प्रबन्ध क्रिया की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वैसे भी उद्यमी वर्ग में प्रबन्धकीय योग्यता व क्षमता का होना आवश्यक माना जाता है। इस प्रकार प्रबन्धकीय एवं नेतृत्व कौशलता उद्यमिता के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं। उद्यमियों द्वारा अपनी प्रबन्धकीय क्षमताओं, योग्यताओं व कार्यों के आधार पर ही योजना बनाने, निर्माण कार्य करवाने, संसाधनों को प्राप्त कर उनका उपयोग करने, जोखिम उठाने व उपक्रम विस्तार सम्बन्धी कार्य करना सम्भव हो पाता है।

8. **पेशागत अवधारणा :** आधुनिक व्यवसाय में पेशेवर कार्यों की महत्ता तथा भूमिका बढ़ती जा रही है। व्यवसाय व प्रबन्ध विज्ञान में उद्यमशील को पेशेवर, क्रियाओं से युक्त होना व उद्यमिता तथा पेशेवर क्रियाओं में

अन्तर्सम्बद्धता योग्यता व क्षमा का ज्ञान शिक्षा व प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। अतः उद्यमिता पेशेवर क्रियाओं की पृष्ठभूमि व स्त्रोत बनती जा रही है।

9. **क्रियात्मक अवधारणा :** उद्यमिता से सम्बन्धित क्रियात्मक विचारधारा प्रबन्धकीय आयोजन एवं क्रियान्वयन सम्बन्धी दृष्टिकोणों व प्रक्रियाओं को सुनिश्चित करती है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि समस्त औद्योगिक क्रियाओं का प्रारम्भ उद्यमशील विचारों पर ही निर्भर रहता है। अतः उपक्रम की विभिन्न क्रियाओं का एकीकृत रूप में अध्ययन किया जाना चाहिए। ये उस प्रक्रिया का परिचायक है जिसमें उद्यमी व प्रबन्धक समन्वित मानवीय प्रयासों की सहायता से उपक्रम की उद्देश्यपूर्ण क्रियाओं का संयोजन, संगठन, समन्वय, निर्देशन अनुरक्षण तथा संचालन करने का प्रयास करते हैं।

10. **व्यवसायी अवधारणा :** व्यवसायिक दृष्टिकोणों के अनुरूप व्यवसाय में भी उद्यमियों की कुशलताएं अपना विशिष्ट स्थान रखती है। उद्यमियों का कार्य जहाँ उद्योगों की स्थापना, संचालन व उनका विकास का रहा है वहीं व्यावसायिक लक्ष्यों व प्रवृत्तियों के आधार पर व्यावसायिक अवसरों की तलाश व लाभार्जन क्षमता का विकास करना भी रहा है। इस प्रकार उद्यमिता व्यावसायिक अभिमुखी प्रवृत्तियों की ओर निरन्तर उन्मुख हो रही है।

11. **लचीली अवधारणा :** वर्तमान व्यवसाय व उद्योग के बदलते परिवेश में उद्यमिता की अवधारणा व्यापक लचीली दृष्टि से भी देखी जाती है। इस अवधारणा में उद्यमी अपनी भूमिकाओं को व्यापक व विभिन्न रूपों में स्वीकार कर अपने कार्यों के अनेक दृष्टिकोणों को आत्मसात् करता है। वह सभी पक्षों के प्रति लचीला सहयोगी सम्बन्ध रखकर व्यवसाय की सफलता सम्बन्धी कार्यों को करता है।

1.7 उद्यमिता का महत्व

जैसा कि हम अपनी चर्चा में देख चुके हैं कि उद्यमिता देश के सामाजिक व आर्थिक जीवन का एक महत्वपूर्ण आधार, तथा आर्थिक विकास का अनिवार्य अंग है। उद्यमिता को देश के औद्योगिक विकास एवं औद्योगिकरण की प्रक्रिया में मूल स्त्रोत के

रूप में पहचाना गया है। आधुनिक व्यावसायिक क्षेत्रों में उद्यमिता की भूमिका को तीन भागों में विभक्त कर अध्ययन करना उपर्युक्त होगा-

I. उद्यमियों से सम्बन्धित

II. संस्था के सम्बन्ध में

III. समाज व राष्ट्रीय अर्थव्यस्था में,

1. **उद्यमियों से सम्बन्धित :** उद्यमियों के लिये उद्यमिता की महत्ता का वर्णन अग्रलिखित पहलुओं पर किया जा सकता है-

1. उद्यमिता व्यक्तियों के अपने कार्य एवं व्यवहार में एक प्रेरक उपकरण के रूप में कार्य करती है। यह उद्यमियों का अपने व्यवसाय व कारोबार के लिए लाभप्रद अवसर प्राप्त करने हेतु नीतिगत, व्यावहारिक एवं कार्यात्मक मार्गदर्शन उपलब्ध करती है। अतः उद्यमिता उद्यमियों के लिए एक प्रेरक उपकरण माना जाता है।

2. उद्यमिता व्यक्तियों को वैयक्तिक एवं कार्य स्वतन्त्रता प्रदान करती है। वे व्यक्ति जो उद्यमिता को आधार बना अपना व्यवसाय व रोजगार स्वतन्त्र रूप में चलाना चाहते हैं उन्हें अपना अलग अस्तित्व व कार्य स्वतन्त्रता की प्राप्ति इसी के द्वारा सम्भव हो सकती है।

3. समाज में व्यक्ति विशेषतः उद्यमी वर्ग उद्यमिता को अपनी कार्य निष्ठा व रूचि को पूरा करने का माध्यम बनाना चाहते हैं। इस हेतु वे व्यवसाय करना भी प्रारम्भ कर देते हैं। परिणामतः व्यवसाय के साथ-साथ उनकी निष्ठा व रूचि भी विकसित होती चली जाती है।

4. उद्यमिता उद्यमियों को उनकी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने में महत्वपूर्ण दिशा देती है। उद्यमी अपने व्यक्तिगत व संस्थागत संसाधनों व अवसरों के माध्यम से अपनी महत्वकांक्षाओं को पूरा कर सकते हैं।

5. उद्यमिता द्वारा उन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का निरूपण किया जाता है जो उद्यमियों की संगठनात्मक क्षमता को उन्नत करने में सहायक सिद्ध होते हैं। उद्यमिता द्वारा उद्यमियों में नेतृत्व क्षमता, सहयोग की भावना, समूह भावना, उद्देश्यों की स्पष्ट व्याख्या, उचित संगठन संरचना का निर्माण, उच्च मनोबल जैसे गुणों का विकास सम्भव होता है जो संगठनात्मक क्षमता विस्तार में सहायक सिद्ध होता है।

6. उद्यमिता की प्रबन्ध अवधारणाएं बताती हैं कि प्रत्येक उद्यमी द्वारा अपने अधीनस्थों को उनके द्वारा की जाने वाली क्रियाओं के निष्पादन के लिए उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहिये। इससे उनमें मौलिक सृजनता व श्रेष्ठ कार्य निष्पादन की क्षमता का विस्तार सम्भव हो पाता है।

7. उद्यमिता की कौशलता अपनाने से समाज के अनेक व्यक्ति विशेषतः लघु व्यवसायी व उद्यमी स्वावलम्बन की ओर अग्रसर हो जाते हैं। वे व्यवसाय व कारोबार के सभी काम स्वयं ही करना उपयोगी मानते हैं और अपनी आवश्यकता पूर्ति हेतु दूसरों पर निर्भर नहीं रहना चाहते।

8. उद्यमिता द्वारा व्यक्ति किसी भी व्यवसाय में अनिश्चितताओं का सामना करने, जोखिमों को वहन करने व अनेकानेक आकस्मिकताओं का सामना करने को तत्पर रहते हैं। जो व्यक्ति इन स्थितियों का जितना अधिक सामना कर सफलता प्राप्त करता है उसे लाभार्जन क्षमता में वृद्धि के अवसर उतने ही अधिक प्राप्त होते हैं। अतः उद्यमिता व्यक्तियों में भाग्य रचना के अवसरों को बढ़ावा देती है।

9. उद्यमिता भिन्न कार्य के अवसर प्रदान करती है इससे उनकी अलग पहचान व ख्याति विकसित हो जाती है। यह उद्यमीय व्यवहारों को नया रूप व आधार प्रदान करती है।

10. उद्यमिता द्वारा व्यक्तियों की कार्य क्षमता व कौशलता के निर्णय व इनके पूर्ण उपयोग के अवसर सुलभ हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी स्वयं की या निजी संस्था में क्षमता विकास व कौशल को पूर्ण उपयोग के अवसर सुलभ किया जाना सम्भव हो जाता है।

II. संस्था के सम्बन्ध में : किसी संस्था व उपक्रम के लिए उद्यमिता की महत्ता निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता हैः-

1. उद्यमिता व्यवसाय के मूल कार्यों में मार्गदर्शन, सहयोग व समन्वय की स्थापना में सहायक सिद्ध होती है। यह व्यावसायिक समस्याओं के निदान में भी अहम् भूमिका निभाने का कार्य करती है। अतः उद्यमिता व्यवसाय का स्त्रोत कहलाती है।

2. उद्यमिता द्वारा प्रदत्त नीतिगत संचालन के आधारों द्वारा उद्यमियों का संसाधनों को एकत्रित करना सम्भव हो जाता है। उद्यमिता की कुशलता

संसाधनों की प्राप्ति व उनका सामाजिक हितों में उपयोग प्रक्रिया को प्रकट करती है।

3. उद्यमिता के नये पहलुओं व आयामों के अन्तर्गत उद्यमियों द्वारा नयी तकनीकों व प्रणालियों का अपनाया जाना सम्भव हो पाता है। इसमें उत्पादन की गुणात्मक श्रेष्ठता का स्तर बढ़ता है जो उपक्रम के लिए लाभदायी सिद्ध हो सकता है।

4. उद्यमिता के माध्यम से उन नवीन तकनीकी को स्वीकार किया जाता है जो उत्पाद विकास व उत्पाद शोध को बढ़ावा दे। अतः इनमें नवीन उत्पादों का उत्पादन किया जाना सम्भव हो पाता है। जो उपक्रम को तकनीकी विकास एवं बाजार विस्तार में नये अवसरों का मार्ग प्रशस्त करती है।

5. उद्यमिता द्वारा ऐसी तकनीकों व विधियों का विकास किया जाता है जिसके माध्यम से उपक्रम अपनी संस्थापित क्षमता का निर्धारण कर उसका अनुकूल उपयोग कर सकता है चूंकि उद्यमिता औद्योगिक विकास का आधार है अतः मूलतः यह ऐसी प्रक्रिया व संरचना का निर्माण भी करती है जो संस्थापित क्षमता के पूर्ण उपयोग में सहायक सिद्ध हो सके।

6. उद्यमिता व्यवसाय के विकास, विस्तार व नवाचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उद्यमिता के अथक क्रियाशील गुणों के कारण ही विद्यमान उपक्रम अपने संसाधनों का विस्तार कर नये उत्पादन के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं। उद्यमिता उनके विकास व विस्तार कार्यों को बढ़ावा देती है।

7. उद्यमिता द्वारा उपक्रम अपनी क्षमता, सूझबूझ व कार्यशैली की कुशलता के बल पर नई इकाइयों का सृजन करते हैं। वे प्रवर्तन व संचालन सम्बन्धी कार्यों का निष्पादन कर नई इकाइयों के सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

III. समाज व अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में : अर्थव्यवस्था के व्यापक हित में उद्यमिता की महत्ता को इस प्रकार स्पष्ट किया जाता है-

1. उद्यमिता के अन्तर्गत प्रतिपादित नियोजन, पहलपन, दूरदर्शिता एवं नियोजन क्षमताओं के विस्तार के कारण उद्यमों को पूंजी निर्माण में सहायता प्राप्त होती है। अतः उद्यमिता की महत्ता पूँजी निर्माण को बढ़ावा देने में ही होती है।

2. अर्थव्यवस्था में उद्यमिता के विस्तार के फलस्वरूप नये आर्थिक व औद्योगिक आधार विकसित होने लगते हैं। इससे औद्योगिक विकास की गतिशीलता बढ़ने के साथ रोजगार के नये अवसरों का भी निर्माण होता है।
3. उद्यमिता के समुचित विकास के कारण उद्यमियों द्वारा नये उद्योगों की स्थापना की जाती है तथा इससे पुनः ऐसे तत्वों को प्रोत्साहन मिलता है जो सम्पूर्ण स्वस्थ औद्योगिक वातावरण को निर्माण देता है।
4. उद्यमिता के अन्तर्गत लघु व कुटीर व्यवसायियों को पर्याप्त अवसर प्राप्त होता है। सामान्य व्यक्ति अपनी बचत पूंजी व अन्य धन को उत्पादक कार्यों में लगा सकते हैं और आर्थिक क्रियाओं में सहभागी बन सकते हैं।
5. उद्यमिता के माध्यम से उद्यमियों के ज्ञान, शिक्षा व चातुर्य को बढ़ावा मिलता है और वे सरकार द्वारा प्रतिपादित नीतियों, योजनाओं व कार्यक्रमों का कुशलतापूर्वक अध्ययन कर उनके समुचित क्रियान्वयन का भी प्रयास करते हैं। अतः उद्यमिता द्वारा संस्था के व्यापक हित में सरकारी नीतियों व योजनाओं का प्रभावी उपयोग सम्भव हो पाता है।
6. उद्यमिता के सिद्धान्तों को अपनाये जाने से उद्यमियों द्वारा सामाजिक उन्नत विचारों को अपनाया जाना सम्भव हो पाता है अर्थात् समाज के व्यापक हित में उद्यमिता सामाजिक कल्याण व सामाजिक उत्थान को सर्वोच्च महत्ता प्रदान करती है।
7. उद्यमिता की प्रक्रिया सामाजिक समस्याओं के निवारण में महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान करती है। उद्यमियों द्वारा लोगों को रोजगार प्रदान कर बेकारी, भूखमरी व गरीबी जैसी भयावह समस्या से छुटकारा दिलाया जाता है।
8. उद्यमिता के द्वारा देश के आर्थिक विकास को गति मिलती है। उद्यमिता के नीतिगत व व्यावहारिक दृष्टिकोणों से व्यावसायिक क्रियाओं का भौगोलिक आधार पर सुनियोजित न्यायपूर्ण एवं सन्तुलित विस्तार किया जाना सम्भव हो जाता है। अतः उद्यमिता गतिशील आर्थिक विकास में सहायक होती है।
9. उद्यमिता स्वतः ही नवाचार का एक सशक्त माध्यम है इसके माध्यम से उन नवीन विचारों, विधियों व प्रणालियों को आत्मसात् किया जाता है जो

व्यापार व समाज के लिए उपयोगी होते हैं। अतः नवाचार उद्यमियों का मौलिक व आधारभूत व लक्ष्य है इसलिये उद्यमिता द्वारा नवाचारों को पर्याप्त बढ़ावा दिया जाता है।

10. उद्यमिता के नवीन दृष्टिकोणों ने जहाँ एक ओर नवीन उत्पादों की रचना के आधार को विकसित किया है वहीं उन्हीं के फलस्वरूप नये बाजार क्षेत्रों का भी विकास हुआ है। उद्यमिता द्वारा ही विक्रय विस्तार, क्रय व्यवहारों का अध्ययन व विपणन जैसी नवीनतम तकनीकों का विकास सम्भव हो सका, जिससे नये बाजारों के विकास में सहायता प्राप्त होती है।

1.8 उद्यमिता की दशा और दिशा

व्यवसाय की क्रमागत विकास की दशाओं में उद्यमिता के स्वरूप में व्यापक परिवर्तन होते हैं। सामाजिक मूल्यों व समाज में व्यवसाय के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोणों व व्यवसाय में व्यापक परिवर्तन तथा पहचान बनाये रखने के चुनौतीपूर्ण दायित्वों के कारण उद्यमिता की दिशाओं व दशाओं में तीव्र रूप में परिवर्तन आया है।

वाणिज्यिक उद्यमिता पूर्णतः व्यावसायिक व वाणिज्यिक परम्परा पर आधारित रही है। 18वीं शताब्दी के दौरान प्रायः सभी आर्थिक प्रणालियों में व्यवसाय की सीमितता, लघु व्यवसाय, कम उत्पादन, क्रेता व विक्रेताओं के मध्य प्रत्यक्ष सम्पर्क व पारस्परिक हितों तथा व्यक्तिगत निष्ठा आदि तत्वों ने वाणिज्यिक उद्यमिता का उद्भव किया है। वर्तमान आर्थिक विकास एवं औद्योगिकरण के साथ उद्यमिता को वाणिज्यिक क्रियाकलापों के साथ भी सम्बद्ध माना जाने लगा। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में व्यवसायिक विकास व क्रान्तिकारी परिवर्तनों की स्थिति में उद्यमीय कार्यों को उद्योग के साथ सम्बद्ध कर इसकी भूमिका को नये रूप में प्रस्तुत किया है। कुछ विचारकों ने उद्यमियों द्वारा व्यावसायिक प्रबन्ध व संचालन में योगदान देने के कारण उद्यमिता को विशेष स्थान प्रदान किया है। वर्तमान में उद्यमी को किसी भी उपक्रम के प्रवर्तक, समन्वयक, संगठनकर्ता तथा जोखिम वहनकर्ता के रूप में समझा जाने लगा। इस प्रकार उद्यमिता के बदलते स्वरूप की अवस्थाओं में औद्योगिक उद्यमिता एक नये रूप में अपनी पहचान बना रही है।

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप पूर्व के अनुसंधान, बड़े पैमाने के उत्पादन, तीव्र प्रतिस्पर्धा, प्रबन्ध शैली के विकास एवं नवाचारों की दिशा में तेजी से प्रगति होने

लगी। व्यवसाय की सफलता का मूल आधार नवकरण पर निर्भर रहने लगा। उद्यमियों में व्याप्त नवप्रवर्तन के ज्ञान व इसके प्रयोग की प्रवृत्तियों से प्राप्त सफलता अर्जित करने की क्षमता आदि के कारण उद्यमिता को नव प्रवर्तनकारी की संज्ञा प्रदान की गई। इस प्रकार नवप्रवर्तन के कारण उद्यमी वर्ग की आवश्यकता व महत्ता को नया आधार मिला है। व्यावसायिक व औद्योगिक वातावरण जहाँ उद्यमशीलता को नयी भूमिका एवं नये उत्तरदायित्वों की ओर उन्मुख कर रहे हैं, वही उद्यमी वर्ग की गुणात्मकता व विशिष्ट भूमिका के कारण व्यावसायिक वातावरण में सेवा कार्य को बढ़ावा मिल रहा है। आज उत्पादन विकास, गुणवत्ता नियन्त्रण, व्यावसायिक सुअवसरों की खोज, संचार माध्यमों की प्रबलता व उपभोक्ता सन्तुष्टि प्रमुखता आदि के कारण सेवा क्षेत्र का विस्तार हो रहा है। आज उद्यमी वर्ग द्वारा सेवा से सम्बद्ध सभी कार्य किये जा रहे हैं, जो प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से उद्योग के लिए आवश्यक हैं।

1.9 सारांश

उद्यमिता का गौरवमयी इतिहास अपने पुरातन काल से ही अपनी कला, कौशल, शिल्पकारिता एवं उद्यमीय दक्षता से ओत-प्रोत रही है। भारत की औद्योगिक कलात्मकता एवं शिल्पकला ने सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्धि एवं उपयोगिता प्राप्त कर एक सम्मानजनक स्थान प्राप्त किया है, जिसका मूल आधार उद्यमिता ही है। इस प्रकार उद्यमिता किसी सृजनात्मक बाह्य प्रणाली की ओर इंगित करती है। यह नवाचार जोखिम वहन तथा गतिशील नेतृत्व का कार्य है। वस्तुतः उद्यमिता अन्वेषण, नवाचार तथा अनुकूल प्रक्रिया पर आधारित होती है। उद्यमिता विकास यात्रा को चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं, यथा-मनोवैज्ञनिक विचारधारा, समाशास्त्रीय, आर्थिक विचारधारा तथा एकीकृत विचारधारा।

1.10 उपयोगी शब्द कोष

उद्यमिता : उद्यमिता उत्पादन एवं विनियोग के अवसरों की तलाश, संसाधनों को एकत्रित कर नयी उत्पादन प्रक्रिया का प्रारम्भ, पूँजी की व्यवस्था एवं सही उपयोग, श्रम का उचित स्थानीकरण, नए उत्पादों व तकनीकी को आग्रसात तथा उपक्रम के नियमित संचालन हेतु उच्च वर्ग के प्रबन्धकों का चयन करने का कार्य है।

संसाधनों की रचनात्मकता : उद्यमिता का मूल आधार उपलब्ध संसाधनों को प्राप्त कर उनका अधिकतम उपयोग करना है। उद्यमिता द्वारा ही साधनों को संसाधनों में परिवर्तित किया जाता हैं तथा संसाधनों को आर्थिक मूल्यों में उद्यमिता का वास्तविक

स्वरूप संसाधनों की रचनात्मकता में ही सन्निहित होता है।

संवर्द्धनकारी उद्यमिता : उद्यमियों द्वारा किसी भी व्यवसाय व उद्योग को प्रारम्भ करने सम्बन्धी विभिन्न संवर्द्धन कार्यों का निष्पादन किया जाता है।

नवाचारात्मक उद्यमिता : नवीन एवं नवाचारात्मक उद्यमिता में विशेष अन्तर नहीं है। नवाचारात्मक उद्यमिता में नयी प्रणालियों, नये उपायों, नये सिद्धान्तों आदि के बारे में विश्लेषण करना, जाँच करना, परीक्षण करना तथा वर्तमान व भावी सम्भावनाओं के बारे में अध्ययन करना शामिल है।

नवाचार की अवधारणा : विद्वानों ने उद्यमिता में नवाचार को योग्यता के रूप में जोड़ते हुए कहा है कि अर्थव्यवस्था में साहसी वही व्यक्ति है जो कि व्यवसाय में नये उत्पाद किस्म, उत्पादन प्रणाली, तकनीक व बाजार की खोज कर उनसे व्यावसायिक सृजनशीलता द्वारा लाभ उत्पन्न करता है।

सेवा उद्यमिता : आज सामाजिक व आर्थिक वातावरण में सेवा उद्यमिता का विस्तार होता जा रहा है। ऐसी उद्यमिता में सेवा सम्बन्धी प्रकल्पों के साथ उद्यमशील व्यवहारों का भी उपयोग किया जाता है।

क्रियात्मक अवधारणा : उद्यमिता से सम्बन्धित क्रियात्मक विचारधारा प्रबन्धकीय आयोजन एवं क्रियान्वयन सम्बन्धी दृष्टिकोणों व प्रक्रियाओं को सुनिश्चित करती है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि समस्त औद्योगिक क्रियाओं का प्रारम्भ उद्यमशील विचारों पर ही निर्भर रहता है। अतः उपक्रम की विभिन्न क्रियाओं का एकीकृत रूप में अध्ययन किया जाना चाहिए।

1.11 महत्वपूर्ण प्रश्नावली

प्र01 'उद्यमिता' से क्या आशय है?

प्र02 उद्यमिता की किन्ही दो विशेषताओं का उल्लेख करें।

प्र03 नवाचार कार्य के आधार पर उद्यमिता के स्वरूप को समझाइये।

प्र04 उद्यमिता की किन्दी दो अवधारणाओं का उल्लेख कीजिए।

प्र05 उद्यमिता की सफलता के प्रमुख उपायों का संक्षेप में समझाइये।

प्र06 सेवा उद्यमिता को संक्षेप में समझाइये।

प्र07 उद्यमिता को परिभाषित कीजिये? उद्यमिता के मूल तत्वों या विशेषताओं का

उल्लेख कीजिये।

प्र08 उद्यमिता की विभिन्न अवधारणाओं का सविस्तार वर्णन कीजिए।

प्र09 ''उद्यमिता जोखिम वहन करने व नवप्रवर्तनों को प्राप्त करने की योग्यता है''। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

प्र010 ''उद्यमिता एक नवप्रवर्तनकारी कार्य है। यह स्वामित्व की अपेक्षा एक नेतृत्वकारी कार्य है।'' इस कथन की व्याख्या करते हुए उद्यमिता के विभिन्न स्वरूपों या वर्गीकरणों को समझाइये।

इकाई 2 : उद्यमिता विकास को प्रभावित करने वाला वातावरणीय कारक

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 परिचय, प्रकार तथा विशेषताएँ
2.3 आवश्यकता एवं महत्व
2.4 वातावरणीय कारकों के अध्ययन हेतु उपयोगी बिन्दु
2.5 राजनैतिक कारक
2.6 कानूनी कारक
2.7 आर्थिक कारक
2.8 तकनीकी कारक
2.9 सामाजिक-सांस्कृतिक कारक
2.10 सारांश
2.11 उपयोगी शब्द कोष
2.12 महत्वपूर्ण प्रश्नावली

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के समग्र अध्यनोपरान्त आप छात्रगण अग्रलिखित बिन्दुओं को आत्मसात् कर सकेंगे,

- उद्यमिता विकास को प्रभावित करने वाले कारणों के विभिन्न प्रकार एवं उनकी विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- पर्यावरणीय कारकों के अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व से परिचित हो सकेंगे।
- पर्यावरणीय कारकों के विभिन्न स्वरूप यथा-राजनैतिक, कानूनी, आर्थिक आदि की विस्तृत विवेचना कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

जिस प्रकार किसी मनुष्य के विकास में उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि में उपस्थित कारकों का विशेष योगदान होता है ठीक उसी प्रकार उद्यमिता विकास भी विभिन्न कारकों से प्रभावित होता है, जिनका अध्ययन एवं विश्लेषण हमें उद्यमिता की अवधारणा का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होता है। इन परिस्थितिजन्य कारकों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त कर यथा-राजनैतिक, कानूनी, आर्थिक, तकनीकी तथा सामाजिक सांस्कृतिक विश्लेषण करना उपयोगी होगा। इसके साथ वर्तमान इकाई में इनकी विशेषताओं, आवश्यकताओं तथा महत्व का भी विश्लेषण किया जायेगा।

2.2 परिचय, प्रकार तथा विशेषताएँ

वर्तमान प्रतियोगात्मक व्यापारिक क्षितिज में विभिन्न वातावरणीय कारकों ने अपना महत्वपूर्ण प्रभाव स्थापित कर रखा है। आज प्रत्येक व्यवसायिक क्रिया अपने विभिन्न वातावरणीय कारकों से प्रभावित होकर विकास एवं स्थायित्व की प्रक्रिया को सुव्यवस्थित, सुसंगठित एवं सफलता की ओर अग्रसर कर रही है। इस वातावरण में उपस्थित अनेक कारक एक-दूसरे को आकर्षित एवं प्रभावित करते हैं तथा एक-दूसरे से निरन्तर प्रभावित होते भी हैं। प्रत्येक व्यापारिक संस्था के प्रबन्धकों द्वारा वातावरणीय कारकों का विश्लेषण करना महत्वपूर्ण एवं आवश्यक बन जाता है।

इस प्रकार उद्यमियों एवं प्रबन्धकों द्वारा अपने नीतिगत एवं कार्यात्मक व्यवहारों के दृष्टिकोण से वातावरण की व्यापकता एवं प्रभावशीलता का अध्ययन व विश्लेषण किया जाना महत्वपूर्ण है। वस्तुतः वातावरण विश्लेषण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यूह-रचनात्मक नियोजन, अपने उपक्रम के लिए योग्य अवसरों व चुनौतियों का निर्धारण करने हेतु सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, तकनीकी आदि अन्य परिस्थितियों पर कड़ा पहरा रखा जाता है। इन वातावरणीय कारकों को मूलतः दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है-

(क) आन्तरिक वातावरण - किसी भी संस्था के आन्तरिक वातावरण में संस्था की विचारधाराएँ, दृष्टिकोण, युक्तियाँ, लक्ष्य, नियमन, संगठन, मानव संसाधनों के मध्य सम्बन्ध, कार्य विभाजन आदि अन्य कारकों को सम्मिलित किया जाता है।

(ब) बाह्य वातावरण - वातावरण की इस श्रेणी के अन्तर्गत निम्न कारकों को सम्मिलित किया जाता है-

1. सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण
2. आर्थिक वातावरण
3. राजनीतिक वातावरण
4. भौतिक वातावरण
5. वैधानिक वातावरण
6. प्रौद्योगिक व तकनीकी घटक
7. शैक्षिक वातावरण

इस इकाई में वातावरणीय विश्लेषण के अन्तर्गत मुख्य रूप से बाह्य वातावरणीय कारकों के विश्लेषण का प्रयास करेंगे। वातावरणीय कारकों के अध्ययन के अन्तर्गत विभिन्न वातावरणीय कारकों का विश्लेषण, मूल्यांकन व आँकलन किया जाता है। इस प्रक्रिया में हमें इनकी अग्रलिखित विशेषताओं का ज्ञान होता है-

1. वातावरणीय अध्ययन में उद्यमी अपने उपक्रम के लिए अवसरों व सुविधाओं के निर्धारण व प्रतिक्रियाओं तथा चुनौतियों का सामना करने के लिए वातावरणीय कारकों का सुव्यवस्थित अध्ययन व विश्लेषण करना चाहता है।
2. इस विश्लेषण में बाह्य वातावरण के विभिन्न कारकों में होने वाले निरन्तर परिवर्तनों का व्यवहारात्मक अध्ययन किया जाता है।
3. इस विश्लेषण के अन्तर्गत बाह्य वातावरणीय कारकों का किसी संस्था विशेष पर होने वाले प्रभावों का व्यवस्थित विश्लेषण व मूल्यांकन करने का प्रयास किया जाता है।
4. उद्यमी वातावरण अध्ययन की सहायता से भावी व्यवसायिक सम्भावनाओं, चुनौतियों एवं उनके वास्तविक परिणामों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।
5. उद्यमियों का उद्देश्य ऐसे विश्लेषण द्वारा उन अवसरों व सुविधाओं का लाभ उठाना है, जो वातावरणीय संकटों के समय में उपलब्ध हो सकते हैं।
6. वस्तुतः वातावरण विश्लेषण ''अवसर व धमकी विश्लेषण'' है, अर्थात् विश्लेषण प्रक्रिया उद्यमियों को यह अवसर देती है कि परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, वहीं यह भी ऋणात्मक संकेत देता है कि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हैं।

7. ऐसे विश्लेषण के माध्यम से उद्यमियों द्वारा वातावरणीय घटकों के अनुरूप अपने उपक्रम के लिये विभिन्न व्यूह रचनाओं का निर्धारण भी किया जा सकता है।

8. ऐसे विश्लेषण के माध्यम से उद्यमियों के कार्यों, व्यवहारों व परिणामों की जाँच करने हेतु उपयुक्त मापदण्डों का भी निर्धारण किया जा सकता है।

2.3 आवश्यकता एवं महत्व

वर्तमान प्रतियोगी युग में यह चर्चा निरन्तर हो रही है कि उद्यमियों द्वारा बाह्य वातावरणीय कारकों का अध्ययन करना क्यों आवश्यक है? प्रायः इसके सम्बन्ध में अग्रलिखित तर्क दिये जा सकते हैं-

1. प्रबन्धकों द्वारा अपनी युक्तियों, पूर्वनिर्धारित लक्ष्यों व उद्देश्यों के निर्धारण हेतु समस्त बाह्य वातावरण का विश्लेषण व इससे होने वाले लाभों व दोषों की सूचना इकट्ठा करने हेतु।
2. व्यवसाय की वर्तमान एवं भविष्य की क्रियाओं के निर्धारण, नियोजन एवं क्रियान्वयन को सफल बनाने हेतु।
3. व्यवसाय व उद्योग में नवाचार एवं नवीनतम तकनीकी उन्नयनता के लाभों की प्राप्ति हेतु।
4. संस्थापित क्षमता एवं उपलब्ध संसाधनों का श्रेष्ठतम व लाभकारी प्रयोग करने हेतु।
5. संस्था की कमजोरियों, शक्तियों, अवसरों एवं चुनौतियों का ज्ञान प्राप्त कर, इनसे सामना करने की इच्छाशक्ति उत्पन्न कर बनाये रखने हेतु।
6. संस्था की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता में वृद्धि हेतु भी वातावरणीय कारकों का अध्ययन आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार उद्यमियों एवं उनके व्यापार हेतु वातावरण विश्लेषण की आवश्यकता एवं महत्ता के लिए निम्न बिन्दुओं का अध्ययन व विश्लेषण किया जा सकता हैः-

1. वातावरणीय कारकों के विश्लेषण द्वारा उद्यमियों को उनके कार्यों व व्यवहारों के लिए आवश्यक मार्गदर्शन की प्राप्ति होती है।
2. ऐसे विश्लेषण द्वारा व्यावसायिक योजनाओं को व्यवहारिक एवं कार्यात्मक

आधार प्रदान करना जिससे इनका क्रियान्वयन सफलतापूर्वक हो सके।

3. व्यावसायिक व औद्योगिक क्रियाओं को व्यवस्थित संचालकीय समन्वय प्रदान करना,
4. व्यवसायिक नियोजन की विभिन्न तकनीकों के क्रियान्वयन के लिए समन्वित आधार व दिशाएँ तय करना।
5. उद्यमियों द्वारा प्रतिस्पर्धात्मक योजनाओं एवं संरचना के निर्धारण हेतु।
6. सामान्यतया विश्लेषण प्रक्रिया के अन्तर्गत विभिन्न कारकों के वैकल्पिक उपयोगों की गहराई व सूक्ष्मता से जांच की जाती है अतः प्रबन्धकीय निर्णयन कार्य में विकल्पों के चयन में निरन्तर सुविधा प्राप्त होती रहती है।
7. इन विश्लेषणों से व्यावसायिक, उद्यमियों, प्रबन्धकों व अन्य वर्गों के दृष्टिकोणों में व्यापक परिवर्तन सम्भव हो जाता है।
8. इन विश्लेषणों से व्यवसायी एवं उद्यमी भविष्य की चुनौतियों का सामना करने हेतु अपने को नियोजित कर सकते हैं।
9. वातावरण विश्लेषण उद्यमियों को व्यवसाय में लाभों की अधिकतम प्राप्ति के अवसरों के बारे में समग्र जानकारी देता है जिससे वे इन अवसरों का लाभ उठाकर लार्भाजन क्षमता के विस्तार के लिये प्रयास कर रहे हैं।
10. इन विश्लेषणों के अन्तर्गत विक्रय सम्वर्द्धन को लागू किया जाना सम्भव बन जाता है।
11. इन विश्लेषण कार्यों में विक्रय पूर्वानुमान की प्रक्रिया के परिणामों व सम्भावनाओं का भी मूल्यांकन किया जाता है। इससे भावी विक्रय सम्भावनाओं की ठोस सूचना मिल जाती है। इसी आधार पर उद्यमी को भावी नियोजनात्मक निर्णय लेने में सरलता हो जाती है।
12. उद्यमियों द्वारा संस्था के विकास व विस्तार की प्रक्रिया अपनाने तथा संस्था के स्थायी अस्तित्व के लिए वातावरणीय विश्लेषणों का अध्ययन आवश्यक हो गया है।
13. वातावरण मे होने वाले विभिन्न परिवर्तनों की प्रभावशीलता को ज्ञात करने व उसकी महत्ता का पर्याप्त लाभ उठाने हेतु भी वातावरणीय विश्लेषण का प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

वातावरणीय विश्लेषण प्रक्रिया को अनेक कारक भी निरन्तर प्रभावित करने रहते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख कारक इस प्रकार हैं –

1. **संस्था का आकार -** संस्था का आकार व कार्यविधि, वातावरणीय विश्लेषण की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। व्यावसायिक संस्थाओं में वृहत स्तरीय परियोजनाओं से सम्बन्धित कार्य विस्तार भी बड़े स्तर का होता है, अतः वहाँ वातावरण के सभी कारक एक साथ प्रभावित करने का कार्य करते हैं। उन्हें समझना व उन्हीं के अनुरूप कार्य करना एक जटिल व श्रम साध्य कार्य है किन्तु छोटी संस्थाओं में ऐसी कोई गम्भीर दशाएं प्राप्त नहीं होती है।

2. **उद्यमीय व्यवहार -** उद्यमियों का गुण, आचरण व कार्य व्यवहार आदि भी वातावरणीय विश्लेषण को प्रभावी करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे व्यवहारों के अन्तर्गत उद्यमियों के नीतिगत एवं व्यावहारिक आचरण, कार्यशैली, व्यक्तिगत गुण, कौशलता, वैचारिक दृष्टिकोण, कार्य अभिमुख प्रवृतियाँ आदि को सम्मिलित किया जाता है। ऐसे व्यवहारजनित क्षमताओं से वातावरण की गहनता, जटिलता एवं व्यापकता का व्यवस्थित अध्ययन किया जा सकता है।

3. **व्यवसाय की प्रकृति -** व्यवसाय की कार्यप्रणाली व प्रकृतियुक्त गुणों से भी वातावरण का विश्लेषण निरन्तर प्रभावित होता रहा है। प्रायः जिन संस्थाओं में, कार्य साधारण व दैनिक प्रवृति का होता है, वहाँ वातावरण के विश्लेषण में अधिक कठिनाई सामने नहीं आती है परन्तु जहाँ व्यवसायिक क्रियाएँ जटिल व विस्तरित होती है वहाँ ऐसा विश्लेषण अत्यन्त कठिन व तकनीकी अपेक्षाओं से युक्त होता है।

4. **वातावरण में असामान्य परिवर्तनशीलता -** यदि वातावरणीय कारकों एवं परिस्थितियों में असामान्य परिवर्तनशीलता पायी जाती है तब इनका अध्ययन, विश्लेषण व मूल्यांकन प्रायः कठिन व दुरूह होता है जबकि सामान्य परिवर्तनों का विश्लेषण अत्यन्त ही सहज व सरल लगता है।

5. **संस्था की आयु -** प्रायः नई स्थापित व्यावसायिक इकाईयों को अपने वातावरण का विश्लेषण करना कठिन होता है क्योंकि उनके पास योग्य व अनुभवी अध्ययनकर्ता उपलब्ध नहीं होते हैं जबकि पुरानी संस्था का व्यवसाय पूर्णतः स्थाई होता है इसमें प्रबन्धक व कर्मचारी पूर्णता ज्ञानयुक्त व अनुभवी होता

उद्यमिता विकास को प्रभावित करने वाले वातावरणीय कारक

है परिणामतः उन्हें अपने वातावरण का विश्लेषण करने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है।

6. **प्रबन्धकीय कौशल -** संस्था में जब प्रबन्धक योग्य, गुणवान व पेशेवर होते हैं तब वे वातावरण के अध्ययन व विश्लेषण में गहरी रूचि लेते हैं अन्यथा इस प्रकार के प्रबन्धक ऐसे विश्लेषण में रूचि नहीं रखते हैं।

7. **शोध की दशा -** शोध की विभिन्न तकनीकों के आधार पर वातावरण का विश्लेषण किया जाना सम्भव होता है। ऐसे शोध कार्य में समस्या का कार्य कारण अध्ययन व परिणामों के मध्य सम्बन्ध व विकल्पों के चयन आदि पर शोध का स्तर निर्भर करता है। इन्हीं से शोध की तकनीकें व दशाएँ प्रभावित होती हैं।

8. **उपलब्ध विधियाँ -** वातावरण विश्लेषण हेतु संस्था के पास विभिन्न तकनीकी व विधियाँ जैसे रेखीय कार्यक्रम, परीक्षण जाँच,जाँच विपणन, स्पॉट विश्लेषण, पूर्वानुमान क्रियात्मक शोध, सांख्यिकीय विश्लेषण आदि की उपलब्धता का भी विश्लेषण पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

9. **वैचारिक दृष्टि -** संस्था के उद्यमियों, प्रबन्धकों व कर्मचारियों के वैचारिक दृष्टि का भी वातावरण विश्लेषण पर प्रभाव पड़ता है। कुछ व्यक्ति पुरातन व भाग्य को मानते हैं, जो ऐसे विश्लेषण कार्य में विश्वास नहीं रखते हैं जबकि वैज्ञानिक व तर्कपूर्ण विचारों वाले व्यक्ति इन विश्लेषणों को पर्याप्त महत्व देते हैं।

10. **भौगोलिक क्षेत्र -** सस्था का भौगोलिक क्षेत्र जितना व्यापक होता है, उतनी ही वातावरण के विश्लेषण में कठिनाइयाँ सामने आती है किन्तु छोटी व स्थानीय संस्था के लिये ऐसा विश्लेषण सीमित, सरल व कम चुनौतियों वाला होता है।

2.4 वातावरणीय कारकों के अध्ययन हेतु उपयोगी बिन्दु

संस्था के बाह्य वातावरण विश्लेषण की प्रविधियों को अपनाने में उद्यमियों द्वारा कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं को ध्यान में रखना आवश्यक होता है जिसका व्यवस्थित अध्ययन अग्रलिखित बिन्दुओं की सहायता से किया जा सकता है-

1. **निर्गमीय नियोजन -** निर्गमीय नियोजन प्रायः प्रबन्धकीय नियोजन ही है यह एक तार्किक मौलिक क्रमबद्ध, औपचारिक, उद्देश्यपूर्ण तथा लक्ष्योन्मुख भविष्य

की कार्यविधि है। इसमें संस्थागत अल्पकालीन, दीर्घकालीन, व्यूहरचनात्मक, परिचालन आदि नैतिक प्रकार का नियोजन आदि शामिल करना आवश्यक है। इस नियोजन प्रक्रिया को ध्यान मे रखते हुए कार्य योजनाओं का निर्माण किया जाना चाहिए।

2. **व्यवसायिक अवसरों का ज्ञान -** वातावरण विश्लेषण प्रक्रिया के क्रम में उद्यमियों द्वारा विभिन्न सामाजिक परिवर्तनों, आर्थिक दशाओं, सरकारी नीतियों, कर प्रावधानों आदि से सम्बद्ध अधिकतम अवसरों की जानकारी रखी जानी चाहिए। इससे वातावरण विश्लेषण प्रक्रिया से प्राप्त सुचनाओं का समुचित उपयोग कर अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

3. **भावी चुनौतियों का ज्ञान -** बाह्य वातावरण विश्लेषण की प्रक्रिया अपनाने से पूर्व ही उद्यमियों द्वारा व्यावहारिक दृष्टिकोण से संस्था की भावी चुनौतियों का पूर्व अनुमान कर लेना चाहिये। इस सम्बन्ध में उन्हें सतर्क होकर व सावधानीपूर्वक अपने भावी नियोजन का निर्धारण कर लेना चाहिए।

4. **श्रेष्ठ संगठन निर्माण -** बाह्य वातावरण अध्ययन की प्रक्रिया सुव्यवस्थित एवं उपयोगी बनाने तथा इसकी प्रभावशीलता का उचित लाभ उठाने के लिये संस्था को एक आदर्श संगठन संरचना निर्माण का विचार करना चाहिए। इसमें कर्मचारियों के मध्य एवं अधिकारों का उचित विभाजन, उत्तरदायित्वों का निर्धारण एवं कार्ययोजना का उचित क्रियान्वयन सम्भव होता है। अतः संगठन रचना की कार्य निष्पादन क्षमता पर ही वातावरणीय कारकों का सफलतम उपयोग किया जा सकता है।

5. **प्रौद्योगिकी स्तर -** संस्था के प्रौद्योगिकी संसाधन इनकी कार्यप्रणाली उपयोगिता व स्तरीय तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। ये स्तर जहाँ एक ओर उद्यमी क्रियाओं व व्यवहारों को प्रभावित करते हैं वहीं उत्पाद व सेवाओं के बारे में निर्णय को भी प्रभावित करते हैं। अतः वातावरणीय कारकों से प्राप्त अवसरों का लाभ उठाने व चुनौतियों का सामना करने के लिए श्रेष्ठ प्रौद्योगिकी के स्तरों का तय किया जाना आवश्यक है।

6. **सृजनात्मकता -** सृजनात्मकता के अन्तर्गत नवीन विचारों, अनूठे विचारों सकारात्मक दृष्टिकोणों, प्रभावी युक्तियों, आन्तरिक प्रेरणाओं, मनोवृत्तियों व श्रेष्ठ

कार्य वातावरण की ओर उन्मुख करने की प्रवृत्तियां सम्मिलित की जाती हैं। वातावरण विश्लेषण के अन्तर्गत विभिन्न चुनौतियों का सामना करने तथा प्राप्त सूचनाओं, घटनाओं व विभिन्न अवसरों का संस्था के व्यापार हित में उपयोग के लिए सृजनात्मकता के पहलुओं का गहन अध्ययन किया जाना नितान्त आवश्यक है।

7. **युक्तियों की समीक्षा -** वातावरण विश्लेषण प्रक्रिया के क्रम में संस्था द्वारा अपनायी जा रही विभिन्न युक्तियों की समय-समय पर समीक्षा की जानी चाहिए। संस्था की कुछ विशिष्ट युक्तियाँ जो उत्पाद विकास, विज्ञापन, विक्रय संवर्द्धन, मूल्य निर्धारण, तकनीकी उन्नयनता आदि से सम्बद्ध होती है। जिनका समसामयिक मूल्यांकन कर समीक्षा किया जाना समीचीन होता है। ऐसी समीक्षा से इनकी वातावरणीय व प्रतिस्पर्धात्मक घटनाओं के अनुरूप होने या विपरीत होने की जानकारी निरन्तर प्राप्त होती रहती है।

8. **कार्ययोजना निष्पादन -** संस्था द्वारा अपनी विभिन्न कार्य योजनाओं का प्रभावी निस्पादन करने के प्रयास किये जाने चाहिए। यहाँ प्रभावी प्रबन्धकीय युक्तियों, कुशल नेतृत्व, प्रभावी निर्णयन, व्यावसायिक अवसरों को अपनाने, प्रभावी नियन्त्रण व तकनीकों को अपनाया जाना चाहिए। इससे वातावरणीय कारकों की अनुकूलताओं व प्रतिकूलताओं का उचित सामना किया जा सकता है।

9. **कानूनी प्रावधानों की जानकारी -** बाह्य वातावरण अध्ययन से पूर्व उद्यमियों को संस्था सम्बन्धी विभिन्न अधिनियमों का ज्ञान होना परमावश्यक है, साथ ही उन्हें इन कानूनी प्रावधानों को लागू करते हुए संस्था को वैधानिक अस्तित्व व संरक्षण दिलवाने का भी प्रयास करते रहना चाहिए। यह संस्था की साख बनाने का कार्य भी करता है।

आइये अब अध्ययन की दृष्टि को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले बाह्य कारकों का क्रमवार अध्ययन व विश्लेषण करें।

2.5 राजनैतिक कारक

सामान्यत राजनैतिक कारक वे कारक होते हैं, जिससे किसी भी देश की राजनैतिक स्थिरता का पता लगता है क्योंकि किसी राजनैतिक परिवेश में एक संस्था को अपने कार्यों का संपादन करना पड़ता है। राजनैतिक वातावरण का निर्माण विभिन्न

राजनैतिक दलों के सिद्धान्त, दर्शन और दृष्टिकोण का परिणाम होता है जिसके अनुसार वे व्यापारिक नियमों को निर्मित करते हैं और उन्हें लागू करने का प्रयास करते हैं। ये नियम ही व्यापारिक संस्थाओं के हितों की रक्षा करते हैं और उनके व्यापार को बढ़ाने में सहायक होते हैं। इस प्रकार उनके द्वारा किये गये नवाचार, पेटेन्ट आदि की सुरक्षा सम्भव हो पाती है। राजनैतिक स्थिरता ही एक प्रभावी कार्ययोजना तथा आर्थिक कार्यक्रम को सुव्यवस्थित रूप से क्रियान्वित करने का आधार प्रदान करता है। स्वस्थ राजनैतिक वातावरण के पीछे राजनैतिक पार्टियों का दर्शन, शासन करने का तरीका, नेतृत्व करने के गुण आदि तत्वों का मिश्रण होता है। हम अपने अध्ययन की सुविधा के लिए राजनैतिक वातावरण से सम्बन्धित अग्रलिखित कार्य को समझने का प्रयास करेंगे-

(क) राजनैतिक दर्शन - प्रत्येक राजनैतिक दल अपनी एक विशेष शैली से देश में शासन करने का प्रयास करते हैं। ये पूँजीवादी, समाजवादी तथा आधुनिक आर्थिक विचारधारा के समर्थक हो सकते हैं। इन्हीं विशेषताओं के द्वारा ये अपनी सोच, कार्यशैली तथा नियमन को व्यक्त करते हैं तथा इसी दृष्टिकोण के आधार पर ये राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की आधारशिला निर्मित करते हैं जिसे राजनैतिक दलों के दर्शन की संज्ञा दी जाती है तथा इसी राजनैतिक दर्शन के अनुसार उद्यमिता का विकास होता है।

(ख) राजनैतिक वातावरण - किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए राजनैतिक स्थितियों का समर्थन आवश्यक होता है। राजनैतिक अस्थिरता सदैव अनिश्चितता की स्थितियाँ पैदा करती है जबकि सुव्यवस्थित उद्यमिता विकास हेतु सदैव सुस्पष्ट तथा स्थायी सरकारी नितियों का निर्माण किया जाना आवश्यक होता है। इस प्रकार प्रत्येक उद्यमी को अपने राजनैतिक वातावरण के परिवर्तनों का अध्ययन करते रहना चाहिए जिससे वे सदैव सुव्यवस्थित उद्यमी क्रियाओं को संपादित करता रहे।

(ग) नेतृत्व का गुण - प्रत्येक देश के शासन के समयानुसार राजनैतिक दलों का प्रभुत्व बनता बिगड़ता रहता है तथा शासन करने वाले राजनैतिक दल की नेतृत्वकारी क्षमता पर ही उस राष्ट्र के विकास का भविष्य टिका होता है। इस प्रकार परिपक्व, तार्किक, पूर्वानुमानी नेतृत्व ही उस राष्ट्र के आर्थिक विकास को गति प्रदान करता है और तीव्र गति से हुआ आर्थिक विकास ही राष्ट्र की खुशहाली का आधार बनता है, वस्तुतः राजनैतिक नेतृत्व ही उद्यमिता को प्रोत्साहित कर आर्थिक विकास का भार उन्हें सौंपता है।

2.6 कानूनी वातावरण

सामान्यतः एक सरकार ही आर्थिक विकास के विभिन्न आधारों का नियमन करती है जिसमें व्यापारिक वातावरण में प्रवेश, कार्य की दशाओं, संसाधनों का उपयोग आदि के बारे में नियमों का निर्माण कराती है जिससे उद्यमियों के लिए स्थिर कानूनी वातावरण का निर्माण होता है। इस प्रकार यह सरकार का कर्तव्य है कि वह ऐसी कानूनी संरचना का निर्माण करे जो व्यापारिक संस्थाओं के लिए मार्गदर्शन संरक्षण का कार्य करे क्योंकि यही वातावरण उद्यमिता सम्बन्धी गतिविधियों को प्रोत्साहित करती है। इस कानूनी वातावरण के सुव्यवस्थित अध्ययन हेतु हमें अग्रलिखित कारकों का विवेचन करना पड़ेगा -

(क) कार्यकारीणी क्षेत्र : प्रायः सरकार उन सभी क्षेत्रों और दशाओं का निर्माण करने का प्रयास करती है जिसके अन्दर एक स्वस्थ उद्यमिता की कार्यशैली का विकास स्वभव हो सके। इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक उद्यमी को अपनी गतिविधियों के संचालन के पूर्व सरकार की अनुमति लेना आवश्यक होता है। इसी प्रकार उन्हें उपलब्ध संसाधनों के उपयोग करने की भी अनुमति लेनी पड़ती है वस्तुतः इस प्रकार की अनुमति के लिए सरकार सदैव विभिन्न कार्यकारी क्षेत्रों में अपने प्रतिनिधियों के द्वारा उद्यमियों को अनुमति दिये जाने का प्रयास करती है जिससे उद्यमिता सम्बन्धित वातावरण को प्रोत्साहित किया जा सके।

(ख) उद्यमी कार्यों का नियमन - सामान्यतया एक सरकार अपने व्यापारिक परिवेश में आने वाले प्रत्येक उद्यमी को व्यवसाय स्थापना हेतु सभी प्रकार की मूलभूत सुविधायें प्रदान कर उसके व्यवसाय को गति देने का प्रयास करती है तथा विभिन्न प्रकार के विनियमों द्वारा भी इनको सुरक्षा देने का प्रयास करती है जिससे व्यापार से सम्बन्धित गलत प्रक्रियाओं को प्रतिबन्धित किया जा सके। इस प्रकार एक सरकार समय-समय पर प्रबन्धकीय नियमों की समीक्षा कर उनमें यथा-सम्भव बदलाव करती रहती है।

2.7 आर्थिक वातावरण

आर्थिक वातावरण की प्रकृति अपने आपमें विविधता पूर्ण होती है। यह वातावरण उन सभी कारकों को अपने में समाहित करने की कोशिश करता है जिससे राष्ट्र में अधिक वातावरण को स्वस्थ बनाया जा सके, जैसे आर्थिक स्रोत, आर्थिक दशाएँ, आर्थिक युक्तियाँ, व्यापारिक नीति, संसाधनों की उपलब्धता, प्रोत्साहन युक्तियाँ आदि को सम्मिलित किया जाता है। आइये इन कारकों को विस्तार से समझने का प्रयास करें:-

(क) आर्थिक संसाधनों की सुलभता - किसी भी राष्ट्र के प्राकृतिक संसाधनों की संरचनात्मक व गुणात्मक उपलब्धता उद्यमी को उद्यमिता सम्बन्धित कार्यों को गति देने हेतु प्रोत्साहित करती है। इन उपलब्ध संसाधनों का सुव्यवस्थित, सुसंगठित तथा क्रमबद्ध उपयोग उद्यमिता के दृष्टिकोण द्वारा ही सम्भव होता है। संसाधनों का उचित दोहन ही उद्यमी के लाभों में वृद्धि कर उसके व्यापार के विकास एवं विस्तार में सहायक सिद्ध होता है।

(ख) आर्थिक दशाएँ - आर्थिक दशाओं के वहां सदैव एक संस्था को गति देने का कार्य करते हैं। महंगाई दर, ब्याज दर, बेरोजगारी, प्रति व्यक्ति आय, उपभोक्ता की क्रय शक्ति, मुद्रा परिवर्तन दर ये कुछ प्रमुख कारक है जो किसी राष्ट्र के आर्थिक दशाओं के द्योतक माने जाते हैं। एक स्वस्थ आर्थिक वातावरण हेतु उपरोक्त तत्वों का उचित सामंजस्य ही उद्यमी और उद्यमिता के विकास में सहायक सिद्ध होते हैं।

(ग) आर्थिक युक्तियाँ - प्रत्येक राष्ट्र के व्यापार की दशा और दिशा उसके द्वारा बनाई गई आर्थिक युक्तियों पर पूर्णता निर्भर करती है। उदाहरण के रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय आर्थिक व्यवस्था का आधार समाजवाद है जिसमें सभी को समान अवसर देने की बात कही जाती है। इसीलिये यहाँ पर क्या उत्पादित किया जाये? कैसे उत्पादित किया जाये? किसके लिये उत्पादित किया जाये? कितना उत्पादित किया जाये? इन सभी निर्णयों का आधार भारत के योजना आयोग द्वारा तय की गई युक्तियाँ और दिशा-निर्देश ही होते हैं। इस प्रकार यह सरकार का दायित्व हो जाता है कि वह उत्पादन और वितरण से सम्बन्धित ऐसी युक्तियों का निर्माण करे जिससे इनका समुचित नियमन किया जा सके और उद्यम और उद्यमिता के समक्ष कोई व्यवहारिक नीतिगत अड़चन न आ पाये।

(घ) मजदूरों से सम्बन्धित युक्तियाँ - उत्पादन और सेवा के व्यापार का प्रमुख आधार मजदूर होता है जिसके द्वारा विभिन्न कार्यों को सम्पन्न किया जाता है। प्रायः मजदूरों की कार्यक्षमता का आंकलन उनके द्वारा सम्पादित कार्यों के संरक्षात्मक गणन से किया जाता है। जिससे उनके शोषण की सम्भावना को बल मिलता है। एक प्रभावी सरकार को सदैव यह प्रयास करना चाहिए कि मजदूरों से सम्बन्धित ऐसी नीतियों का निर्माण किया जाय जिससे उनमें गुणात्मक गुणों का विकास हो सके और शोषण की सम्भावनाओं को कम किया जा सके। इन्हीं प्रयासों में सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था तथा मजदूरी की उचित दर दिलाने से सम्बन्धित प्रभावी नियमन की व्यवस्था करना भी इन्हीं

की जिम्मेदारी है। इस प्रकार इन विनियमों का सीधा प्रभाव उद्यमिता व उद्यमी के ऊपर पड़ता है। प्रभावी व सुस्पष्ट नीतियाँ सदैव इन्हें प्रोत्साहित करती है तथा गलत नीतियाँ भ्रम की स्थिति उत्पन्न करती हैं।

(च) व्यापारिक युक्तियाँ - व्यापारिक युक्तियों के निर्माण के सम्बन्ध में सदैव यही तर्क दिया जाता है कि इनके द्वारा उत्पादों और सेवाओं की उपलब्धता का सुनिश्चितीकरण किया जाता है जिससे अवशेष भुगतान से सम्बन्धित गतिविधियों को संतुलित किया जा सके। उत्पादों और सेवाओं से सम्बन्धित सुदृढ़ व्यापारिक सदैव एक उद्यमी को नई इकाई की स्थापना के लिये प्रेरित करती है। इस प्रकार आयात और निर्यात व्यापार सम्बन्धी युक्तियाँ भी उद्यमियों को प्रोत्साहन का असर देती है जिससे वे विदेश के बाजारों में भी अपने उद्यमिता सम्बन्धी गुणों का उपयोग कर प्रवेश कर सकें तथा अपने उत्पादों और सेवाओं की उपलब्धता द्वारा अधिक से अधिक लाभ अर्जन कर सकें।

(छ) प्रोत्साहन की विधियाँ - प्रोत्साहन सम्बन्धी नीतियों के द्वारा भी उद्यमी के लिये आर्थिक वातावरण के निर्माण का प्रयास किया जाता है। ये प्रोत्साहन नीतियाँ ही कम जोखिम में अधिक लाभार्जन का अवसर देती है। इसी प्रकार ब्याज की कम दर, करों की उचित दर, छूट पर सस्ती जमीन, स्टाम्प दर सदैव से ही उद्यमी के प्रोत्साहन का केन्द्र रही है। वस्तुतः सुदृढ़ आर्थिक वातावरण हेतु इस प्रकार के प्रोत्साहनों की उपलब्धता निश्चित तौर पर उद्यमशीलता के गुणों का विकास कर कई उद्यमी तैयार कर समाज को आगे ले जाने तथा आर्थिक रूप में समृद्धता प्राप्त करने का कार्य करती है।

2.8 तकनीकी वातावरण

वर्तमान सेवाप्रधान प्रतियोगात्मक व्यापारिक वातावरण का सबसे प्रबल कारक तकनीकी या प्रौद्योगिक वातावरण है यह वातावरण ही विभिन्न प्रौद्योगिकी, उपकरणों तथा विधियों के माध्यम से व्यापारिक जगत में कार्य कर रहे उद्यमियों को प्रभावित करता आया है। तकनीकी वातावरण का अध्ययन करते समय अग्रलिखित कारकों का अध्ययन करना महत्वपूर्ण होगा-

(क) उपलब्ध संसाधनों का प्रबन्धन - नई प्रौद्योगिकी एवं उपकरण सदैव व्यक्तियों, मशीनों, सामग्री का उचित समन्वय कर कम मूल्यों पर अधिकतम उत्पाद देने का प्रयास करते हैं। यह तकनीकी ही कर्मचारियों के गुणों का विकास कर उनमें गुणात्मक एवं संरचनात्मक उत्पादकता में वृद्धि करने में प्रयास करता है। नवीन तकनीकी के

उपयोग द्वारा उद्यमी अधिकतम उत्पादन कर बाजार को नये-नये उत्पाद देकर माँग बढ़ाने का प्रयास करता है। इस प्रकार नवीन तकनीकी का प्रयोग व्यक्तियों की जीवन शैली को बदल कर समाज को आगे ले जाने का प्रयास करता है जिसका आधार स्तम्भ उद्यमी ही होता है।

(ख) प्रयोगात्मक वातावरण का निर्माण - वैज्ञानिक और तकनीकी विकास ही नवाचार द्वारा किसी उत्पादन की बाजार स्थिति को सुदृढ़ आधार प्रदान करने का कार्य करता है। कीमतों को कम से कम रखने के लिए भी नवीन तकनीकियों के प्रयोग द्वारा बाजार में प्रतिस्पर्धा हेतु अपने-अपने उत्पादों को उतारा जाता है। वस्तुतः नवीन प्रौद्योगिकी के उपकरण सदैव ही उद्यमियों को प्रतियोगिता में बने रहने का आधार प्रदान करते हैं।

(ग) जोखिम वहन की क्षमता - तकनीकी वातावरण नई उत्पादन तकनीकियों में विकास की सहायता से किसी भी उद्यमी के भावी जोखिमों को कम करने का प्रयास करती है। उद्यमी सदैव आने वाले जोखिमों के प्रति चिन्तित रहता है और शायद उसका अनुमान लगाकर भी उससे निपटने की रणनीति का निर्माण नहीं कर पाता किन्तु नवीन प्रौद्योगिकी सदैव से इस प्रकार के जोखिमों को न्यून करने का प्रयास करती रही है जिससे आने वाले जोखिमों से उद्यमी को कम से कम नुकसान हो सकें।

(घ) अधिक उत्पादकता - प्राकृतिक संसाधन, आर्थिक संसाधन तथा मानवीय संसाधनों का उचित प्रयोग सदैव उत्पादकता में वृद्धि करता है तथा इसके विपरीत इनका गलत प्रयोग सदैव प्रति इकाई उत्पादन की कीमत में वृद्धि करता है। आधुनिक विज्ञान और तकनीकी ने ऐसे प्रौद्योगिकी तथा उपकरणों का निर्माण किया है जिससे संसाधनों का सुव्यवस्थित प्रयोग किया जा सकता है। जिससे उद्यमी के लाभों में तथा बाजार विस्तार में क्रमबद्धता होती है।

(च) अधिक लाभ - उचित तकनीकी वातावरण सदैव संसाधनों के उचित दोहन हेतु क्रियाशील रहते हैं। जिससे संसाधनों का अपव्यय रोककर अधिक इकाई का उत्पादन किया जा सके तथा इनके विक्रयोपरान्त अधिक लाभार्जन दिया जा सके। इस प्रकार नवीन तकनीकी, सदैव से ही मूल्यों और लागतों के मध्य अन्तर को कम करती रही है जिससे उद्यमी को अधिक से अधिक लाभ कमाने के अवसर प्राप्त होते रहे हैं।

2.9 सामाजिक वातावरण

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सामाजिक वातावरण ही उद्यमशीलता विकास हेतु एक ठोस पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। वर्तमान युग में व्यापार को एक सामाजिक संस्था का दर्जा दिया जाता है और उससे अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वहन की आशा भी की जाती है। एक उद्यमी व्यापारिक संस्थान में समाज में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के द्वारा पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठनात्मक रूप से कार्य करता है। जब विभिन्न जाति, धर्म, विचार के मजदूर एक साथ कार्य करते हैं तब यह आवश्यक हो जाता है कि संस्था के अन्दर व बाहर एक स्वस्थ सामाजिक वातावरण का निर्माण हो सके। सामाजिक वातावरण के निर्माण में सामाजिक संरचना, मूल्य, प्रतिबन्ध, उपभोक्ताकरण, मजदूरों के विचार आदि को आधार बनाया जा सकता है। चूँकि उद्यमी भी इसी समाज का हिस्सा होता है और इसी विनियमों के आधार पर अपने निर्णयों को क्रियान्वित करता है। इसलिए उद्यमिता के विकास हेतु एक प्रभावी एवं सहयोगी सामाजिक वातावरण की आवश्यकता होती है। आइये सामाजिक वातावरण को दिशा देने वाले कारकों को विस्तार से समझने का प्रयास करें -

(क) सामाजिक संरचना - समाज के अन्तर्गत सामुदायिक कार्यों का विभाजन उद्यमिता विकास को सदैव से ही प्रभावित करता आया है। भारत में वर्ण और जाति व्यवस्था से ही विभिन्न वर्गों के कार्यों का विभाजन सुनिश्चित हुआ है। जैसे ब्राह्मणों को समाज में ज्ञान देने का कार्य दिया गया, क्षत्रियों को समाज की रक्षा करने का दायित्व दिया गया, वैश्यों को समाज की आवश्यकताओं को, व्यापारिक आदान - प्रदान द्वारा पूरा करने का कार्य दिया गया था। शूद्रों को ऊपर वर्णित तीनों वर्गों की सेवा का दायित्व दिया गया किन्तु आज के आधुनिकतम व्यवसायिक वातावरण ने इन बन्धों को तोड़कर सभी को विकास के समान अवसर प्रदान करने का कार्य किया है। इस प्रकार बदलती हुई सामाजिक संरचना का प्रभाव सीधे ही उद्यमिता विकास पर पड़ता है।

(ख) सामाजिक मूल्य - समाज के मूल्य ही व्यक्ति के व्यवहार और सोच को एक आधार प्रदान करने का कार्य करते हैं। मूल्य और व्यवहार ही व्यक्ति के अन्दर जरूरत पैदा कर उन्हें व्यापारिक संस्थाओं की तरफ ले जाने का कार्य करता है। इसी प्रकार एक उद्यमी भी अपनी सोच एवं व्यवहार के द्वारा अपनी संस्था में मूल्यों का प्रयास करता है तथा उसी अनुरूप उपभोक्ताओं को आकर्षित करता है। वस्तुतः सकारात्मक सामाजिक मूल्य ही उद्यमशीलता को बढ़ावा देने का कार्य करते हैं।

(ग) उपभोक्ताओं की दृष्टि - उत्पादों तथा सेवाओं के प्रति उपभोक्ताओं के विभिन्न दृष्टिकोण एवं व्यवहार उद्यमिता के कार्यों को विविध रूप से प्रभावित करते आये हैं। उपभोक्ता की आर्थिक दशा, रूचि, आदत, फैशन आदि उत्पादों की गुणवत्ता एवं उपलब्धता को सुनिश्चित करने का आधार प्रदान करता है। इस प्रकार उपभोक्ताओं की रूचि और माँग जिन उत्पादों के प्रति अधिक होती है उसके प्रति उद्यमी अधिक आकर्षित होता है और उन्हें उत्पादित करने का प्रयास करता है। कभी-कभी समाज भी अधिक प्रचलित उत्पादों को बिना किसी तर्क के स्वीकार करते चले जाते हैं जिससे उत्पादक की अधिकता का संज्ञान होता है।

(घ) मजदूरों की दृष्टि - जैसे हम पहले हुए समझ चुके हैं कि समाज के अन्दर ही व्यापार का संचालन होता है और इसी के प्रतिनिधि मजदूर रूप में संसाधनों का उपयोग कर उत्पादन का कार्य करते हैं। इस प्रकार समाज के ये प्रतिनिधि सामाजिक वातावरण के निर्माण का भी कार्य करते हैं। प्रायः वेतन, काम की दशाओं तथा सामाजिक सुरक्षा को लेकर इनमें और उद्यमियों में मतभेद की स्थिति पैदा हो जाती है। जिससे उत्पादन में गिरावट, लाभों में गिरावट तथा सामाजिक प्रतिष्ठा में कमी होती है। अतः घनिष्ठ और सुदृढ़ मजदूर-मालिक सम्बन्ध ही इन प्रतिनिधियों को संस्था के प्रति वफादार बनाता है जिससे समाज में इन व्यापारिक संस्थाओं के प्रति धनात्मक सामाजिक वातावरण का निर्माण सम्भव हो पाता है।

2.10 सांस्कृतिक कारक

उद्यमिता विकास के सन्दर्भ में एक सामान्य अवधारणा यह है कि ये सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों के आधार पर निर्मित होती है। उद्यमियों का यह विश्वास होता है कि उनके प्रतिष्ठान की सफलता या असफलता एक अदृश्य शक्ति के हाथों में होती है जिसे भगवान कहा जाता है। मान-सम्मान, प्रतिष्ठा आदि स्त्रोत भी इन्हीं के द्वारा प्रदान किया जाता है। ये कर्मप्रधान होते के बाद भी भाग्य पर भरोसा करते हैं और वर्षों से चली आ रही सांस्कृतिक और नैतिक अवधारणाओं के अनुरूप व्यवहार करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार समाज में व्याप्त सांस्कृतिक विचारधाराएं एक उद्यमी को निरन्तर प्रभावित करती रहती है।

2.11 सारांश

सामान्यत एक उद्यमी के लिये अपने व्यापारिक वातावरण का निरन्तर अध्ययन

करते रहना उसकी उद्यमशीलता को प्रभावी होने का अवसर प्रदान करता है। इन अध्ययनों के पूर्व वातावरणीय कारकों को दो श्रेणियों में-बाह्य तथा आन्तरिक में विभक्त कर लेना चाहिए क्योंकि एक उद्यमी के लिए वातावरण के बाह्य कारकों का विश्लेषण अति आवश्यक है जिसमें राजनैतिक, आर्थिक, कानूनी, तकनीकी एवं सामाजिक सांस्कृतिक कारकों को सम्मिलित किया जाता है।

2.12 उपयोगी शब्द कोष

परिस्थितिजन्य - वर्तमान समय के कारण उत्पन्न चुनौतियाँ।

बाह्य वातावरण - औद्योगिक इकाई की चारदिवारियों के बाहर का समस्त वातावरण।

आन्तरिक वातावरण - औद्योगिक इकाई का चारदिवारों के अन्दर का सम्पूर्ण वातावरण।

तकनीकी उन्नयनता - नई तकनीकी को बढ़ावा देना।

राजनैतिक कारक - ऐसे तत्व जो राजनैतिक दलों के शासन द्वारा तथा शासन परिवर्तन होने पर दृष्टिगत हों।

कानूनी कारक - ऐसे तत्व जो कानूनी प्रावधानों, अधिनियमों के कारण उपस्थित हों।

आर्थिक कारक - आर्थिक संरचना के तत्व जैसे - आय, व्यय, कर आदि द्वारा उत्पन्न कारक।

तकनीकि कारक - प्रौद्योगिकी तथा मशीनों द्वारा आये तत्व जिनसे व्यवसाय प्रभावित हो।

2.13 महत्वपूर्ण प्रश्नावली

प्र01 वातावरण विश्लेषण से क्या तात्पर्य है?

प्र02 वातावरण विश्लेषण की प्रमुख विशेषताओं का संक्षिप्त विवेचन कीजिये।

प्र03 वातावरण विश्लेषण क्यों आवश्यक है?

प्र04 वातावरण विश्लेषण को प्रभावित करने वाले किन्हीं चार कारकों का वर्णन कीजिये।

इकाई 3 : उद्यमिता विकास कार्यक्रम और मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.3 परिचय एवं उद्देश्य

3.3 विशेषताएँ एवं महत्व

3.4 कार्यक्रम के विभिन्न चरण

3.5 कार्यक्रम के विभिन्न क्षेत्र

3.6 कार्यक्रम क्रियान्वयन की प्रमुख संस्थाएं

3.7 भारत में ई0डी0पी0 कार्यक्रमों की सफलता के मंत्र

3.8 भारत में ई0डी0पी0 कार्यक्रमों की दशा और दिशा

3.9 सारांश

3.10 उपयोगी शब्द कोष

3.11 महत्वपूर्ण प्रश्नावली

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त आप छात्रगण-

- उद्यमिता विकास कार्यक्रम का परिचय तथा इसके उद्देश्यों को भलीभाँति आत्मसात् कर सकेंगे,
- ई0डी0पी0 कार्यक्रमों की विशेषताओं तथा इसके महत्व को रेखांकित कर सकेंगे।
- ई0डी0पी0 कार्यक्रम निर्माण के विभिन्न चरणों को विश्लेषित कर सकेंगे।
- इन कार्यक्रमों का कार्यक्षेत्र तथा इनसे सम्बन्धित विभिन्न संस्थाओं को सकेंगे।
- इन कार्यक्रमों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर इनकी सफलता के मूल मन्त्रों को भी आत्मसात् कर सकेंगे, तथा
- भारत में इसकी दशा और दिशा से परिचित हो सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

किसी भी राष्ट्र की प्रगति का आधार उस राष्ट्र की अर्थव्यवस्था होती है और अर्थव्यवस्था का निर्माण वहाँ के व्यापारिक वातावरण पर निर्भर करता है जिसका निर्माण उद्यमियों के सामूहिक प्रयासों से किया जाता है। इन्हीं प्रयासों को सुव्यवस्थित दिशा देने हेतु प्रत्येक सरकार कुछ ऐसे कार्यक्रमों का निर्माण करती है जिससे इन्हें निरन्तर प्रोत्साहन मिलता रहे और ऐसे व्यक्ति भी आगे आयें जो प्रतिभा के धनी हैं तथा आवश्यक प्रशिक्षण के अभाव में अपनी प्रतिभा को पल्लवित होने का मौका नहीं दे पा रहे हैं। प्रस्तुत इकाई में हम उद्यमिता विकास सम्बन्धित कार्यक्रमों के सम्बन्ध में, इनसे जुड़ी हुई संस्थाओं के सम्बन्ध में, इनके क्षेत्र तथा इन्हें और कैसे प्रभावी बनाया जा सकता है आदि के सम्बन्ध में अध्ययन करने का प्रयास करेंगे।

3.2 परिचय एवं उद्देश्य

भारतीय अर्थव्यवस्था को नई ऊँचाई देने में उद्यमियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है किन्तु यह तभी सम्भव है जब उनमें उद्यमशीलता के गुणों का समुचित विकास हो सके। अतः उद्यमिता सम्बन्धी विकास की प्रक्रिया को आगे बढ़ाये बिना अर्थव्यवस्था का विकास सम्भव प्रतीत नहीं होता है। इस हेतु उद्यमिता विकास कार्यक्रमों द्वारा उद्यमियों को विकास के नये अवसर प्रदान किये जा रहे हैं साथ ही साथ उन्हें प्रतियोगात्मक बाजार में किस प्रकार गुणवत्ता बनाये रखनी है, इसका भी बोध कराया जाता है।

इस प्रकार उद्यमिता विकास कार्यक्रम एक सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित कार्य है, जिसके अन्तर्गत व्यक्तियों एवं उनके समूह को उद्योग स्थापित करने, उसका संचालन करने, उसका तथा विभिन्न समस्याओं के निराकरण एवं औद्योगिक विकास के दिशा देने में कुछ विषयों एवं उनके पाठ्यक्रमों के आधार पर प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। इन कार्यक्रमों का उद्देश्य समूह में से सम्भावित उद्यमियों को तलाशना, उनमें उद्यमिता की भावना का विकास करना, उनमें उद्यमीय गुणों का विकास करना तथा सफलतापूर्वक अपना संस्थान नियोजित, स्थापित एवं संचालित करने में सहयोग प्रदान करता है।

इन कार्यक्रमों का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों को व्यवसाय से सम्बन्धित आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान कर सफल व्यवसायी बनाना है। अतः उद्यमिता विकास कार्यक्रमों के निम्नांकित उद्देश्यों का विश्लेषण किया जा सकता है। आइये इन्हें क्रमवार समझने का प्रयास करें-

(i) राष्ट्र के उद्यमियों में उद्यमीय गुणों एवं प्रेरणाओं को पुष्पित एवं पल्लवित करना।

(ii) व्यवसाय से सम्बन्धित वातावरण का विश्लेषण व मूल्यांकन करने में सहयोग प्रदान करना

(iii) नवीन उत्पाद व परियोजना के चयन के निर्माण व मूल्यांकन में आवश्यक सहयोग प्रदान करना।

(iv) परियोजना के निर्माण व मूल्यांकन में सहायता करना।

(v) उद्यमियों को उपक्रम की स्थापना सम्बन्धी आवश्यक चरणों को समझाना।

(vi) उद्यमियों को उपक्रम आरम्भ करने एवं उससे सम्बन्धित विभिन्न निर्णय करने योग्य बनाना।

(vii) उद्यमी को मूल्य आधारित उद्देश्यों को निर्धारित कर उन्हें समयानुसार परिवर्तन के योग्य बनाना।

(viii) उद्यमी को अपने एवं अपने साझेदारों के साथ समझदारी से नियोजित एवं पारदर्शी कार्य करने के योग्य बनाना।

(ix) उद्यमी को विभिन्न जोखिमों के सम्बन्ध में बताना तथा उन्हें वहन करने की क्षमता का विकास करना।

(x) आधारभूत प्रबन्धकीय कौशल एवं कुशलता को प्राप्त करने में सहायता करना।

(xi) उद्यमियों द्वारा उद्यमिता सम्बन्धी आचरणों को आत्मसात करने एवं उनके अग्रिम लाभों व दोषों से परिचित करवाना।

(xii) उद्यमियों को उनके कानूनी, सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों व उत्तरदायित्वों को समझाने में सहायता करना।

(xiii) उद्यमी को मानव संसाधन का व्यवहार समझने एवं उसके बेहतर प्रबन्धन तथा स्वास्थ्य संगठन संरचना के निर्माण हेतु सहायता सुलभ करना।

(xiv) उद्यमी में संचार क्षमता एवं इनके सुव्यवस्थित प्रयोग का ज्ञान विकसित करना।

(xv) उद्यमी में अन्तर्दृष्टि एवं ज्ञान का विकास करना जिससे वह पूर्ण व्यावसायिक वातावरण की प्रणाली को गहराई से समझ सकें।

(xvi) उद्यमी में उन क्षमताओं एवं योग्यताओं को विकसित करने का प्रयास करना जिनसे वह अपने उत्पादों का विश्लेषण बाह्य तथा आन्तरिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य में कर सकें।

(xvii) उद्यमी को अपने उपक्रम से सम्बन्धित विभिन्न नियमों तथा कार्यविधियों को समझने एवं उनका पालन करने के योग्य बनाना।

(xviii) उद्यमी में राजनैतिक निर्णय लेने की कला व विज्ञान को विकसित करना

(xix) उद्यमियों को देश के विभिन्न भागों में उपलब्ध संसाधनों की तथा भावी बाजार में सम्बन्धी आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करना।

(xx) उद्यमियों को सरकार द्वारा दी जाने वाली योजनाओं व कार्यक्रमों के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्रदान करना।

3.3 विशेषताएँ एवं महत्व

आइये समझने का प्रयास करें कि इन कार्यक्रमों की किन विशेषताओं के कारण इनकी सफलता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है-

1. यह कार्यक्रम व्यक्तियों में उद्यमशील प्रवृत्तियों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कर कुछ विशेष क्षमताओं को विकसित करने का कार्य करता है।
2. इन कार्यक्रमों द्वारा प्रारम्भिक चरण पर ही व्यक्तियों में व्यवसाय व उद्योग सम्बन्धी ज्ञान पैदा करता है।
3. ये कार्यक्रम युवकों में उद्यमीय कौशलता व कुशलता का विकास करते हैं।
4. उद्यमिता विकास कार्यक्रम एक निरन्तर व गतिशील प्रक्रिया है।
5. इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत व्यक्तियों को उद्यमी बनने की प्रेरणा देकर प्रोत्साहित किया जाता है।
6. यह मानव संसाधन विकास संसाधन का उचित प्रयोग सुनिश्चित करते हैं क्योंकि ये व्यक्तियों के व्यक्तित्व विकास को गहराई से प्रभावित करते

हैं।

7. इन कार्यक्रमों के माध्यम से उद्यमियों के व्यवहार, आचरण व सोच को नई दिशा प्रदान कर, उनकी तार्किक सोच को कार्यानुकूल बनाने का प्रयास किया जाता है।

8. यह नव व्यवसाय के प्रवर्तन, संगठन, स्थापन, संचालन एवं अन्य प्रबन्धकीय क्रियाओं हेतु सुव्यवस्थित मार्गदर्शन देने का कार्य करता है।

9. इन कार्यक्रमों द्वारा उद्यमियों को प्रशिक्षण प्रदान कर उन्हें मानसिक रूप से, शारीरिक रूप से, तकनीकी रूप से समुन्नत करने का प्रयास किया जाता है।

10. यह व्यक्तियों को स्वरोजगार की इच्छाएँ प्रदान करता है, जिससे समाज की बेरोजगारी खत्म होती है।

11. कार्यक्रमों के माध्यम से विभिन्न अभिप्रेरक वृत्तियों जैसे कार्य की इच्छा, आत्मविश्वास, निर्णयन क्षमता व आत्म सन्तुष्टि संचार आदि का विश्लेषण कर मूल्यांकन किया जाता है।

उद्यमिता विकास कार्यक्रमों के विभिन्न दृष्टिकोणों को जानने के लिए इसके महत्व का विश्लेषण करना परम आवश्यक होगा। आइये इसे समझने का प्रयास करें-

उद्यमिता विकास कार्यक्रम व्यक्तियों में प्रारम्भिक उद्यमीय गुणों को विकसित करने में महत्वपूर्ण निभाते हैं। ऐसे कार्यक्रमों में अपनायी गई कार्यविधि में व्यक्तियों को उन गुणों का प्रशिक्षण दिया जाता है जिसकी आवश्यकता सफल उद्यमी के लिए होती है। ऐसे कार्यक्रम देश के नवयुवकों में सृजनात्मक कार्यों को करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं जिसमें उनमें उनकी छिपी हुयी प्रतिभा को बाहर आने का मौका मिलता है तथा नवसृजनात्मक प्रवृत्ति का विकास भी होता है। परिवार में प्रथम पीढ़ी के उद्यमी वे होते हैं जिनके पूर्व परिवार में किसी ने भी व्यवसाय व उद्योग स्थापना को प्रारम्भ नहीं किया। ये कार्यक्रम परिवार के लोगों में उद्यमिता के गुणों का विकास करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

प्रायः ये कार्यक्रम सामान्य व्यक्तियों व उद्यमियों मे भी क्षमताओं, दृढ़निश्चय, कर्मशीलता, कौशल, निर्णय लेने की कला, अवसरों का अधिकतम लाभ उठाने,

आत्मविश्वास, हानि वहन करने की क्षमता तथा मानसिकता आदि क्षमताओं के गुणों को उत्प्रेरित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। इस प्रकार ये कार्यक्रम उद्यमी को नियोजन, निर्णयन, संगठन, संरचना, समन्वय, निर्देशन, नियन्त्रण, संचार आदि के सम्बन्ध में प्रशिक्षण प्रदान करता है जिससे प्रत्येक उद्यमी को प्रभावी एवं कुशल बनाया जा सकता है। इससे रचनात्मक मनोवृत्तियों का भी विकास होता है।

उद्यमियों में वातावरण विश्लेषण क्षमता होना परम् आवश्यक है। जिससे उनमें व्यावसायिक क्रियाओं के सम्पादन की क्षमता का विकास होता है। ये कार्यक्रम उत्पादन, विपणन, वित्त, लेखा-कर्मचारी प्रबन्ध, मूल्य निर्धारण, क्रय-विक्रय आदि व्यावसायिक प्रक्रियाओं सम्बन्धी क्षमताओं का विकास करने में भूमिका निभाते हैं। प्रभावी सम्पादन हेतु उनमें अन्तर्दृष्टि व अन्तर्ज्ञान का होना आवश्यक है। व्यवसायिक वातावरण व बाजार के अवसरों व संकटों की शीघ्र पहचान करने की क्षमताओं एवं दुर्बलताओं का आँकलन करने में अन्तर्दृष्टि व अन्तर्ज्ञान की आवश्यक भूमिका होती है। उद्यमिता विकास कार्यक्रम इन गुणों एवं क्षमताओं के विकास में महती भूमिका निभाते हैं। उद्यमियों को सफलताओं की प्राप्ति हेतु, उनमें अपने दायित्वों के प्रति जागरूकता का होना आवश्यक है। इस हेतु उनमें नैतिकता, ईमानदारी, सहानुभूति आदि के गुण होने परमावश्यक हैं।

उद्यमिता विकास कार्यक्रमों के माध्यम से उनमें इन गुणों का विकास किया जा सकता है। अतः ऐसे कार्यक्रम उद्यमियों के उनके दायित्वों के प्रति जागरूकता एवं संवेदनशीलता को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वस्तुतः उद्यमीय को कानून की बहुत अधिक जानकारी नहीं होती है किन्तु उनमें कुछ आवश्यक एवं उपयोगी कानूनी प्रावधानों की जानकारी होना चाहिए। सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थाएं उद्यमिता को प्रोत्साहित करने हेतु विभिन्न प्रकार की सहायता उपलब्ध करती हैं। इनमें वित्त आधारभूत आवश्यक संसाधन, यन्त्र, उपकरण, बाजार आदि की सेवाएं ही उपलब्ध नहीं करती हैं बल्कि इनके सम्बन्ध में महत्वपूर्ण आँकड़े एवं सूचनाएं भी उपलब्ध करती हैं। उद्यमिता विकास कार्यक्रम इन सभी संस्थाओं तक पहुँचने, सहायता उपलब्ध कराने तथा प्रक्रिया के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी देने में महत्वपूर्ण भूमिता निभाती हैं। इस प्रकार उद्यमी देश में रोजगार के अवसरों का सृजन कर आर्थिक विकास को बढ़ावा देता है। वास्तव में उद्यमी स्वयं अपने लिये ही नहीं बल्कि अन्य लोगों के लिए भी स्वरोजगार उपलब्ध कराता है।

उद्यमिता के विकास से देश में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से रोजगार के अनेक अवसरों का निर्माण होता है। इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत उद्यमियों को परियोजना के निर्माण सम्बन्धी महत्वपूर्ण चरणों की सैद्धान्तिक व प्रयोगात्मक जानकारी उपलब्ध करायी जाती है। जिससे वे परियोजना के निर्माण करने का अभ्यास स्वयं कर इनका निर्माण कर सकते हैं तथा ये सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने, उत्पाद व सेवा की गुणवत्ता में सुधार करने, उत्पादों की कृत्रिम कमी उत्पन्न न करने एवं बाजार में उचित मूल्य को बनाये रखने के बारे में सूचना प्राप्त करते हैं। इससे उन्हें सामाजिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। एक उद्यमी का संसाधनों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। जिसका प्रभावी कारण यह है कि उद्यमी को प्रत्येक संसाधन को प्राप्त करने के लिये अपनी जेब से भुगतान करना पड़ता है। इस प्रकार वह प्रत्येक संसाधन का कुशलतापूर्वक एवं प्रभावी रूप से उपयोग करता है। हमारे देश में बचतों में वृद्धि हो रही है। बचत की बहुत बड़ी राशि अभी भी लोगों के पास बेकार पड़ी रहती है। उन्हें पूंजीगत योजनाओं में निवेश करने की आवश्यकता है जिससे उद्यमी ऐसे धन का प्रभावी उपयोग कर सके।

उद्यमी सदैव सन्तुलित आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। हमारे देश में गांवों तथा दूर-दराज के इलाकों का विकास अभी अधूरा है। गांवों में उपलब्ध संसाधनों एवं क्षमताओं का पूर्ण उपयोग भी अभी होना है। इनके लिये क्षमतावान एवं योग्य उद्यमियों की आवश्यकता है। इस प्रकार उद्यमिता समाज में आर्थिक-सामाजिक सन्तुलन स्थापना का कार्य करता है। समाज में आर्थिक एवं सामाजिक असमानता है। जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अभावों से जूझ रहा है। कई लोग भूख, बीमारी, अज्ञानता, अशिक्षा, कुपोषण, सामाजिक अत्याचार एवं शोषण के शिकार हैं। इन कार्यक्रमों के माध्यम से लोगों को सुयोग्य बनाकर इन समस्याओं से मुक्ति दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी जा रही है। अतः उद्यमिता विकास कार्यक्रम अच्छे एवं क्षमतावान उद्यमियों का विकास कर देश के सन्तुलित विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

3.4 कार्यक्रम के विभिन्न चरण

ई0डी0पी0 कार्यक्रमों के सुव्यवस्थित, सुसंगठित तथा क्रमबद्ध आयोजन हेतु इसकी कार्य प्रणाली को विभिन्न चरणों में विभक्त किया जाता है। आइये समझने का प्रयास करें कि ये विभिन्न चरण किस प्रकार आयोजित किये जाते हैं-

1. **युक्तियां एवं उद्देश्य निर्धारण :** यह कार्यक्रम का प्रथम चरण होता है

जिसमें सरकार व अन्य विभिन्न इकाइयों द्वारा उद्यमिता विकास सम्बन्धी भावी योजना के अन्तर्गत विभिन्न युक्तियों एवं उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। इस चरण के अन्तर्गत कार्यक्रम सम्बन्धी मानदण्ड दीर्घकालीन लक्ष्य, नीतिगत उपाय व अन्य युक्तियों को सम्मिलित किया जाता है।

2. **प्राथमिक कार्य -** ई0डी0पी0 कार्यक्रमों से सुव्यवस्थित आयोजन हेतु प्राथमिक कार्य के रूपों में प्रारम्भिक तैयारियों की संरचना करनी पड़ती है जिसके अन्तर्गत अग्रलिखित प्राथमिक कार्यों को सम्मिलित किया जाता है:-
   - ई0डी0पी0 कार्यक्रमों के संचालन हेतु आधारभूत सुविधाओं को जुटाना,
   - विभागीकरण कर कार्यों का सुव्यवस्थित बँटवारा।
   - कुशल प्रशिक्षकों द्वारा प्रशिक्षण की व्यवस्था करना,
   - स्थान व अन्य आवश्यक सुविधाएँ सुनिश्चित करना,,
   - सरकार द्वारा प्रशिक्षण हेतु आवंटित बजट का अनुकूल विभाजन तथा प्रत्येक संस्था को इसके सुव्यवस्थित उपयोग हेतु नीति एवं नियमन की जानकारी देना तथा
   - प्रशिक्षण हेतु एक अनुकूलतम् समय-सारणी सुनिश्चित करना।
3. **सुयोग्य सदस्यों का चयन व प्रशिक्षण -** इस चरण में प्रशिक्षण पाने के इच्छुक सदस्यों का चयन किया जाता है। इस क्रम में निम्न बिन्दुओं को सम्मिलित किया जाता है-

   (i) सदस्यों के चयन हेतु मानदण्डों का निर्धारण करना,

   (ii) सदस्यों के चयन के लिए चयन समिति का गठन करना,

   (iii) सदस्यों से आवेदन पत्र प्राप्त करना उनमें से निर्धारित संख्या में प्रत्याशियों का चयन करना तथा

   (vi) प्रत्याशियों को प्रशिक्षण पूर्व कार्यक्रम की प्रारम्भिक श्रृंखला से अवगत कराना।

4. **प्रशिक्षण सम्बन्धी विशेष क्षेत्रों का निर्धारण-** ई0डी0पी0 कार्यक्रमों के सफल आयोजन हेतु सम्बन्धित संस्थाओं द्वारा कुशल एवं प्रशिक्षित विद्वानों के सहयोग से विशेष विषयों का भी विकास कर निर्धारण किया जाता है। इन विषयों में नई परियोजनाओं के निर्माण में लगने वाले समय, व्यवसाय का संवर्द्धन, संसाधनों का एकत्रीकरण उद्यमीय कुशलता एवं ज्ञान, नये क्षेत्रों एवं अवसरों के सृजन का कौशल, पूँजी संरचना के विभिन्न तत्व, नवीन उत्पाद विकास, उद्यमिता सम्बन्धी कठिनाइयों एवं चुनौतियों का सामना करने की कुशलता, आदि के सम्बन्ध में वस्तुनिष्ठ एवं व्यापक ज्ञान प्रदान करने सम्बन्धी विषयों को सम्मिलित करने का प्रयास किया जाता है।

5. **प्रशिक्षण से पूर्व का चरण -** इन कार्यक्रमों के इस चरण में सम्भावित उद्यमियों के गुणों, व्यवहारों में परिवर्तन आदि का संगठित प्रयास किया जाता है। इस चरण में प्रशिक्षण कार्यक्रम में सम्मिलित प्रत्याशियों में सफल उद्यमी के गुणों को विकसित कर उनमें उद्यमीय कौशल भरने तथा उनके व्यवहार को सुव्यवस्थित एवं विशेष कार्य संचालन की ओर निर्देशित करने का प्रयास किया जाता है। इस सम्बन्ध में अग्रलिखित बिन्दुओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है-

- सदस्यों के मानसिक एवं शारीरिक गुणों को परियोजनाओं के अनुरूप तौलने का प्रयास किया जाता है।
- सदस्यों के लिए आवश्यक एवं श्रेष्ठ कार्य वातावरण के निर्माण में सहयोग देना,
- सदस्यों को उपक्रम स्थापना के लिए प्रेरित करना,
- सदस्यों के अन्दर भविष्य में आने वाली चुनौतियों का सामना करने हेतु विभिन्न प्रकार की तकनीकियों एवं मनोबल का निर्माण करना,
- सदस्यों के विचारों एवं आचरण में आचरण एवं परियोजनाओं के समन्वय हेतु व्यवस्थित करना,
- सदस्यों के व्यवहार एवं आचरण में उद्यमीय व्यवहारों के गुणों के आत्मसात् करने की सम्भाव्यता का अध्ययन कर उन्हें नियंत्रित

करने का प्रयास करना, तथा

- सदस्यों द्वारा अपने वातावरण को पूर्णतः समझने व इसके साथ सामंजस्य स्थापित करने सम्बन्धी प्रयासों को फलीभूत करना।

6. **प्रशिक्षण पश्चात् का चरण-** यह प्रशिक्षण का अन्तिम चरण होता है जिनमें अग्रलिखित बिन्दुओं को सम्मिलित किया जाता है-

- प्रशिक्षक यह जाँच करने का प्रयत्न करते हैं कि सदस्य प्रशिक्षण से कितने लाभान्वित हुए या उन्हें इस प्रशिक्षण अवधि में किस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।
- प्रशिक्षक प्रशिक्षुओं की औपचारिक जाँच करते हैं जिससे उनके मानसिक व शारीरिक क्षमताओं का मूल्यांकन हो सके।
- प्रशिक्षकों द्वारा इस सम्बन्ध मे जाँच की जाती है कि प्रशिक्षण विषयों में दी गई विषय-वस्तु का व्यवहारिक एवं व्यवसायिक जीवन में कितना महत्वपूर्ण उपयोग हो रहा है, तथा
- प्रशिक्षण कार्यक्रमों में आने वाली चुनौतियों एवं कठिनाइयों की जाँच कर उसके निदान हेतु विभिन्न वैकल्पिक मांगों का निर्धारण करना।

3.5 कार्यक्रम के विभिन्न क्षेत्र

उद्यमिता विकास कार्यक्रमों के पाठ्यक्रमों के लिये मुख्य क्षेत्र तय किये गये हैं जिसके अन्तर्गत अपेक्षित विषय सामग्री का प्रारूप कुछ इस प्रकार से तय किया गया हैः-

1. उद्यमिता सामान्य परिचय के अन्तर्गत उद्यमिता की प्रकृति, इसका वर्गीकरण, महत्व सफलता हेतु आवश्यक बातें, तथा उद्यमशील व्यवहार सम्बन्धी आवश्यक तत्वों को सम्मिलित किया जाता है।
2. उद्यमी वर्ग की विषय-वस्तु के अन्तर्गत अपेक्षित गुण व कौशल उद्यमियों के कार्य व भूमिका वर्गीकरण तथा उद्यमियों के अपेक्षित व्यवहार को सम्मिलित किया जाता है।
3. अभिप्रेरणा की विषय-वस्तु के अन्तर्गत आत्मविश्वास जागृत करने हेतु विशेष उपाय, कार्य के प्रति लगन व निष्ठा उत्पन्न करने सम्बन्धी उपाय उपलब्धि की उच्च आकांक्षा।

4. अग्रणी व सफल उद्यमियों से भेंट करना व उनके व्याख्यान सुनना, पढ़ना तथा श्रेष्ठ उपलब्धियों की प्राप्ति हेतु व्यावहारिक उपायों पर विशेष ध्यान देना आदि को सम्मिलित किया गया है।
5. प्रबन्धकीय ज्ञान की विषयवस्तु से युक्तियों, लक्ष्यों व नियोजन के निर्माण का प्रारम्भिक ज्ञान, प्रबन्ध के नवीन की जानकारी आदि को प्रशिक्षण के लिए सम्मिलित किया गया है।
6. तकनीकी ज्ञान के अन्तर्गत निर्माण प्रक्रिया का सुव्यवस्थित ज्ञान कच्चे माल एवं अन्य आधारभूत संसाधनों का ज्ञान श्रम विभाजन का ज्ञान, उत्पाद विकास की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान तथा उत्पाद जीवन चक्र व कार्य विधियों के ज्ञान को सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है।
7. सहायक सेवाओं के अन्तर्गत निर्माण कार्य में पूरक व सहायक इकाई की भूमिका, उत्पादन कार्य की सहायक व सहयोगी इकाईयों के नाम इसके विकास में योगदान देने वाली संस्थाओं के योगदान का ज्ञान, को रखा व सम्मिलित किया जाता है।
8. बाजार सर्वेक्षण विषय में बाजार अवसरों की पहचान, बाजार विभक्तिकरण, विपणन मिश्रण तथा विपणन शोध जैसे महत्वपूर्ण विषयों को सम्मिलित किया जाता है।
9. परियोजना सम्बन्धित विषय में परियोजना निर्माण का ज्ञान विषयवस्तु के बारे में जाँच तथा उपक्रम की समस्त कार्य योजना के अनुरूप सम्भावित परिणामों आदि को रखा जाता है।

3.6 कार्यक्रम क्रियान्वयन की प्रमुख संस्थाएं

भारत सरकार ने उभरते हुए उद्यमियों को प्रत्येक स्तर पर सहायता प्रदान करने हेतु विभिन्न प्रयास किये हैं जिनमें उद्यमिता विकास कार्यक्रम प्रमुखता से अपना सहयोग करता आया है। इस कार्यक्रम में अपना सहयोग देने वाली कुछ प्रमुख नियामक सलाहकारी तथा कार्यकारी सस्थाएँ अग्रलिखित हैं। इन संस्थाओं का विस्तार से अध्ययन हम अगली इकाई में करेंगे-

- राष्ट्रीय लघु उद्योग विस्तार प्रशिक्षण संस्थान, हैदराबाद,

- राष्ट्रीय उद्यमिता एवं लघु व्यवसाय विकास संस्थान, नोएडा (उ0प्र0)
- भारतीय उद्यमिता विकास संस्थान,
- भारतीय उद्यमिता संस्थान, गोहाटी,
- लघु उद्योग विकास संस्थान,
- लघु उद्यमी प्रोत्साहन एवं प्रशिक्षण संस्थान, तिरूवल्ला,
- भारतीय लघु उद्योगों के संगठनों का परिसंघ. तथा
- परामर्श संगठन।

3.7 भारत में ई0डी0पी0 कार्यक्रमों की सफलता के मंत्र

सामान्यतः भारत में इस प्रकार के कार्यक्रम निरन्तर आयोजित किये जाते रहे हैं, जिनमें विभिन्न प्रकार की संस्थाओं का परोक्ष व अपरोक्ष सहयोग निरन्तर बना रहता है, किन्तु निरन्तर परिवर्तनीय व्यापारिक परिस्थितियों में इनके सफल प्रशिक्षण का महत्व बढ़ता जा रहा है। आने वाले समय में इन कार्यक्रमों को अपनी सार्थकता और प्रभाविता सिद्ध करनी होगी जिस हेतु इन कार्यक्रमों में अग्रिलिखित विभिन्न बिन्दुओं को केन्द्रित करते हुए अपनी प्रक्रिया को सुव्यवस्थित करने का प्रयास निरन्तर करते रहना चाहिए-

- इस प्रकार के कार्यक्रमों की संरचना एवं प्रशिक्षण में क्षेत्र एवं प्रदेश विशेष के विभिन्न प्रभावी कारकों को सम्मिलित करते हुए इनका सफल विशेषणात्मक ज्ञान प्रशिक्षुओं को प्रदान करना होगा।
- इस प्रकार के कार्यक्रमों में कपोल कल्पना को छोड़ वास्तविक कारकों पर अधिक ध्यान केन्द्रित करना होगा एवं प्रयोगात्मक ढंग से प्रशिक्षक को विभिन्न संस्थाओं को अन्तरविषयक दृष्टिकोणों से अपने प्रशिक्षु कों समझाने का प्रयास करना होगा।
- इन कार्यक्रमों के अन्तर्गत ही प्रशिक्षुओं को विभिन्न सहायता प्रदान करने वाली संस्थाओं के प्रतिनिधियों से मुलाकात व प्रशिक्षण दिलाने की भी व्यवस्था करनी चाहिए। जिससे ये प्रत्येक सहायक संस्थाओं के कार्यकलापों एवं प्रक्रिया को आसानी से आत्मसात् कर सकें।
- इन कार्यक्रमों को विभिन्न चरणों में विभक्त कर सर्वप्रथम ऐसे व्यक्तियों

को सम्मिलित करना चाहिए कि जिन्हें पूर्व में व्यवसाय का कुछ ज्ञान हो और जो थोड़े ही प्रयासों से कुछ अच्छा कर दिखाएं तत्पश्चात् इसी प्रकार के सदस्यों का चयन कर उन्हें कार्यक्रम की तरफ उत्कृष्ट करने का प्रयास करना चाहिए।

- यूँ तो इन कार्यक्रमों के प्रशिक्षण में उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण होने की कोई व्यवस्था नहीं होती। अतः इन कार्यक्रमों का निरन्तर पुनरावलोकन आवश्यक होता है जिससे इसकी सफलता का मूल्यांकन निरन्तर किया जा सके।
- प्रायः इस प्रकार के कार्यक्रम सरकारी संस्थाओं द्वारा निःशुल्क आयोजित किये जाते हैं। लेकिन अगर सम्भव हो तो प्रशिक्षुओं से इस प्रकार के कार्यक्रम का कुछ शुल्क अवश्य लिया जाना चाहिए, जिससे इनमें रूचि एवं सीखने की ललक बनी रहे।
- इस प्रकार एक प्रभावी ई0डी0पी0 कार्यक्रम के निर्माण हेतु उपरोक्त सुझावों का अनुपालन उचित होगा। इसकी प्रभाविता को सिद्ध करने हेतु इनमें सम-सामयिक विषयों का सम्मिलन, योग्य प्रशिक्षक तथा कुशल नेतृत्व प्रबन्धकीय ज्ञान जैसे गुणों का मिश्रण भी रखना समीचीन होगा।

3.8 भारत में ई0डी0पी0 कार्यक्रमों की दशा एवं दिशा

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही भारत में औद्योगीकरण को लेकर प्रयासों की श्रृंखला प्रारम्भ हो चुकी थी। इस प्रयासों में, भारतीय नागरिकों में उद्यमिता के गुणों को विकसित करने का भी एक सफल प्रयास शुरू हुआ, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक राज्य में उद्यमिता विकास कार्यक्रमों का आयोजन प्रारम्भ हुआ। इन उपलब्धियों के विषय में कह सकते हैं कि उद्यमिता विकास कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप लघु औद्योगिक इकाइयों की संख्या में उत्तरोत्तर एवं आशातीत वृद्धि हुई है। सन् 2006-07 में इनकी संख्या लगभग 122 लाख से अधिक हो चुकी थी। इसी प्रकार वर्ष 2007-08 में पंजीकृत औद्योगिक लघु इकाईयों में स्थायी निवेश 1,80,000 करोड़ रुपये के लगभग हुआ है तथा स्थिर मूल्यों पर कुल उत्पादन 6 लाख करोड़ रुपये के बराबर रहा। रोजगार सृजन के क्षेत्र में वर्ष 2007-08 में लघु उद्योगों ने लगभग 285 लाख लोगों को रोजगार प्रदान किया। वस्तुतः वर्ष 2007-08 में कारखानों की संख्या सार्वजनिक क्षेत्र में लगभग 18 हजार तथा निजी क्षेत्रों में लगभग 1,18,000 रही है।

भारत जैसे विकासशील देश के लिए ई0डी0पी0 कार्यक्रम उस प्रारम्भिक एवं महत्वपूर्ण आधार की तरह है जिसके ऊपर सम्पूर्ण आर्थिक संरचना के विकास का दायित्व टिका है। इन कार्यक्रमों का सफल आयोजन किसी भी व्यक्ति को इस योग्य बना सकता है कि वो एक व्यापारिक संस्था की स्थापना कर अनेक बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार प्रदान कर देश की आर्थिक व्यवस्था की संरचना को मजबूत आधार प्रदान कर सकता है किन्तु वर्तमान व्यवस्था का अवलोकन करने के पश्चात् यह तथ्य उजागर होता है कि अभी तक इसका प्रयोग पिछड़े इलाकों में औद्योगीकरण करने तक ही सीमित रहा है जबकि इन कार्यक्रमों की आवश्यकता उस भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए है जो स्वरोजगार के माध्यम से प्राकृतिक संसाधनों का सदुपयोग एवं समन्वय करते हुए स्वयं रोजगार सृजन करता है तथा क्षेत्र-विशेष के व्यक्तियों को भी रोजगार पाने का अवसर प्रदान करता है।

भारतवर्ष में इस तरह के कार्यक्रमों का संचालन एवं आयोजन लगभग दर्जन से अधिक सरकारी तथा अर्द्धसरकारी संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है। जिसका अध्ययन हम पहले कर चुके हैं किन्तु व्यापक प्रचार व प्रसार न होने के कारण इसकी व्यापकता उन जरूरत मंद व्यक्तियों तक ही पहुँच पा रही है जिन्हे वास्तव में इन कार्यक्रमों से लाभ मिल सकता है। इन कार्यक्रमों का संचालन एवं आयोजन केन्द्रीय सरकार और प्रादेशिक सरकार का सम्मिलित दायित्व होता है किन्तु दुर्भाग्य से यह योजना भी निरन्तर राजनैतिक कारणों का शिकार होती रही है। कभी केन्द्र सरकार से योजना आती है तो प्रदेश स्तर पर क्रियान्वयन नहीं होता है और कभी जब प्रदेश क्रियान्वयन करना चाहता है तब केन्द्र सरकार अपने हांथ खींच लेती है, इस प्रकार उचित समन्वयन के अभाव में ये कार्यक्रम अपने व्यापक उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। शायद इसका सबसे बड़ा कारण सरकारों और संस्थाओं द्वारा अर्थव्यवस्था के विकास में तथा बेरोजगारी घटाने के क्षेत्र में इसकी भूमिका का महत्व स्वीकार न किया जाना है।

वहीं दूसरी ओर जिन क्षेत्रों में यह कार्यक्रम संचालित हो रहे हैं वहाँ इनका परिणाम शत-प्रतिशत रहा है। बेरोजगारी घटी है, क्षेत्र का विकास हुआ है तथा ये क्षेत्र विशेष स्वावलम्बन की दिशा में अग्रेतर रहे हैं। इन कार्यक्रमों की दुर्दशा के पीछे इन पर खर्च होने वाली धनराशि भी है, जिसकी सदैव से ही बन्दरबांट होती आयी है।

3.9 उपयोगी शब्द कोष

उद्यमिता विकास कार्यक्रम - एक सुनिश्चित कार्य एवं सम्बद्ध कार्यक्रम

जिससे व्यक्तियों को उद्योगों की स्थापना से लेकर बाजार तक सभी व्यापारिक पहलुओं का ज्ञान प्रदान किया जाता है।

नवीन उत्पाद - कम्पनी विशेष द्वारा बाजार में पूर्व से उपस्थित उत्पादों के स्थान पर नये उत्पादों का विकास कर बाजार में उपलब्ध कराना।

मानव संसाधन - वे मानव जिनके द्वारा कम्पनी के विभिन्न कार्यों का संचालन, समन्वयन एवं उत्पादन करना होगा।

3.10 महत्वपूर्ण प्रश्नावली

प्र01 उद्यमिता विकास कार्यक्रम क्या हैं? वर्णन करें।

प्र02 उद्यमिता विकास कार्यक्रम के क्या उद्देश्य हैं? विस्तार से समझाइये।

प्र03 उद्यमिता विकास कार्यक्रमों की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

प्र04 उद्यमिता विकास कार्यक्रमों की उपलब्धियों को स्पष्ट कीजिये।

प्र05 उद्यमिता विकास से आप क्या समझते हैं? उद्यमिता विकास कार्यक्रमों की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिये।

इकाई 4 : सरकार तथा अन्य संगठनों की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.3 सरकार की भूमिका

4.4 सहयोगी संगठनों की भूमिका एवं कार्य

4.5 सरकारी प्रयासों में बाधक कारक

4.6 प्रयासों को प्रभावी बनाने का उपाय

4.7 सारांश

4.8 उपयोगी शब्द कोष

4.9 महत्वपूर्ण प्रश्नावली

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययनोपरान्त आप सभी छात्रगण अग्रलिखित उद्देश्यों को प्राप्त कर सकेंगे-

- उद्यमिता को बढ़ावा देने में सरकार की भूमिका का विवेचन कर सकेंगे,
- सरकार के साथ-साथ अन्य सहयोगी संगठनों की भूमिका तथा उनके कार्यों को समझ सकेगें, तथा
- सरकार तथा अन्य संगठनों की भूमिका को प्रभावी बनाने के उपाय जान सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

विगत इकाईयों में हम पहले ही जान चुके हैं कि भारत में ऐतिहासिक काल से उद्यमिता किसी न किसी स्वरूप में अपने अस्तित्व को स्वीकार कराती रही है। भारत में विभिन्न उत्पादों ने देश-विदेश में अपनी सफलता के झण्डे गाड़े हैं, अपनी कला-कौशल एवं शिल्पकारी का लोहा मनवाया है। समय के साथ-साथ तकनीकी, मानव संसाधन, कच्चेमाल, बाजार आदि में निरन्तर परिवर्तन होता आया है। इसी के अनुरूप उद्यमिता विकास का स्वरूप भी निरन्तर परिवर्तित होता आया है। इस प्रकार हमारे देश में उद्यमिता

का प्रथम चरण लघु उद्यमियों को समर्पित रहा और वही लघु उद्योग आज विशाल औद्योगिक घरानों के रूप में परिवर्तित हो गये हैं जो भारत का गौरव बढ़ा रहे हैं। इसके साथ-साथ अन्य व्यक्तियों को भी उद्यमिता अपनी तरफ निरन्तर आकर्षित कर रहा है। आप सभी अब तक भलीभाँति यह जान चुके हैं कि हमारी पिछली शताब्दी के चारों दशक आर्थिक व्यवस्था के सन्तुलन से जूझते रहे, चारों तरफ बड़े-बड़े औद्योगिक घरानों की पैठ रही व्यवस्था में, क्षेत्र विशेष तथा जाति विशेष लोगों का बोल-बाला रहा है। उद्योग धन्धों का विकास विकसित महानगरों तक ही सिमटा रहा तथा लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास न्यून होता चला गया।

1992 के आर्थिक उदारीकरण के पश्चात् सरकार ने उद्यमिता के क्षेत्र में नई क्रान्ति लाते हुए लघु उद्योगों को प्रोत्साहन देने का निर्णय लिया। प्रस्तुत इकाई हमें सरकार तथा इसके विभिन्न कार्यों को भी विस्तार से समझा सकेगी इसके साथ ही इन संस्थाओं के कार्यों को किस प्रकार और प्रभावी बनाया जा सकता है, इस पर भी प्रकाश डालने का प्रयास करेगी।

4.3 सरकार की भूमिका

उद्यमिता के क्षेत्र में सरकार की भूमिका का अध्ययन करने हेतु हम इन्हें दो काल खण्डों में विभाजित कर सकते हैं, यथा - स्वतंत्रता के पूर्व तथा स्वतंत्रता के पश्चात्। आप सभी इस तथ्य से अवगत हैं कि भारत में आधुनिक कारखानों की नींव सन् 1950 में प्रारम्भ हुई कही जाती है। जिसे एक पारसी उद्यमी ने अपने उद्यमशीलता के गुणों का प्रदर्शन करते हुए, कपड़े की मिल के रूप में बम्बई में प्रारम्भ की थी। इसके पश्चात् ही अन्य लोगों ने इस कारखाने से प्रोत्साहित होते कई प्रकार की कपड़ा, जूट, लोहा आदि छोटे-छोटे कारखानों की स्थापना की। इनमें कानपुर, दिल्ली, मुरादाबाद, बंगलौर, हैदराबाद, सूरत, आदि प्रमुख स्थान रहें। सनद रहे, तबकी विदेशी सरकार ने भारत के इन उद्योगों के सम्बन्ध में न तो कोई नीति बनाई थी और न ही उद्यमिता को बढ़ावा देने का प्रयास किया था। इस प्रकार विदेशी सरकार की उदासीनता एवं असहयोगजनक व्यवहार के फलस्वरूप अनेक उभरते हुए उद्यमियों ने अपनी उद्यमशीलता को क्षरण से बचाने हेतु अन्य देशों की धरती पर अपनी उद्यमशीलता को प्रदर्शित किया और उद्योगों की स्थापना की। इस प्रकार स्वतंत्रता-पूर्व का काल निरन्तर उद्यमियों के देशान्तर का काल रहा, जिसमें तत्कालीन सरकारें इस ओर उदासीन रहीं।

दूसरी ओर स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से अदतन काल का विवेचन करें तो पायेंगे, पहली पंचवर्षीय योजना से ही उद्यमिता विकास को गति और बढ़ावा मिला। इस समय निरन्तर नये उद्योगों की स्थापना तथा पुराने उद्योगों का कायाकल्प होता रहा, जिससे इस समय उद्यमिता विकास का नया अध्ययन प्रारम्भ हुआ, जब भारत के हर वर्ग में उद्यमिता विकास का महत्व समझा गया और अपने अन्दर इसके गुणों का विकास कर अनेक प्रकार की छोटी-छोटी बड़ी इकाईयों की स्थापना की गई। व्यापार के प्रवर्तन, नवीनीकरण, जोखिम, वहनीयता, नवीन उत्पाद विकास व निर्माण व्यवस्थाओं की प्रक्रियाओं में सुधार विज्ञापन, खोज जैसे रचनात्मक क्षेत्रों मे कार्य से प्रारम्भ हुआ।

इस दौर में हरित क्रान्ति के पश्चात् देश में आम आदमी के सामाजिक आर्थिक व राजनैतिक जीवन में व्यापक परिवर्तन परिलक्षित हुए, जिससे सरकार ने भी उद्यमिता विकास के महत्व को समझा तथा इसके नियोजन हेतु अग्रलिखित उद्देश्यों का निर्धारण किया -

क) आर्थिक विकास में निजी तथा सार्वजनिक उद्योगों के मध्य सत्ता का तार्किक वितरण।

ब) औद्योगीकरण का विकेन्द्रीकरण कर इसको सबसे छोटी इकाई गाँव तथा कस्बों में स्थापित करना।

स) देश के सभी वर्गों में उद्यमिता के गुणों का विकास करते हुए औद्योगीकरण को बढ़ावा देना।

ऊपर वर्णित उद्देश्यों की सुनियोजित प्राप्ति हेतु तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी जी ने तीन प्रकार की सरकारी भूमिका को देश के समक्ष प्रस्तुत किया -

सरकारी भूमिका		
नीति निर्धारण में	कार्य के सम्बन्ध में	संस्था के सम्बन्ध में

आइये इन भूमिकाओं का क्रमवार विस्तार से गहन विवेचना प्रारम्भ करें :-

1. नीति निर्धारण में - उद्यमिता विकास की ओर उठाया गया वह प्रथम चरण है जिसके अन्तर्गत सरकार द्वारा एक सुनियोजित प्रक्रिया द्वारा नीति-निर्धारण का कार्य किया जाता है। इन प्रक्रिया में अग्रलिखित चरणों को सम्मिलित किया जाता है-

(क) औद्योगिक नीति का स्वरूप निर्धारण - औद्योगिक एवं आर्थिक

विकास की योजनाबद्ध प्रक्रिया में सरकार का प्रारम्भिक कदम औद्योगिक नीति का निर्धारण किया जाना होता है। इस नीति के अन्तर्गत आधारभूत उद्योगों की स्थापना व नीति उद्यमियों को बढ़ावा देने का दायित्व मूल रूप से समाहित किया जाता है। अब तक की विभिन्न नीतियों में आधारभूत उद्योगों खनिज, संचार, यातायात आदि की स्थापना पर अधिक जोर दिया गया साथ ही संयुक्त-उद्यमिता के साथ ग्रामीण व खादी उद्योगों के विकास पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया। वर्ष 1992 के उदारीकरण के पश्चात् उद्योगों की संस्थापित क्षमता के अनुकूलतम उपयोग, आधुनिकीकरण व विनियोजन के क्षेत्रों को बढ़ाने के गम्भीर प्रयास किये गये। जिसके अन्तर्गत लाइसेन्स प्रक्रिया का सरलीकरण कर, निजी उद्यमशीलता की सहभागिता को बढ़ावा देने का निरन्तर प्रयास किया जा रहा है।

(ख) व्यापारिक नीतियों का निर्माण - निजी उद्यमिता के प्रोत्साहन स्वरूप सरकारी प्रयासों के अन्तर्गत अनेक व्यापारिक नीतियों का स्वरूप निर्धारण किया जा रहा है जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने मौद्रिक नीति, आयात-निर्यात नीति, कर नीति, लाइसेन्स नीति, मूल्य नीति आदि के सम्बन्ध में निरन्तर नये-नये प्रावधानों को अपनाया है। इन नीतियों से निजी उद्यमियों को अपनी कार्य योजना के सम्बन्ध में व्यावसायिक दृष्टिकोण से उचित मार्ग निर्देशन भी प्राप्त होता है। मूलतः सरकार की दृष्टि में इन उद्देश्यों तथा इन नीतियों की सहायता से व्यावसायिक प्रक्रियाओं को सरल, सुसंगत, लाभप्रद, उपयोगी व प्रभावी बनाकर उद्यमशीलता का विकास करना है।

(ग) लाइसेन्स प्रक्रिया का तार्कीकरण - नवीन उद्यमशीलता सदैव से ही लाइसेन्स प्रक्रिया से प्रभावित रही है। लाइसेन्स प्रक्रिया के तार्कीकरण के अभाव में उद्यमशीलता का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया। इस सत्य पर विचार करते हुए सरकार ने उद्यमशीलता को प्रोत्त्साहित करने के ध्येय से समय-समय पर लाइसेन्स प्रक्रिया का तार्कीकरण कर इसे सरल बनाने का प्रयास किया है। इसके अन्तर्गत लघु एवं कुटीर उद्योगों को लाइसेन्स से मुक्त रखने, क्षमता का उचित एवं पर्याप्त विस्तार कर सुलभता से तकनीकी उपलब्ध कराने एवं सन्तुलित क्षेत्रीय विकास को पाना रहा है। इस प्रकार लाइसेन्स प्रक्रिया के तार्कीकरण से प्रक्रिया का सरलीकरण हुआ है। जिससे उद्यमियों को प्रोत्साहित कर उद्यमिता को पर्याप्त गति प्रदान की जा सके।

4. औद्योगिक क्षेत्रों का निर्धारण - सरकार ने अपनी विभिन्न नीतियों के अन्तर्गत मुख्यतः तीन प्रकार से औद्योगिक क्षेत्रों की पहचान की है, तथा - आधारभूत

क्षेत्र, भारी क्षेत्र तथा लघु क्षेत्र। इस प्रकार सरकार ने इन विभाजित क्षेत्रों के अनुसार इन्हें लाइसेन्स प्रक्रिया में प्रोत्साहन देने, विभिन्न प्रकार की वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने, उन्नत तकनीकी प्रदान करने संसाधन क्षमता विस्तार का निर्धारण करने तथा अन्य कार्यशील सुविधाएँ प्रदान करने सम्बन्धी नीतिगत उपायों का निर्धारण किया है।

5. पंचवर्षीय योजनाओं का प्रभावी उपयोग - यूँ तो 1952 से ही भारत में पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारम्भ हो चुका था किन्तु इनमें उद्यमिता को बढ़ावा देने वाले तत्वों का निरन्तर अभाव बना रहा। लेकिन 1992 के उदारीकरण के पश्चात् केन्द्र और राज्य सरकारों ने इन योजनाओं में उद्यमशीलता के प्रोत्साहन को दृष्टिगत करते हुए आर्थिक व औद्योगिक विकास के विभिन्न पहलुओं का समायोजन प्रारम्भ किया। जिसमें उद्योगों के विकास व उद्यमिता को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से विभिन्न प्रकार के नीतिगत प्रस्तावों, कार्यशील उपायों व प्रेरणाओं को शामिल किया गया।

6. सुझावात्मक समितियों का निर्धारण - भारत सरकार ने नवीन उद्यमिता को प्रोत्साहित करने, इनकी सम्बन्धित समस्याओं का गहन विश्लेषण की अध्ययन करने, परामर्श देने तथा विभिन्न प्रकार के क्षेत्रों में उद्यमशील प्रवृत्तियों का सम्भावनाओं के आँकलन हेतु समय-समय पर अनेक समितियों का गठन करती आई हैं। इनमें ग्रामीण व लघु उद्योग समिति, डा0 लोकनाथ समिति, खुसरों समिति, रंगराजन समिति आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। इन समितियों ने अध्ययनोपरान्त अपनी सिफारिशों व रिपोर्टों के माध्यम से निरन्तर उद्यमिता को नये आयाम देने की कोशिश की है।

2. कार्यकारी उपाय - निजी उद्यमिता विकास के इस द्वितीय सोपान के अन्तर्गत सरकार ने अग्रलिखित चरणों को सुव्यवस्थित रूप से नियोजित किया है-

(क) संसाधनों की उपलब्धता व पर्याप्तता - सरकार द्वारा किये गये नीतिगत प्रयासों से जहाँ एक ओर उद्यमिता को अत्यधिक विकास का मौका मिला है वहीं दूसरी ओर विभिन्न आधारभूत संसाधनों की उपलब्धता का प्रश्न भी सामने आया है। इस प्रश्न के उत्तर में सरकार ने विभिन्न प्रावधान कर आधारभूत संसाधन उपलब्ध कराने का प्रयास किया है। प्रायः भारत के सभी राज्यों में उद्योग विकास सम्बन्धी निगम व अन्य सहयोगी संगठनों की स्थापना की गई, जो निरन्तर उद्योगों के विकास हेतु निरन्तर आधारभूत संसाधन उपलब्ध करवा रहे हैं।

(ख) परियोजनाओं की स्वीकृति - सरकार ने अपने प्रयासों के अन्तर्गत

लघु उद्यमियों द्वारा विभिन्न परियोजनाओं के शीघ्र अनुमोदन व निस्तारण करने के उपायों को प्रस्तुत किया है। इस हेतु उद्योग निदेशालयों की कार्यशैली में अमूल-चूल परिवर्तन किये गये हैं तथा संरचनात्मक परिवर्तन करते हुए प्रस्तुत परियोजनाओं के शीघ्र निस्तारण पर बल दिया जा रहा है।

(ग) कार्यशालाओं व समूह चर्चाओं का आयोजन - उद्यमिता विकास से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के पहलुओं पर प्रकाश डालने एवं विचार विमर्श हेतु सरकार समय-समय पर समूह चर्चाओं व कार्यशालाओं का आयोजन निर्धारित करती है। विभिन्न सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं द्वारा अपने-अपने प्रतिनिधियों को भी इसमें सहभागिता करने का निर्देश दिया जाता है तथा इसके आयोजन हेतु विभिन्न प्रकार की वित्तीय व तकनीकी सहायता भी उपलब्ध करवाई जाती है।

(घ) संघानात्मक अध्ययन - उद्यमिता तथा उद्यमशीलता के सन्दर्भ में नित नये परिवर्तनों का ज्ञान प्राप्त करने हेतु सरकार शोध व अनुसंधान कार्यों को भी करवा रही है। देश के उच्च शैक्षिक संस्थानों, यथा आई0आई0एस0 विभिन्न विश्वविद्यालयों, राष्ट्रीय अनुसन्धान केन्द्र तथा विभिन्न प्रदेशों के विभिन्न उद्यमिता संस्थाओं में होने वाले शोध तथा उनके परिणामों को आत्मसात् कर मान्यता प्रदान कर रही है। इस समय लगभग दो हजार अनुसन्धान केन्द्रों के माध्यम से उद्यमशीलता के विभिन्न पहलुओं के बारे में शोध व अनुसंधान कर इसके विकास को तीव्र गति देने का प्रयास कर रही है।

(च) औद्योगिक क्षेत्रों का निर्धारण - समग्र रूप से उद्यमीय विकास हेतु सरकार गम्भीर प्रयासों के अन्तर्गत विशेष प्रकार के क्षेत्रों को औद्योगिक क्षेत्र के रूप में मान्यता प्रदान कर, उस क्षेत्र विशेष को औद्योगिक बस्तियों के रूप में परिलक्षित कर रही है। इस सम्बन्ध में उ0 प्र0 के नोयडा तथा ग्रेटर नोयडा औद्योगिक विकास प्राधिकरण ने अत्यधिक सराहनीय कार्य किये हैं। यहाँ उद्योगों के लिये कच्चामाल, वाणिज्यिक सुविधायें, बीमा, बैंकिंग, परिवहन, तथा संचार आदि की सभी विश्वस्तरीय सुविधाओं की भरमार है। इसी प्रकार अन्य पिछड़े हुए क्षेत्रों में जिला उद्योग केन्द्र, लघु उद्योग विकास निगम व उद्योग निदेशालय भी अपनी-अपनी उपस्थित दर्ज करवा रहे हैं।

(छ) उद्यमीय सहायता केन्द्र की स्थापना - उद्यमीय गुणों को प्रोत्साहित करने के हितार्थ सरकार ने औद्योगिक विकास-विभाग के माध्यम से प्रत्येक राज्य में एक उद्यमीय सहायता केन्द्र की स्थापना की है। यह उद्यमियों को संसाधनों की प्राप्ति, पूँजीगत

माल के क्रय व आयात, मशीनों की क्षमता निर्धारण आदि के सम्बन्ध में सहायता व मार्ग दर्शन प्रदान करती है। इस प्रकार के सहायता केन्द्र उद्यमियों की विभिन्न समस्याओं के निदान का प्रयास भी करती है।

(ज) उत्पादकता परिषदों का निर्माण - उद्यमीय विकास को ध्येय करते हुए, सरकारी प्रतिनिधियों, श्रमिक प्रतिनिधियों व उद्योगपतियों के सम्मिलन से उत्पादकता परिषदों का गठन किया है। इन परिषदों का प्रमुख कार्य उत्पादकता व गुणवत्ता बढ़ाने के लिए परामर्श, मार्गदर्शन सहायता एवं प्रशिक्षण की सुविधा की व्यवस्था करना होता है।

(झ) प्रमापीकरण व श्रेणीयन - वर्तमान समय सम्पूर्ण गुणवत्ता प्रबन्धन का समय है। अतः औद्योगिक उत्पादन की सम्पूर्ण गुणवत्ता व श्रेणीयन सम्बन्धी उपायों को अपनाने, प्रोत्साहित करने, मूल्यांकन करने के लिए सरकार निरन्तर प्रमापीकरण व श्रेणीयन कार्यों की गुणवत्ता व सुविधाओं को बढ़ाने का कार्य कर रही है। इस कार्य के लिए भारतीय संस्थान के सुझावों को निरन्तर प्रशिक्षण के माध्यम से उद्यमियों के मध्य संस्थापित किया जा रहा है। तैयार उत्पाद में उपयोग हुई सामग्रियों को प्रमाणित व चिन्हित करने के उद्देश्य से यह संस्थान औद्योगिक इकाइयों की गहन जाँच करता है। जिससे इनकी कार्य प्रणाली, निस्पादन स्तर, बाधाओं एवं अन्य संभावित जोखिमों से सम्बन्धित तत्वों का ज्ञान होता है तथा सुधारात्मक कदन उठाने से उद्यमियों की अनेक समस्याओं का निवारण स्वतः हो जाता है।

(ञ) प्रबन्ध विकास का ज्ञान :- उद्यमिता का मूल विकास समन्वित प्रबन्धकीय तकनीकों पर आधारित होता है। सरकार का निरन्तर यह प्रयास रहा है कि अपने नव उद्यमियों को प्रबन्ध क्षेत्र की विभिन्न विकासशील युक्तियों से परिचित करवाया जाये, जिससे वे इनका प्रभावी उपयोग कर सम्पूर्ण गुणवत्ता को बनाये रखते हुए प्रतिस्पर्धा का सामना कर सकें। इस हेतु विभिन्न प्रबन्धन संस्थानों को उद्यमिता प्रबन्ध सम्बन्धी पाठ्यक्रमों के आयोजन का दायित्व सौंपा गया है। वैसे भी उद्यमिता विकास सम्बन्धी विभिन्न कार्यशालाएँ प्रबन्ध विज्ञान के बहुआयामी पहलुओं से सम्बद्ध विषयों को भी अपनी कार्य सूची में सम्मिलित करती है।

(ट) पूँजी प्राप्ति का सरलीकरण - प्रायः लघु उद्यमी अपनी बचतों से ही अपने उपक्रम का प्रारम्भ करता है। पिछले कुछ वर्षों में सरकार का ध्यान इन उपक्रमों

के पर्याप्त विकास की ओर गया है। जिसके लिए सरकार ने कई उदार नीतियों का निर्माण किया तथा इनके प्रभावी अनुश्रवण हेतु विभिन्न कार्यकारी संस्थाओं को दायित्व सौंपा है। इसी प्रकार अंश पूँजी के निर्गमन सम्बन्धी नियमों को 'सेबी' द्वारा प्रभावी, सुलभ व लोच पूर्ण बनाया गया है। इस हेतु विनियोग ढाँचे के स्वरूप में परिवर्तन, लघु निर्माण इकाईयों को सार्वजनिक निर्गमन की सुविधा तथा पूँजी बाजार को लोचपूर्ण व प्रभावी बनाने के प्रावधान किये गये हैं।

(ठ) औद्योगिक विकास की अनुकूलता का अध्ययन :- हमारे देश की अनेक वित्तीय संस्थाओं द्वारा अलग-अलग क्षमता स्तर, कार्यप्रणाली, कार्य निस्पादन आदि का समग्रता से मूल्यांकन किया जाता है जिससे वर्तमान उपलब्ध औद्योगिक निर्माणियों का विस्तार व विकास के मूल्यांकन की प्रक्रिया सरल व पारदर्शी हो सके। वस्तुतः भारतीय औद्योगिक वित्त निगम पिछड़े तथा औद्योगिक क्षेत्रों में सम्भावनाओं सम्बन्धी अनुकूलता के अध्ययन की रूपरेखा बना रही है जो भविष्य में उद्यमियों के लिए हितकर साबित होगी।

(ड) सरकारी अनुदान तथा निर्यातोन्मुखी इकाई - निश्चित रूप से प्रत्येक उद्यमी वित्तीय तौर पर सुदृढ़ नहीं होता, कहीं न कहीं वित्त उसके मार्ग में एक बाधा के तौर पर आता-जाता रहता है। सरकार ने रेगिस्तानों, पर्वतीय क्षेत्रों, पिछड़े इलाकों आदि अनेक क्षेत्रों की पहचान की है, जहाँ पर नव उद्यमियों द्वारा उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से, निर्माणी लागत घटाने, विस्तार व विकास हेतु तथा निर्यात को अधिकाधिक करने के लिए विभिन्न प्रकार के अनुदानों की व्यवस्था की गई है। जिससे वित्त इनके आर्थिक विकास का बाधक न बन सके। इसी प्रकार इकाई को निर्यातोन्मुख बनाने का भी प्रयास किया जाता है। इस योजना में चयनित इकाईयों को कच्चामाल, संघटक, उपकरण, तकनीकी, पैकेजिंग आदि के सम-उन्नत उपयोग हेतु वित्त की व्यवस्था का प्रावधान है। इस प्रकार की इकाईयों को विभिन्न प्रकार के करों में शत-प्रतिशत रियायत प्रदान की जाती है, साथ ही यह शर्त भी होती है कि ये अपने सम्पूर्ण उत्पादन को निर्यात करके विदेशी विनिमय का एक न्यूनतम लक्ष्य स्तर अवश्य ही प्राप्त करेंगी, अन्यथा इन्हें दी जा रही छूट में कटौती का भी प्रावधान है।

(ढ) सुदृढ़ कर एवं पूँजी ढाँचा - लघु इकाईयों को कर सम्बन्धी प्रावधानों में रियायतें प्रदान करने हेतु सरकार ने इनके स्वरूपों में अमूल-चूल परिवर्तन करते हुए इन्हें तर्कसंगत बनाया है। जिसके अन्तर्गत आवश्यक यन्त्र व सामग्री निर्माण क्षेत्र, पिछड़े हुए

क्षेत्र के उद्योगों के लिए रियायतों का विशेष पैकेज लाया जाता है साथ ही पूंजी निर्गमन व्यवस्था को सरल बनाते हुए सभी प्रकार के उद्यमियों के लिए पूंजी ढाँचे में सुधार करने का प्रयास किया है। वर्तमान में किसी भी प्रकार की औद्योगिक इकाई सार्वजनिक निर्गमन के माध्यम से चुकता पूँजी एकत्र कर सकती है जिसका उपयोग विस्तार तथा विकास के कार्यों के लिए कर सकती है।

(ण) उत्पादन सम्बन्धी नीतियाँ - फैलते हुए बाजार एवं बढ़ते हुए उद्यमियों के हितों के रक्षार्थ, उत्पादन से सम्बन्धित सम्भावित उत्पादों के लिए उत्पादवार नीतियों का निर्माण किया गया है। इनमें प्रमुख रूप से खनिज नीति, पेट्रोलियम नीति, औषधि नीति आदि का स्थान है। ये नीतियाँ लघु उद्यमियों को नवाचार, नये बाजार की खोज, प्रवर्तन, संवर्द्धन आदि के विकास करने की दिशा में आवश्यक सुविधायें व सहायता उपलब्ध कराते हुए प्रभावी मार्गदर्शन प्रदान करती हैं।

(य) संवर्द्धनात्मक कार्य - सरकारी भूमिका के तृतीय चरण के अन्तर्गत संवर्द्धनात्मक कार्यों की चर्चा की जाती है। ये कार्य किसी न किसी रूप में उद्यमिता तथा उद्योगों के संवर्द्धन का कार्य करते हैं। इन कार्यों में अग्रलिखित प्रावधानों का अध्ययन किया जा सकता है :-

(1) उद्यमिता विकास कार्यक्रम - संवर्द्धन कार्यों के अन्तर्गत सबसे मूल कार्य उद्यमिता विकास कार्यक्रमों का निर्माण आयोजन एवं मूल्यांकन होता है। इसमें सरकार उद्यमियों की क्षमताओं, कठिनाइयों व अपेक्षाओं के दृष्टिगत विभिन्न कार्यक्रमों का निर्माण व आयोजन करने का प्रदान करती है। इन कार्यक्रमो के आयोजन में औद्योगिक विकास संगठनों, आई0डी0बी0आई0 भारतीय औद्योगिक परिषदों आदि की प्रमुख भूमिका रही है। इन्हीं संस्थाओं के प्रयासों से आज भारतीय औद्योगिक परिदृश्य में लघु उद्यमिता का स्थान सराहनीय है।

(2) प्रचार व प्रसार - उद्यमिता के प्रचार व प्रसार के लिए सरकार ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ किया है जिससे अपने सन्देश, लेख तथा मूल्यांकनों को समाज को सभी वर्गों तक पहुँचाया जा सके। इसी प्रकार विभिन्न अनुषांगी संगठनों द्वारा भी विभिन्न प्रकार के संवर्द्धनात्मक साहित्य सृजन सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये जा रहे हैं। इस क्रम में लघु उद्योग संगठन, उद्यमिता विकास मंच, उद्यमिता परिषदों व तकनीकी सलाहकार समितियों का योगदान चिरस्मरणीय है।

(3) व्यवसायिक व तकनीकी शिक्षा का संवर्द्धन - बेरोजगारी की समस्या से निजात व नये युवा उद्यमियों को प्रोत्साहन स्वरूप सरकार द्वारा व्यवसायिक व तकनीकी शिक्षा संस्थानों से शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त रोजगार व स्वरोजगार के अवसरों में अनुक्रमानुपाती विकास होता है। उ0 प्र0 के परिप्रेक्ष्य में अगर देखें तो सरकार ने स्कूल व महाविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी व्यवसायिक व तकनीकी शिक्षा देने को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया है जिससे छात्र शिक्षा ग्रहण करते ही उद्यमिता के गुणों का विकास करते हुए रोजगार सृजन कर सकें।

(4) महिला उद्यमियों का विकास - एक ओर जहाँ पुरूष उद्यमियों में प्रतिस्पर्धा का स्तर चरमोत्कर्ष पर है, वहीं भारतीय नारी भी अपना लोहा मनवाने में लगी है। सरकार ने भी महिला उद्यमियों में उद्यमीय गुणों को पल्लवित करने हेतु अनेक कदमों का सृजन किया है। उद्योग निदेशालयों के माध्यम से प्रशिक्षण परामर्श, वित्त, बाजार, विज्ञापन, आदि सुविधाओं की व्यापक एवं प्रभावी सूचनाएँ प्रदान कर, उन्हें स्वावलम्बी बनाने का प्रयास किया जा रहा है जिससे पुरुषों तथा महिलाओं के अनुपात को राष्ट्रीय स्तर पर सन्तुलित बनाया जा सके और महिलाओं को भी भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास की गति में पर्याप्त मौके प्राप्त हो सकें जिससे वे भी अपने आप को गौरवान्वित महसूस कर सकें।

(5) प्रशिक्षण रूपी संवर्द्धन - सरकार विभिन्न संस्थाओं, प्रबन्ध संस्थाओं आदि के माध्यम से उद्यमियों के मानसिक, शारीरिक एव कार्य सम्बन्धी विकास के लिए निरन्तर प्रयास कर रही है। ये संस्थान प्रशिक्षण सम्बन्धी आधुनिक पाठ्यक्रम, तकनीकी आदि को नव उद्यमीयों तक पहुँचा रहे हैं। इनमें लघु उद्योग सेवा संस्थान, लघु उद्योग व्यवसाय संगठन, जिला उद्योग केन्द्र, उद्योग निदेशालय आदि की सराहनीय व प्रभावी भूमिका है।

(6) विज्ञान व तकनीकी पार्कों की स्थापना - उद्यमिता विकास के प्रोत्साहन हेतु हमारी सरकार ने विभिन्न क्षेत्रों में औद्योगिक पार्कों की स्थापना की है जहाँ एक ही स्थान पर उद्योग सम्बन्धी समस्त आधारभूत सुविधाओं की उपलब्धता होती है। इनमें लखनऊ, नोयडा, उन्नाव, बैंगलोर, अहमदाबाद, जमशेदपुर, आदि प्रमुख हैं। जहाँ औषधि, चर्म साफ्टवेयर तथा तकनीकी साधनों के अनेक आयाम विकसित हुए हैं।

(7) संस्था सम्बन्धी उपाय - हमारी सरकार ने उद्यमिता विकास की कार्य

विधियों द्वारा उद्यमियों में नवप्रवर्तन सम्बन्धी ज्ञान कुशलता, शिक्षा, दृष्टिकोण, उपायों व तकनीकों को अग्रसर करने हेतु विभिन्न नीति प्रस्तावों व पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अनेक प्रकार की संस्थाओं के गठन का प्रावधान किया है। इन संस्थाओं की प्रकृति केन्द्रीय तथा प्रदेश स्तरीय दोनों प्रकार की रही है। इन संस्थाओं की सहायता से उद्यमी के व्यवहारों में कार्यशीलता व कार्य के प्रति भावना का विकास होता है तथा वे अपनी कार्य प्रणाली व कार्य संरचना के अन्तर्गत नवीन, व्यवहारिक, विशिष्ट व व्यावसायिक कौशल व गुणों का विकास कर, निरन्तर पेशेवर होने की तरफ अग्रसर होते हैं। अपने अध्ययन की सुविधा के लिए हम अगले क्रम में कुछ महत्वपूर्ण संस्थाओं के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करेंगे-

4.4 सहयोगी संगठनों की भूमिका एवं कार्य

देश के औद्योगिक विकास में उद्यमिता एवं लघु उद्योगों का विकास एक महत्वपूर्ण क्रमबद्ध प्रयासों का प्रतिफल होता है। प्रायः सभी औद्योगिक अर्थव्यवस्था में ये आधारभूत संरचना के निर्माण में अपना योगदान ही नहीं देते बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र को विकासशील धारा से विकसित धारा की ओर प्रवाहित करते हैं। इनके योजनाबद्ध प्रयास हेतु सरकर ने भी विभिन्न सहयोगी संगठनों की स्थापना का प्रयास किया है। आइये केन्द्रीय तथा राज्य स्तरीय कुछ महत्वपूर्ण संगठनों की रचना तथा कार्य विधि जानने का प्रयास करेंः-

1. अखिल भारतीय लघु उद्योग बोर्ड - प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण समिति की सिफारिशों पर इसका गठन 1954 में किया गया था। इसका प्रमुख कार्य है उद्यमिता, कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास हेतु भावी नीतियों का निरूपण करना। प्रमुखतः यह केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत कार्य करती है। लघु उद्योग मंत्री इसका पदे्न अध्यक्ष तथा विभिन्न सहयोगी राज्यों बैकों, व्यापार यूनियन, बड़े उद्योगपति आदि इसके सदस्य होते हैं। इस बोर्ड की कार्यशील प्रकृति सलाहकारी होती है जिसे केन्द्र सरकार मान भी सकती है तथा नहीं भी, किन्तु व्यवहार में इस बोर्ड की समस्त सिफारिशों को मान लिया जाता है।

2. अखिल भारतीय हथकरघा बोर्ड- लघु उद्योगों के अन्तर्गत हथकरघे द्वारा उत्पादित उत्पादों को एक विशेष स्थान प्रदान किया गया है। हथकरघे के उत्पाद को कला

एकता तथा तकनीकी तौर पर प्रभावी बनाने के उद्देश्य से इस बोर्ड की नींव 1952 में रखी गई थी। इसके प्रमुख कार्यों में इस उद्योग द्वारा उत्पादित उत्पादों को बाजार उपलब्ध करवाना, वितरण हेतु उचित माध्यम उपलब्ध करवाना, इसके कारीगरों को इनके कार्य से सम्बन्धित तकनीकी एव कच्चा माल उपलब्ध करवाना तथा भारत की इस पारम्परिक कला को विशेष रूप से पर्यटन केन्द्रों के माध्यम से विदेशी सैलानियों के समक्ष संवर्द्धन एवं बिक्री करना जिससे इस उद्योग से जुड़े परिवारों को सामाजिक तथा आर्थिक रूप से समोन्नत बनाया जा सके।

3. अखिल भारतीय खादी ग्रामोद्योग आयोग - राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के आदर्शो के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास के मार्ग में खादी के उत्पादों का समावेश इस आशय से किया जाता है कि छोटे-छोटे खादी उत्पादकों को समयानुकूल उनके उत्पादों तथा श्रम का उचित मूल्य दिलाया जा सके जिससे अन्य उद्यमी भी इस ओर आकर्षित हो राष्ट्रीयता के सपनों को विकासशील भारत के साथ जोड़ते हुए विकसित भारत की तरफ ले चलें। इस विचार को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय सरकार ने 1956 में प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस आयोग का गठन किया था। केन्द्र स्तर पर इसकी सफलता से उत्साहित हो सभी राज्यों ने भी प्रदेश स्तर पर इस तरह के आयोगों का गठन किया। केन्द्र तथा प्रदेश के खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग एक साथ मिलकर गाँव-गाँव तक खादी की महत्ता को ले जाने का कार्य करते हैं। जिससे जो पुरुष मजदूरी द्वारा जीवन-यापन करते हैं उनके घरों की ग्रहणियाँ, इसके माध्यम से अपने यहाँ कुटीर उद्योग स्थापित करें और अपने जीवन-यापन शैली को उन्नत बनायें।

वास्तव में, इस आयोग ने अपने कार्यों में खादी उद्योग के लिए विशाल विपणन तंत्र की स्थापना की है, उन्नत तकनीकी को उपलब्ध करवाया है, साथ ही उद्योगों की स्थापना, संचालन एवं संवर्द्धन हेतु समय-समय पर वित्त की व्यवस्था भी की है। अगर इस आयोग का मूल्यांकन किया जाये तो यह तथ्य अवश्य ही सामने आयेगा कि इसने खादी उद्योगों की तरफ महिला उद्यमियों को अधिक आकर्षित किया है।

4. लघु उद्योग विकास संगठन - प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौर में उद्यमिता तथा लघु उद्योगों के संवर्द्धन हेतु 1954 में एक और महत्वपूर्ण अनुषांगिक संगठन की स्थापना हुई जिसे हम लघु उद्योग विकास संगठन के नाम से जानते हैं इसे संक्षेप में सीडो के नाम से जाना जाता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न सेवा संस्थानों,शाखा संस्थाओं,विस्तार

केन्द्रों, परामर्श केन्द्रों, मण्डल स्तरीय परीक्षण केन्द्रों तथा उत्पादन केन्द्रों का गठन कर व्यापक संरचना का निर्माण सम्भव हो सका। इस संगठन में अग्रलिखित कार्यों को समाहित किया जाता हैः-

क) लघु तथा कुटीर उद्यमियों को उद्योग के संचालन, संवर्द्धन तथा नियंत्रण सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध करवाना, साथ ही कच्चा माल, नवीन तकनीक तथा वित्तीय स्त्रोतों की पहचान करवाना और उन्हें उचित मूल्यों पर उपलब्ध करवाना।

ख) लघु उद्यमियों के संवर्द्धन हेतु नीति निर्धारण कर प्रभावी कार्यक्रमों की रूपरेखा निर्माण कर उनके संचालन का अनुश्रवण।

ग) लघु उद्यमियों को नव प्रवर्तनों, समउन्नत तकनीकी, करना। आर्थिक तथा प्रबन्धकीय शिक्षण सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध करवाना, जिसमें विपणन सम्बन्धी ज्ञान को प्रमुख रूप से शामिल किये जाये।

घ) लघु उद्यमियों के सहायतार्थ नोडल कार्यकारी संस्था की स्थापना करवाना तथा लघु उद्योग परामर्श केन्द्रों का सुव्यवस्थित संचालन करवाना।

च) ऐसे उद्यमी जो अपने लिये प्रभावी परियोजना रिपोर्ट तैयार नहीं कर सकते उनकी परियोजना रिपोर्ट तैयार करवाने में सहायता प्रदान करना।

छ) विशेष रूप से महिला उद्यमियों को आगे लाने के प्रयासों के अन्तर्गत एक महिला सहायता प्रकोष्ठ की स्थापना, समन्वयता एवं नियन्त्रण करना। जिससे महिला उद्यमियों की सभी समस्याओं का निस्तारण त्वरित गति से हो सके।

5. राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम लिमिटेड - लघु तथा कुटीर उद्योगों के समक्ष यक्ष प्रश्न के रूप में बाजार की उपलब्धता तथा प्रभावी वितरण व्यवस्था सदैव से ही चिन्ता का विषय रही है। केन्द्र सरकार ने उनकी इस चिन्ता के निवारण हेतु 1955 में एक निगम की स्थापना की जिसको राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम लिमिटेड का नाम दिया गया जिसका मुख्य उद्देश्य व्यापक विपणन सहायता उपलब्ध करवाना है। इस निगम का सबसे प्रसिद्ध कार्यक्रम स्वदेशी विपणन कार्यक्रम है जिसके अन्तर्गत इस उद्योग के उत्पादों को स्वदेशी बाजार में उपलब्ध करवाना है। स्वदेशी विपणन कार्यक्रम के अन्तर्गत

कच्चे माल की खरीद, विशिष्ट कच्चेमाल व उपकरणों के लिए आपूर्ति व्यवस्था करना, सरकारी क्रय कार्यक्रम में लघु उद्यमियों से आदेश प्राप्त करना, सरल किराया क्रय शर्तों पर विभिन्न उन्नत तकनीकी यन्त्रों की पूर्ति करना, विभिन्न प्रकार के विपणन प्रशिक्षण आयोजित करवाना, विभिन्न संस्थाओं द्वारा दिये गये ऋणों की वापसी हेतु गारन्टी उपलब्ध करवाना तथा महिला उद्यमियों को प्रोत्साहित कर संवर्द्धन सम्बन्धी उपाय करना प्रमुख रूप से शामिल रहा है।

6. लघु उद्योग सेवा संस्थान - औद्योगिक विस्तार सेवाओं के अन्तर्गत लघु उद्योगों को ऋण तथा आवश्यक तकनीकी उपलब्ध करवाने के उद्देश्य से इस सेवा संस्थान की स्थापना हुई थी। लघु उद्योग सेवा संस्थान केन्द्र तथा राज्य दोनों स्तरों पर कार्य कर रहे हैं। संक्षेप में इनके प्रमुख कार्य अग्रलिखित हैः-

क) लघु उद्यमियों की विकास सम्बन्धी योजनाएँ तैयार कर उन्हें कार्यक्रम में परिवर्तित कर जमीनी रूप से क्रियान्वित करना।

ख) इन उद्यमों के विस्तार हेतु तकनीकी परामर्श व प्रशिक्षण प्रदान करना।

ग) लघु उद्योगों से जुड़ी सही समउन्नत प्रौद्योगिकी तथा नवीन यन्त्रों के बारे में प्रभावी सूचनायें उपलब्ध करवाना।

घ) आवश्यक कच्चामाल उत्पाद की गुणवत्ता, संरचना तथा अन्य आधारभूत विशेषताओं के सम्बन्ध में सूचना प्रदान करना।

च) नवीन लघु उद्यमी हेतु संवर्द्धन योजना निर्मित कर आवश्यक प्रशिक्षण उपलब्ध करवाना।

छ) विभिन्न प्रकाशनों को बढ़ावा देना, जिसके अन्तर्गत आदर्श परियोजनाओं, संरचनाओं, समाचारों व अन्य उपयोगी सूचनाओं का संकलन किया गया हो।

7. राष्ट्रीय लघु उद्योग विस्तार प्रशिक्षण संस्थान - 1960 में केन्द्रीय सरकार द्वारा आन्ध्रप्रदेश के हैदराबाद में स्थापित इस प्रशिक्षण संस्थान का प्रमुख उद्देश्य - लघु उद्यमियों की गुणवत्ता व निस्पादन क्षमताओं को नीतिगत व व्यावहारिक आधारों पर विकसित किया जाना था। यह संस्थान अपने विभिन्न प्रभागों, यथा-परामर्श, प्रलेख, तकनीकी, प्रबन्ध, व्यावसायिक, लेखन तथा सम्प्रेषण आदि द्वारा एक सुव्यवस्थित सुसंगठित नेटवर्क स्थापित करने हेतु निरन्तर प्रयत्नशील है। 1980 में इस संस्थान ने

देश के प्रमुख औद्योगिक नगरों में अपने विकेन्द्रित केन्द्रों की स्थापना की जिसके अन्तर्गत ये केन्द्र प्रशिक्षण, परामर्श तथा प्रलेखीय-सेवा में प्रदान कर लघु उद्यमियों के विकास में निरन्तर सहायता प्रदान करता आ रहा है।

8. राष्ट्रीय उद्यमिता एवं लघु व्यवसाय विकास संस्थान - भारत सरकार ने तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के निर्देशोपरान्त उद्योग मन्त्रालय के अन्तर्गत 1983 में इस संस्थान की स्थापना अग्रलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु की थी-

क) लघु उद्यमियों के विकास में सहयोगी अन्य संस्थानों को नवीन परिदृश्य के अनुकूल मार्गदर्शन प्रदान करना।

ख) उद्यमिता प्रशिक्षण कार्यक्रमों के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाने वाले पाठ्यक्रमों को समसामयिक बनाना।

ग) विभिन्न अनुषांगिक संगठनों के मध्य समन्वय स्थापित कर उनकी कार्यप्रणाली में एकरूपता लाना तथा उनकी कार्यशैली पर नियंत्रण स्थापित करना।

घ) लघु तथा कुटीर उद्यमियों हेतु सम-सामयिक विचार गोष्ठियाँ, कार्यशाला तथा सम्मेलनों को क्षेत्र विशेष की आवश्यकतानुसार आयोजित करवाना।

च) शोध व अनुसंधान कार्यों को कागजों के क्षेत्र की तरफ ले जाना।

9. भारतीय लघु उद्योग मण्डल संघ : - लघु उद्यमियों को संगठित करने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार ने 1969 में राज्यस्तरीय लघु उद्यमी संगठनों के निर्माण हेतु पहल की तथा विभिन्न राज्यों के संघों में प्रभावी समन्वय हेतु केन्द्र स्तर पर भारतीय लघु उद्योग मण्डल संघ की स्थापना की। इसका प्रधान कार्यालय नई दिल्ली में तथा क्षेत्रीय कार्यालय मुम्बई, कोलकाता, नागपुर तथा चेन्नई में स्थापित किये गये। इस संघ के अग्रलिखित कार्य निर्धारित किये गये-

क) संघ के सभी सदस्यों को उपयोगी व प्रभावी सुविधायें उपलब्ध करवाना।

ख) प्रत्येक उद्यमी को उसके संघ के माध्यम से प्रबन्धकीय ज्ञान में, तकनीकी ज्ञान में उपलब्ध कराकर पेशेवर बनाना।

ग) सूचनाओं का प्रचार-प्रसार करना।

घ) लघु उद्यमियों की समस्याओं को उचित मंचों पर रखना तथा विभिन्न

अनुषांगिक संस्थाओं के माध्यम से इनका प्रभावी निराकरण करवाना।

10. राष्ट्रीय उद्यमिता विकास मण्डल - केन्द्रीय स्तर पर यह एक और महत्वपूर्ण संगठन है जो लघु उद्यमियों के विकास एवं संवर्द्धन हेतु नीति, नियोजन, व कार्यक्रम निर्माण में प्रभावी भूमिका निभा रहा है। इसका प्रमुख कार्य समय-समय पर सरकार के माध्यम से सम-सामयिक मुद्दों को लघु उद्यमियों के हितार्थ लागू करवाना है। चूँकि इस मण्डल ने समय-समय पर अपनी सार्थकता सिद्ध की है, इसलिए इसकी सिफारिशों के क्रियान्वयन हेतु सरकार ने राष्ट्रीय साहस एवं लघु व्यापार संस्थान की स्थापना की है। इस संस्थान के माध्यम से यह मण्डल अपने कार्यों को और प्रभावी ढंग से क्रियान्वित कर रहा है।

11. निर्यात सम्बर्धन परिषद - लघु उद्योगों द्वारा उत्पादित अतिरिक्त उत्पादों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपलब्ध कराने हेतु केन्द्र सरकार ने निर्यात सम्वर्धन परिषद् की स्थापना की है। ऐसे लघु उद्यमी जो इस परिषद् में अपने उत्पादों का निर्यात करना चाहते हैं, उन्हें इस परिषद् द्वारा पंजीकरण नम्बर आवंटित किया जाता है। इसके पश्चात् ही उन्हें इस परिषद् की सेवायें उपलब्ध कराई जाती हैं। संक्षेप में इस परिषद् के प्रमुख कार्यों में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में उत्पादों की माँग का आंकलन, मूल्य क्रय की शर्तों का निर्धारण, विज्ञापन तथा वित्तीय सूचनायें, उत्पादों में गुणवत्ता बनाये रखने के उपाय तथा निर्यात सम्बन्धी विभिन्न आवश्यक चरणों का प्रशिक्षण देना रहा है।

12. भारतीय उद्यमिता विकास संस्थान - वर्ष 1983 में विभिन्न राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं (आई0डी0बी0आई0, आई0एफ0सी0आई0, आई0सी0आई0सी0आई0 तथा एस0बी0आई0) की पहल पर एक स्वायत्तशासी एवं गैर-लाभ वाली संस्था की नीव डाली गयी, जिसे भारतीय उद्यमिता विकास संस्थान का नाम दिया गया। इसका प्रमुख उद्देश्य लघु तथा कुटीर उद्यमियों को विभिन्न क्षेत्रों में आवश्यक परामर्श देना, प्रबन्धकीय ज्ञान का विकास एवं कार्य कुशलता बढ़ाना, बेरोजगारों तथा महिलाओं में उद्यमिता तथा उद्यमशीलता के गुणों का विकास करना तथा इनके प्रशिक्षण को सम-सामयिक बनाना रहा है।

13. भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक - लघु उद्यमियों की वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय सरकार ने 1989 में एक बैंक की स्थापना की, जिसे भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक के नाम से जाना गया। इसके प्रमुख

कार्यों में विभिन्न बाजारों में इस क्षेत्र के उत्पादों की माँग को बढ़ाना, अर्द्ध नगरीय क्षेत्र में उद्यमिता को बढ़ावा देना, रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना तथा आवश्यकतानुसार उद्यमियों को वित्तीय सहायता उपलब्ध करवाना। संक्षेप में इसकी योजनाओं में प्रत्यक्ष सहायता योजना, (परियोजना निर्माण, लघु उद्योग स्थापना, मानवीकरण अपनाना) पुर्नवित्त सहायता योजना (लघु उद्यमियों को वित्तीय सहायता देने वाले संस्थानों को वित्त उपलब्ध करवाना) तथा बट्टा योजना (यन्त्रों, मशीनों, कच्चे माल आदि की खरीद पर गारन्टर के रूप में कार्य करना तथा उसका भुगतान करना) को सम्मिलित किया जाता है।

14. भारतीय उद्यमिता संस्थान - वर्ष 1993 में एक स्वायतशासी संस्थान के रूप में भारत सरकार ने गोहाटी में इसकी नींव रखी। इस संस्थान का कार्यकारी तथा योजनाबद्ध प्रबन्धन एक प्रबन्धन बोर्ड के द्वारा किया जाता है। यह बोर्ड सीधे लघु उद्योग मन्त्रालय के प्रति उत्तरदायी होता है। इस संस्थान के उद्देश्यों के अन्तर्गत अग्रलिखित को सम्मिलित किया जाता है-

क) उद्यमिता सम्बन्धी सम-सामयिक आवश्यकताओं का निरूपण कर सरकारी तथा गैर-सरकारी संगठनों के प्रतिनिधियों को प्रभावी प्रशिक्षण उपलब्ध करवाना।

ख) विभिन्न क्षेत्रों के लक्ष्य समूहों की पहचान कर उनके उद्यमिता विकास हेतु आवश्यक रणनीति तैयार करना।

ग) उद्यमियों हेतु स्वरोजगार विकास की नीति, योजना तथा इनका क्रियान्वयन सुनिश्चित करना तथा प्रलेखों तथा साधनों द्वारा इन्हें समझाने का प्रयास करना।

घ) उद्यमिता विकास सम्बन्धी सूचनाओं, व्यवस्थाओं तथा कार्य प्रणालियों को पुस्तक रूप में प्रकाशित करवाना।

च) उद्यमिता विकास हेतु विभिन्न सम्प्रेषण उपकरणों का प्रभावी उपयोग बताना।

छ) सफल उद्यमियों, संस्थाओं तथा नव-उद्यमियों को सम्मिलित करते हुए विचारगोष्ठियों, सम्मेलनों तथा उद्योग भ्रमण के कार्यक्रम तैयार कर संचालित करवाना।

15. राष्ट्रीय उद्यमिता एवं लघु व्यवसाय विकास संस्थान - उ0 प्र0 सरकार के अनुरोध पर केन्द्र सरकार ने पश्चिमी क्षेत्र में लघु उद्यमियों के विकास सम्भावनाओं को देखते हुए नोयडा में इस संस्थान की स्थापना की। यह संस्थान लघु उद्यमियों में उद्यमिता सम्बन्धी गुणों का विकास करते हुए उन्हें स्वरोजगार के लिए निरन्तर प्रेरित करता रहा है। वातावरण में निर्णय लेने तथा सम्प्रेषण की कला को विकसित करने का प्रयास किया जाता है। यह संस्थान क्षेत्रों में जाकर भी कार्यक्रम का संचालन कर योजनाओं, कार्य प्रणालियों, नियमावली पुस्तिकाओं आदि का वितरण सुनिश्चित कर, उद्यमियों का संवर्द्धन करता है।

16. राज्य स्तरीय सहायता संगठन - भारत में प्रत्येक राज्य में उद्यमशीलता को महत्व को पहचानते हुए विभिन्न तकनीकी सम्बन्धी परामर्श संगठनों की स्थापना की गई है। उ0 प्र0 सरकार ने भी इस ओर ध्यान देते हुए एक परामर्शदायी संगठन की स्थापना की है। उन संगठनों की सेवाओं में अग्रलिखित पहलुओं सम्मिलित किया जाता है-

क) उद्यमियों द्वारा प्रस्तावित परियोजना तकनीकी तथा आर्थिक अनुकूलता का मूल्यांकन करना।

ख) परियोजना प्रतिवेदन को सुव्यवस्थित रूप देना तथा उसकी व्यवहारिकता का मूल्यांकन करना।

ग) उद्यमिता संवर्द्धन हेतु विभिन्न कार्यक्रमों को क्षेत्र विशेष में आयोजित करवाना।

घ) उद्यमियों को रूचिनुसार उद्योगों के चयन हेतु सूचनाएँ एवं आँकड़े उपलब्ध करवाना।

ज) लघु एवं कुटीर उद्यमियों को आधुनिक यंत्र संचार माध्यम, कच्ची सामग्री तथा विविधीकरण का ज्ञान देना।

झ) बाजार सम्बन्धी नवीनतम् सूचनाएँ, विपणन योजना निर्मित करने में सहायता तथा प्रदूषण सम्बन्धी विभिन्न सूचनायें प्रदान करना।

ट) सम्पूर्ण गुणवत्ता प्रबन्धन को अपनाने हेतु प्रोत्साहित करना।

17. उद्योग निदेशालय - केन्द्र सरकार के प्रशासनिक विभागों में एक विभाग उद्योग का होता है। जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार की उद्योग सम्बन्धी नीतियों का निर्माण,

तथा क्रियान्वयन का दायित्व होता है। ठीक इसी तरह की व्यवस्था राज्यस्तरीय प्रशासन में भी होती है जिसे उद्योग निदेशालय के नाम से जाना जाता है यह राज्य प्रशासन का एक महत्वपूर्ण अंश होता है। वर्ष 1978 की औद्योगिक नीति के अनुसार इस निदेशालय के अन्तर्गत उसके राज्य के जिलों में जिला उद्योगों को पंजीकरण लाइसेन्स प्रदान करने, औद्योगिक नियमों का पालन करने, परियोजनाओं को लागू करने, उद्योगों को वित्तीय सहायता देने आदि के कार्यों को सम्मिलित किया जाता है।

18. जिला उद्योग केन्द्र - जैसा कि हम पहले ही जान चुके हैं 1978 की औद्योगिक नीति का अनुसरण करते हुए राज्य के प्रत्येक जिले में उद्योग सम्बन्धी कार्यों के अनुश्रवण हेतु एक कार्यपालक केन्द्र की स्थापना की गई, जिसे जिला उद्योग केन्द्र के नाम से जाना जाता है। यह एक ऐसा वृत्तीय केन्द्र है जो उद्यमियों को सभी आवश्यक सहायताएँ एक ही जगह उपलब्ध करवा देता है जिससे लघु एवं कुटीर उद्यमियों को अन्यत्र भटकना नहीं पड़ता। जिले स्तर पर उद्योग केन्द्र की एक और कार्यकारी संस्था है जिसे हम जिला ग्रामीण विकास अभिकरण के नाम से जानते हैं। यह अभिकरण लघु एवं कुटीर उद्योगों के सम्बन्ध में सरकार की नीतियों, कार्यक्रमों व योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए प्रभावी कार्यक्रमों व पृष्ठभूमि का निर्धारण करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

4.5 सरकारी प्रयासों में बाधक कारक

अभी तक आपने यह जाना कि उद्यमिता विकास के सन्दर्भ भारत सरकार ने किस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से निरन्तर प्रभावी कदम उठाये हैं। इन सभी कदमों के केन्द्र में बेरोजगारी की समस्या का निदान करते हुए स्वरोजगार को बढ़ावा देना और आर्थिक विकास की गति को तीव्र करना रहा है, किन्तु इस प्रयासों के क्रियान्वयन में अनेक बाधाएँ आती रही हैं जिन्हें समझना भी नितान्त आवश्यक है। आइये इन बाधक कारकों को क्रमवार समझने का प्रयास करें-

- बेरोजगार व्यक्ति की अनभिज्ञता, जागरूकता का अभाव तथा इन योजनाओं का भी समुचित प्रचार प्रसार न होना, सरकारी प्रयासों में सबसे बड़ी बनकर उभरा है।
- बेरोजगार व्यक्ति के प्रति समाज की बेरूखी, परम्परावादी दृष्टिकोण अशिक्षा प्रोत्साहन का प्रभाव उसे नवीन विचारधारा व पद्धतियों के

आकर्षित होने से रोके रखता है।

- किसी भी प्रकार का रोजगार प्राप्त व्यक्ति अपने अन्दर मौजूद उद्यमीय कौशलता व गुणों को केवल इसलिए बाहर नहीं लाना चाहता क्योंकि उसके पास रोजगार है, जबकि वह उद्यमिता विकास के द्वारा अनेक व्यक्तियों को रोजगार प्रदान कर सकता है।
- कई छोटे व्यापारी पूर्णतः पेशेवर नहीं बनना चाहते जिससे व्यवसायिक ज्ञान व अनुभवहीनता के कारण सरकार द्वारा संचालित योजनाओं को आत्मसात् नहीं करना चाहते। उन्हें लगता है कि इससे उनके व्यापार के सम्बन्ध अन्य भी जान सकते हैं।
- प्रायः सरकारी प्रयासों को लागू करने वाले सम्बद्ध विभागों की विषयवस्तु, कार्य प्रणाली, शर्तें, प्रावधान इतने जटिल होते हैं कि वे सामान्य व्यक्तियों के समझ से परे होते हैं।
- लघु उद्यमी निरन्तर वित्तीय समस्याओं से जुझते रहते हैं। सरकारी योजनाओं से मिलने वाली वित्तीय सहायता अल्प होती है तथा कागजी कार्यवाही की भरमार होती है। जिसके अपनाने से एक लघु उद्यमी सदैव बचना चाहता है।
- सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन से सम्बन्धित विभिन्न नोडल एजेन्सियों तथा विभागों के मध्य समन्वय का अभाव लाभार्थियों को इधर-उधर भटकने पर मजबूर करता है जिससे अन्य लाभार्थी इन योजनाओं से दूरी बनाये रखना ही ठीक समझते हैं।
- प्रायः इस प्रकार की योजनाओं का प्रशिक्षण देने वाले प्रशिक्षु तथा क्रियान्वयन अधिकारियों का पर्याप्त प्रशिक्षण न होने के कारण वे इन योजनाओं को अत्यन्त प्रभावी ढंग से समाज के समक्ष प्रस्तुत नहीं कर पाते, जिससे जिस प्रकार का आकर्षक समाज उभरना चाहिए, उसका अभाव रहता है।

4.6 प्रयासों को प्रभावी बनाने के उपाय-

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने लघु उद्यमिता के विकास में सदैव

नवीनता व आधुनिकता को दृष्टिगत करते हुए नित नये उपाय करने की कोशिश की है जिससे उद्यमिता व औद्योगिक विकास की दशाओं ने निश्चय ही उदासीनता व विविध बाधक कारकों के साथ समन्वय करते हुए बेहतर परिणाम देने की कोशिश की है। इस प्रकार सरकारी प्रयासों को प्रभावी बनाने के अनुक्रम में, प्रारम्भिक तौर पर स्वरोजगार की इच्छुक युवा पीढ़ी में उद्यमीय गुणों व आकांक्षाओं का प्रोत्साहन आवश्यक है। जिससे भारत वर्ष में एक नये प्रकार का उद्यमीय वातावरण निर्मित किया जा सके। अतः सरकारी प्रयासों को और प्रभावी बनाने हेतु अग्रलिखित प्रयास किये जाने चाहिए-

- सरकार द्वारा प्रतिपादित योजनाओं का एकीकरण सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक वातावरण के साथ किया जाना चाहिए जिससे उद्यमीय प्रवृत्तियों को चौतरफा बढ़ावा मिल सके।
- प्रारम्भिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा तथा उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों में रोजगार तथा उद्यमिता सम्बन्धी विषय-वस्तु का अनुपात बढ़ाया जाना चाहिए। जिससे प्रारम्भ से ही युवा इसके महत्व को आत्मसात् कर सकें।
- सरकार को विभिन्न अनुषांगीक संगठनों के क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित योजनाबद्ध कार्यक्रमों का निर्माण कर प्रशिक्षण परामर्श व क्रियान्वयन का प्रयास करना चाहिए।
- उद्यमिता सेवा सम्बन्धी औद्योगिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक केन्द्रों को विकेन्द्रीकरण कर आमजनों तक पहुंचने का प्रयास करना चाहिए।
- नीति निर्धारण द्वारा ऐसे क्षेत्रों में औद्योगिक बस्तियों की स्थापना का प्रावधान करना जहाँ कच्चामाल, शक्ति के साधन, यातायात, संचार, परिवहन आदि को प्रभावी कर स्थानीय निवासियों को उद्यमिता की महत्ता समझायी जा सके।
- प्रत्येक सरकारी प्रयास के पीछे शोध व अनुसन्धान की पृष्ठभूमि होनी चाहिए जिससे योजना को लक्ष्य समूह तक पहुँचाने और क्रियान्वित होने में अधिक समय न लगे तथा अपेक्षित परिणामों की प्राप्ति हो सके।
- विभिन्न संचार माध्यमों द्वारा इस प्रकार की योजनाओं के अधिक से अधिक प्रचार के उपाय किये जाने चाहिए जिससे ये सूचनाऐं समाज के इच्छित वर्गों तक जा सके।

- नीति, कार्यक्रम तथा योजनाओं का वर्तमान प्रतिस्पर्धात्मक व्यापारिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य में निरन्तर पुर्नसमीक्षा कर उसे सम-सामयिक बनाने का प्रयास करते रहना चाहिए।
- उद्यमिता सम्बन्धी सूचनाओं तथा कठिनाइयों को दूर करने हेतु एकल खिड़की प्रणाली से एकल मेज प्रणाली की तरफ अग्रसर होना जिससे इन योजनाओं के सम्बन्ध में व्यक्ति की जिज्ञासा, कठिनाई आदि को चन्द समय में एक ही स्थान पर सुलझाया जा सके।

4.7 सारांश

हमारे देश में उद्यमिता सम्बन्धी प्रयासों को दो कालों में किया जा सकता है, यथा-स्वतंत्रता पूर्व तथा पश्चात्। गहन अध्यनोपरान्त इस निष्कर्ष पर आया जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार ने प्रदेश सरकारों के माध्यम से कई अनूठी योजनाओं का प्रारम्भ किया, जिससे नव उद्यमियों को आकर्षित कर राष्ट्र के आर्थिक विकास की धारा में उन्हें आगे लाया जा सके। सरकार ने इस हेतु नीति, योजना, कार्यक्रम को अपनी सहयोगी संस्थाओं के माध्यम से प्रचारित-प्रसारित करने में भी निरन्तर प्रयास किये हैं। सरकार के अनुषांगिक संगठनों की श्रृंखला ने भी नव उद्यमियों के प्रोत्साहन हेतु अनेक योजनाओं का विकास किया है। किन्तु जहाँ एक ओर इन प्रयासों के द्वारा नित नई योजनाओं, कार्यक्रमों का विकास किया गया, वहीं दूसरी ओर इनके क्रियान्वयन में कहीं न कहीं कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। वस्तुतः सरकारी प्रयासों को और अधिक प्रभावी बनाने हेतु हमें एक सुव्यवस्थित, सुसंगठित तथा योजनाबद्ध नीति तथा उसके प्रभावी क्रियान्वयन की आवश्यकता होगी जिससे देश के प्रत्येक व्यक्ति को उद्यमिता का महत्व समझाते हुए उसे स्वरोजगार की दिशा में अग्रसर किया जा सके।

4.8 उपयोगी शब्द कोष

सरकार की भूमिका - उद्यमिता के क्षेत्र में केन्द्रीय/प्रादेशिक सरकार द्वारा किये जा रहे प्रयास जिससे उद्यमिता को बढ़ावा दिया जा सके।

लघु एवं कुटीर उद्योग - ऐसा उत्पादन क्षेत्र जिसे कम पूँजी, कम मानव संसाधन तथा बिना बिजली उपकरण के स्थापित किया जाता है तथा जो क्षेत्र विशेष की आवश्यकता पूर्ण करते हैं।

प्रवर्तन - किसी कार्य विशेष को आम समुदाय के सामने लाने की क्रिया जिससे उसे प्रचारित-प्रसारित किया जा सके।

विकेन्द्रीकरण - अधिकारों का समायोजन एक ही केन्द्रीय बिन्दु पर होता है। इसके उपयोग का अधिकार किसी और को नहीं दिया जाता।

तार्किकरण - किसी कार्य को करने का न्यायोचित करण प्रस्तुत करना।

कार्यशाला - विशेष मुद्दे या विषय पर उससे सम्बन्धित व्यक्तियों की बैठक, जिससे विभिन्न आवश्यक बिन्दुओं पर विचार-विमर्श किया जा सके।

4.9 महत्वपूर्ण प्रश्नावली

प्र.1 उद्यमिता विकास में सरकार की भूमिका को रेखांकित कीजिये।

प्र.2 स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उद्यमशीलता के सम्बन्ध में किये गये सरकारी प्रयासों की विवेचना कीजिए।

प्र.3 सरकार की नीति निर्धारण भूमिका को स्पष्ट करें।

प्र.4 सरकार द्वारा किये जा रहे कार्यकारी उपायों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करें।

प्र.5 सरकार द्वारा किये जा रहे संवर्द्धनात्मक तथा संस्थागत प्रयासों को सूचीबद्ध करें।

प्र.6 सरकार द्वारा स्थापित सहयोगी संगठनों के महत्व को समझाइये तथा इनकी कार्यप्रणाली को और प्रभावी बनाने के उपाय सुझाइये।

प्र.7 सरकारी प्रयासों को लागू करने में विभिन्न बाधक कारकों का विश्लेषण करिये।

प्र.8 सरकारी प्रयासों को कैसे लक्ष्योन्मुख तथा प्रभावी बनाया जा सकता है? टिप्पणी करें।

इकाई - 5 : सरकारी नीतियाँ तथा उसके प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 परिचय, उद्देश्य तथा विशेषताएँ

5.3 नीतिगत प्रयास तथा उसके प्रभाव

5.4 नीतिगत प्रयासों की उपयोगिता

5.5 सारांश

5.6 उपयोगी शब्द कोष

5.7 महत्वपूर्ण प्रश्नावली

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययनोपरान्त आप छात्रगण इस योग्य हो सकेंगे कि -

- सरकारी नीति का परिचय, उद्देश्य तथा विशेषताओं को आत्मसात् कर सकेंगे,
- सरकारी नीति के विभिन्न क्षेत्रों तथा इनके प्रभावों की विस्तृत व्याख्या कर सकेंगे, तथा
- नीतिगत प्रयासों का मूल्यांकन कर इनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाल सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप ने उद्यमिता के क्षेत्र में सरकार तथा उसके अनुषांगिक संगठनों के सम्बन्ध में ज्ञानार्जन किया। प्रस्तुत इकाई सरकार द्वारा नीति निर्माण सम्बन्धी प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालेगी। उद्यमिता को आर्थिक विकास के लिए एक स्तंभ माना जाता है। अर्थव्यवस्था के विकास पर देश की उद्यमिता स्तर का गहन प्रभाव पड़ता है। यह कहावत कि उद्यमी जन्मजात होते हैं। अब यही नहीं कहा जा सकता बल्कि अब यह कहा जाने लगा है कि उद्यमी सरकार द्वारा निर्मित नीतियाँ एवं अन्य संवर्द्धन कार्यक्रम के रूप में समुचित मध्यस्था के माध्यम से सृजित एवं विकसित किये जा सकते हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी क्रान्ति के साथ-साथ उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण के इस दौर में सक्षम उद्यमी इन विकसित नीतियों तथा सरकारी प्रयासों से प्राप्त अवसरों का प्रयाप्त लाभ ले रहे है तथापि समग्र जनसंख्या विशेषकर ग्रामीण क्षेत्र का एक बड़ा तबका अभी भी इन अवसरों का लाभ उठाने में पीछे रह जाता है। इसलिए आर्थिक विकास की इस प्रक्रिया में उन्हें मुख्य धारा में लाने के उद्देश्य से सरकार द्वारा इस क्षेत्र में निरन्तर अपना योगदान दिया जा रहा है। इस इकाई में सरकारी नीतियों के उद्देश्य, विशेषताएं, क्षेत्र नीतियों के प्रभाव एवं इनकी उपयोगिता का विश्लेषण करने का प्रयास किया जायेगा।

5.3 परिचय, उद्देश्य तथा विशेषताएँ

भारत की आर्थिक विकास यात्रा में सरकार के नियमन, नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप का महत्वपूर्ण एवं प्रभावी योगदान रहा है। विकास यात्रा के प्रारम्भिक काल में आर्थिक स्वतंत्रता के दृष्टिगत नीति निर्माण का कार्य शुरू हुआ था जिसमें राज्य का कार्य स्वस्थ प्रशासन, शान्ति एवं सुरक्षा, विकास एवं समान अधिकार प्रदान करने तक ही होता था। विकास यात्रा के द्वितीय चरण में स्वतंत्रता प्राप्ति तथा हरित क्रान्ति के पश्चात सरकार के अधिकारों तथा भूमिकाओं को उद्योगों के नियमन एवं नियन्त्रण के क्षेत्र में अति आवश्यक समझा जाने लगा जिसके अन्तर्गत सरकारी नीतियों को रोजगारोन्मुख, विकासोन्मुख तथा उदारीकरणपरक बनना आवश्यक हो गया जिससे वर्तमान में हो रहे संस्थनात्मक परिवर्तन, भूमण्डलीकरण, भौतिकवादी एवं नव प्रवर्तन बाजार में व्यक्ति उद्यमिता के गुणों का विकास कर लघु उद्योग की स्थापना के माध्यम से इस विकास यात्रा में अपना योगदान दे सकें।

इस प्रकार आर्थिक विकास प्रक्रिया में अब राज्य की भूमिका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सहयोगी के रूप में स्थापित हो चुकी है। सरकार की चुनौती अब नागरिकों को आतंकवाद से बचाने के साथ-साथ लोक कल्याण करते हुए उद्योगों की स्थापना, संचालन व नियन्त्रण द्वारा रोजगार, आय, धन सम्पदा के रूप में परिणित होती जा रही है। इस आशय को संविधान में डा. भीमराव अम्बेडकर जी ने भी कुछ इस तरह से व्यक्त किया है - आर्थिक समानता, सम्पूर्ण समाज का कल्याण तथा खुशहाल राष्ट्र हेतु महत्वपूर्ण योजनाओं व परियोजनाओं का निर्माण, संचालन व नियन्त्रण आधुनिक सरकारों का परम आवश्यक दायित्व होगा। वस्तुतः एक राज्य की भूमिका वर्तमान

परिदृश्य में एक उद्यमी, उत्पादक नियोजनकर्ता क्रियाओं का नियंत्रक तथा राष्ट्रीय संसाधनों के कुशल प्रबन्धक के रूप में स्थापित हो चुकी है। अतः सरकार द्वारा उद्यमी, उद्यमशीलता तथा उद्योगों के सम्बन्ध में नीति निर्माण के प्रमुख उद्देश्यों को अग्रलिखित ढंग से सूचीबद्ध किया जा सकता है -

(क) भारतीय संविधान की मूल भावना में समाजवादी समाज स्थापना की बात कही गई है जिस हेतु सरकार से अपेक्षा की जाती है कि वो प्रत्येक नागरिक को रोजगार उपलब्ध करा कर उसके विकास के प्रति चिन्तित हो।

(ख) सुप्रबन्धित नियोजन हेतु विभिन्न कार्यक्रमों को चरणबद्ध ढंग से लागू करने के लिए तथा आर्थिक नियोजन अपनाने हेतु नीति निर्माण कार्यक्रमों की आवश्यकता होती है।

(ग) जन उपयोगी सेवाओं की अनुषांगिक सेवाओं को निजी उद्यमिता तथा उद्योगों के विकास से ही तीव्र किया जा सकता है।

(घ) बिना आधारभूत ढाँचे के किसी भी प्रकार का विकास सम्भव नहीं है। अतः आधारभूत ढाँचे के पर्याप्त विकास हेतु सरकार की नीतियों की निरन्तर आवश्यकता होती है।

(ङ) उद्यमी का विकास तथा उद्योगों की स्थापना सम्बन्धी आवश्यकताओं को विभिन्न प्रकार की प्राथमिकताओं में सम्मिलित किये बिना इनका विकास अपेक्षित गति से नहीं हो सकता । अतः विकास की प्राथमिकताओं में सरकारी नीतियों के माध्यम से प्रभावी स्थान प्रदान करना।

(च) उद्योगों की स्थापना एक जोखिम भरा कार्य है निजी क्षेत्र में कन्धे से कन्धा मिला उनके जोखिमों का प्रभाव न्यून करने हेतु कदम से कदम मिला विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान करना।

(छ) क्षेत्रीय एवं औद्योगिक समानताओं को स्थापित कर सभी को समानता के अवसर प्रदान करना।

(ज) भारत जैसे विकासशील देश में नित नये विदेशी संस्थान अपने व्यवसाय की स्थापना कर रहे हैं जिससे विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के कारण कठिनाइयाँ सामने आ रही हैं। इस प्रकार सरकारी नियमन व संरक्षण लघु उद्योगों तथा उद्यमियों को प्रभावी नीति निर्माण

कर प्रतिस्पर्द्धा करने में मदद करती हैं ।

(झ) एकाधिकार सत्ता को कुछ बड़े उद्योगपतियों के हाथों में जाने से रोकने का कार्य भी सरकारी नीतियों के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है जिससे अनुचित मूल्यवृद्धि, कच्चेमाल के उत्पादकों का शोषण, उत्पाद की गुणवत्ता में गिरावट, उत्पाद की उपलब्धता में कृत्रिम कमी आदि पर रोक लगाई जा सकती है।

(ञ) औद्योगिक शान्ति तथा विवादों से बचने एवं श्रम सुविधाओं तथा श्रम सन्तोष बढ़ाने हेतु विभिन्न सुविधायें प्रदान करके सर्वांगीण विकास के द्वार भी सरकार की नीतियों द्वारा ही खुलते हैं।

(ट) आर्थिक मन्दी के भयावह दौर से निकलने तथा आर्थिक स्थायित्व प्रदान करने हेतु सरकार विभिन्न नीतियाँ बनाकर सम्पूर्ण व्यवसाय को सुरक्षा प्रदान कर एक सूत्र में बाँधने का कार्य करती है।

(ठ) प्रायः विकास की प्रतिस्पर्धात्मक मठ दौड़ में उद्यमी संसाधनों का मनमाना दोहन करना शुरू कर देते है। ऐसे में सरकार योजनाबद्ध ढंग से राष्ट्र के प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों का राष्ट्रहित में प्रयोग करती है।

अतः उपरोक्त बिन्दुओं से यह तथ्य स्थापित हो जाता है कि उद्यमी उद्यमिता तथा उद्योगों के सम्बन्ध में बिना सरकारी नियमन, नियंत्रण एवं नीति निर्माण के आर्थिक विकास को तीव्र गति से नहीं बढ़ाया जा सकता। ऐसे में सरकारी नीतियों को समसामयिक, प्रतिस्पर्धात्मक तथा रोजगारोन्मुख बनाने हेतु निम्न तत्वों को इनमें शामिल किया जाना महत्वपूर्ण प्रतीत होता है -

1. नीतियों एवं भूमिकाओं को व्यक्ति परक तथा व्यवसायपरक बनाया जाय।
2. नीतियों की व्यापक तथा गतिमान समसामयिक प्रक्रिया व कार्य विधि हो।
3. व्यापार तथा उद्योगों में इसे भार न समझ एक मौलिक व आधारभूत संरचनात्मक क्रियाकलापों के अंग के रूप में मान्यता प्रदान की जाये।
4. प्रत्येक नीति सम्बन्धी उपाय सुस्पष्ट करते हुए बेहतर संचारित किए जायें।
5. नीतियों के उचित क्रियान्वयन तथा मूल्यांकन हेतु संरचना का समावेश

किया जाए।

6. नीतियाँ, पथ। प्रदर्शन नेतृत्वकर्ता, समन्वयकर्ता, उत्प्रेरक तथा नियंत्रण कर्ता की भूमिका में रहें।
7. उद्यमी तथा उद्योगों का विकास नवीनीकरण, प्रवर्तन तथा पंजीकरण के प्रावधानों से ओत-प्रोत हो।
8. ये सरकार के दायित्व को उद्यमी तथा उद्योगों के प्रति तथा इनके दायित्व को सरकार के प्रति सुस्पष्ट करती हों।
9. ये देश की आर्थिक क्रियाओं में प्रत्येक व्यक्ति की महत्ता तथा उसके द्वारा राष्ट्रहित में किये गये प्रयासों की एक झलक देती हो जिससे अन्य भी उद्यमशीलता के गुणों को अपनाकर स्वरोजगार को प्राप्त कर सकें तथा दूसरों को भी रोजगार दे सकें।

5.3 नीतिगत प्रयास तथा उसके प्रभाव

सरकारी नीतिगत क्षेत्र का निर्धारण सदैव से ही विचारणीय मुद्दा रहा है। इसके स्वरूप, क्रियान्वयन, नियन्त्रण तथा सीमाओं के निर्धारण हेतु अनेक समितियों ने अपने सुझावों के माध्यम से निर्धारण का प्रयास किया है। इस प्रकार इसका निर्धारण विभिन्न सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक कारकों से प्रभावित होता रहा है। अपने अध्ययन की सुविधा हेतु हम इनके क्षेत्रों का निर्धारण कुछ इस प्रकार से कर सकते हैं -

प्रत्यक्ष क्षेत्र में -

उद्यमिता एवं लघु उद्योग के विकास हेतु सरकार की प्रत्यक्ष भूमिका के तौर पर, प्रथम आवश्यकता उद्योगों को आवश्यक कच्चामाल उपलब्ध कराने की होती है जिस हेतु सरकार राष्ट्रीय स्तर पर दुर्लभ रूप से उपस्थित कच्ची सामग्री का कोटा निर्धारित करती है जिसके अनुसार प्रत्येक उद्योग को इसका वितरण सुनिश्चित किया जाता है। इनमें प्रमुख रूप से विभिन्न रसायनों, खनिजों, वन सम्पदा आदि के सम्बन्ध में नीतियों का निर्माण किया जाता है। प्रत्यक्ष सहायता के द्वितीय चरण में तकनीकी सहयोग प्रदान करना एक अहम मुद्दा होता है जिस हेतु सरकारी प्रयासों के अन्तर्गत विभिन्न शोध संस्थानों व प्रयोगशालाओं की स्थापना की गई है। ये संस्थान निरन्तर उद्यमियों को नवीनतम लागतोपयोगी समसामायिक तकनीकी प्रवर्तन का कार्य कर रहे हैं। इनमें प्रमुख रूप से

आई.आई.टी., आई.आई.पी.ए., आई.आई.पी तथा डी.आर.डी.ओ जैसे प्रचलित संगठनों को सम्मिलित किया जा सकता है।

उत्पादन को बढ़ाने हेतु विभिन्न क्षेत्रों में प्रोत्साहन भी सरकार की औद्योगिक विकास की प्रत्यक्ष दीर्घकालीन योजनाओं के अन्तर्गत रखा जा सकता है जिसमें शोध के माध्यम से गुणवत्ता निर्धारण प्रक्रियागत सुधार डिजाइन, रंग, आकार, आदि में परिवर्तन कर योजना को आकार प्रदान किया जाता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विदेशी उद्यमियों से प्रतिस्पर्धा करने हेतु नीति निर्माण का कार्य करती है। इस सम्बन्ध में बिक्रीकर, उत्पाद कर, सीमा कर, तथा आयतों पर कोटा निर्धारण कर घरेलू उद्योगों को बढ़ावा देने का प्रयास किया जाता है। निरन्तर बढ़ती प्रतियोगिता में टिके रहने हेतु उद्योगों को वित्तीय सहायता की आवश्यकता होती हैं जिसके सम्बन्ध में नीति निर्माण कर दायित्व भी सरकार का होता है। इन नीतियों के अन्तर्गत बैंकों को सुलभ ऋण बाँटने, वित्तीय संस्थानों तथा निगमों की स्थापना कर वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने का कार्य किया जा रहा है।

उद्यमियों से भी सरकार की यही अपेक्षा होती है कि वे इन वित्तीय संस्थानों की विभिन्न सुविधाओं का लाभ प्राप्त करने हेतु इन संस्थाओं की विभिन्न शर्तों व नियमों का अनुपालन करेंगे जिसमें उद्यमिता के क्षेत्र में पर्याप्त वित्तीय अनुशासन बना है। इस प्रकार प्रत्यक्ष सहायता से सरकार उद्यमियों को प्रोत्साहित कर विभिन्न छूट व रियायत प्रदान कर पिछड़े क्षेत्रों में भी उद्यमिता को बढ़ाने का कार्य कर स्वरोजगार को बढ़ावा देने का कार्य कर रही है।

अप्रत्यक्ष क्षेत्र में -

जिस प्रकार प्रत्यक्ष नीति निर्माण कर उद्यमिता को बढ़ावा देने का कार्य हो रहा है ठीक उसी प्रकार अप्रत्यक्ष क्षेत्रों में भी सरकार नीतिगत उपायों द्वारा नियमों, योजनाओं नीतियों तथा अधिनियमों के माध्यम से उद्यमिता कार्यों पर वैधानिक नियंत्रण करने का कार्य करती है। अप्रत्यक्ष नीति निर्माण के अन्तर्गत निम्नलिखित क्षेत्रों को संचालित किया जा सकता है।

अप्रत्यक्ष सहायता के मार्ग पर चले हुए सरकार ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात से सरकार ने अब तक दस पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण कर उद्यमिता विकास करने का प्रयास किया है। इसी क्रम में विभिन्न औद्योगिक नीतियों का निर्माण किया है। आइये

अग्रलिखित तालिका के माध्यम से कुछ महत्वपूर्ण नीतियों का संक्षेपण कर व्याख्या करने पर प्रयास करें, जिनमें उद्यमिता एवं औद्योगिक विकास को संरक्षण व नियंत्रण मिला है।

उपरोक्त नीतियों के क्रम में ही महत्वपूर्ण उद्योगों के सम्बन्ध में लाइसेंस प्रणाली को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत औद्योगिक कार्य कलापों, तकनीकी, उन्नयन, आधुनिकीकरण, सामग्री आयात, उत्पादन क्षमता में सुधार, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा आदि क्षेत्रों को सम्मिलित किया जाता है। वर्तमान लाइसेंस योजना के अन्तर्गत पर्यावरणीय एवं सुरक्षा कारणों से छः प्रमुख उद्योगों के लिए लाइसेंस की आवश्यकता का निर्धारण किया गया है -

(क) शराब तथा उसके उप-उत्पादों का निर्माण तथा परिष्करण,

(ख) तम्बाकू तथा इसके उप-उत्पाद

(ग) सभी प्रकार के सुरक्षा उपकरण जिनकी आवश्यकता राष्ट्रीय स्तर पर होती है

(घ) महत्वपूर्ण ज्वलनशील पदार्थ

(ङ) महत्वपूर्ण रसायन तथा

(च) सभी प्रकार की औषधियों तथा इनके उप-उत्पाद।

ऊपर वर्णित उत्पादों की श्रेणी को निजी तथा सार्वजनिक दोनों प्रकार के उद्योगों द्वारा प्रारम्भ किया जा सकता है। किन्तु औद्योगिक लाइसेन्स नीति के अन्तर्गत अग्रलिखित उद्योगों को केवल सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित कर लिया गया है। इनमें आणविक ऊर्जा, रेलवे, युद्ध सामग्री, हथियार, युद्ध पोत तथा रक्षा हवाई जहाज प्रमुख हैं

अप्रत्यक्ष सहायता के रूप में अधिनियमों का निर्माण भी उद्यमिता विकास के कालक्रम में मील का पत्थर साबित हुआ है। इन अधिनियमों में प्रमुख रूप से औद्योगिक अधिनियम 1951 जिसकी स्थापना उपलब्ध संसाधनों का उचित दोहन, आवंटन प्रक्रिया, उद्यमिता प्रोत्साहन, लघु उद्योगों को संरक्षण, प्रवर्तन तथा आर्थिक क्रियाओं के विकेन्द्रीकरण को लक्षित करके किया गया था। इसी क्रम में पूँजी निगमित अधिनियम 1947 के उद्देश्यों में औद्योगिक उपक्रमों को पूँजी के निर्गमन व नियंनण सम्बन्धी निर्णयों को स्वीकृति प्रदान करना तथा पूँजी विनियोजन को सुप्रबन्धित व लाभप्रद क्षेत्रों में निर्देशित तथा नियंत्रित करते हुए सामाजिक समस्या को स्थापित किया जा सके। इस प्रकार व्यावसायिक क्रियाओं के नियंत्रण हेतु आवश्यक वस्तु अधिनियम 1955,

व्यापारिक सन्नियम, प्रतिभूति प्रसंविदा अधिनियम 1956, एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार अधिनियम 1969, विनिमय साहय विलेख अधिनियम तथा प्रतिस्पर्धा अधिनियम 2000 का निर्माण किया गया। जिससे स्वस्थ, सन्तुलित व्यवहारात्मक तथा प्रतिस्पर्धात्मक व्यावसायिक वातावरण का निर्माण सम्भव हो सके ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर छिपे उद्यमिता गुणों का विकास कर सके।

अप्रत्यक्ष सहायता के क्षेत्र में मूल्य नियंत्रण सम्बन्धी नीतिगत उपाय सदैव से ही उपभोक्ता हितों की रक्षा करने का प्रयास करते आये हैं। सरकार ने अपनी नीतियों के माध्यम से कपड़ा खाद्यान्न, औषधियों, गन्ना, आदि के मूल्यों को समस-समय पर निर्धारित कर नियन्त्रित करने का प्रयास किया है। इन प्रयासों से अनुचित मूल्य वृद्धि तथा गलत प्रकार की प्रतिस्पर्धाओं पर लगाम लगती है तथा समाज के सभी सदस्यों को गुणवत्ता युक्त उत्पादों की प्राप्ति होती है। यूँ तो सरकार ने भी 1946 में उत्पादों की गुणवत्ता के मापन तथा निर्धारण हेतु भारतीय मानक संस्थान की स्थापना की है जिसका प्रमुख कार्य निर्माण प्रक्रिया, आकार, प्रकार, उपादेयता आदि को सुनिश्चित कर गुणवत्ता का उचित स्तर बनाये रखने का होता है।

उद्यमिता तथा उद्यमशीलता के विकास सम्बन्धी अप्रत्यक्ष उपायों के अन्तर्गत सरकार द्वारा 1956 से निरन्तर विशेष नीतिगत उपाय किये जाते रहे हैं। जिनमें प्रशिक्षण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय संस्थानों के सहयोग से अल्पकालीन समसामयिक उद्यमिता तथा लघु उद्योग विकास कार्यक्रमों की रचना तथा प्रशिक्षण, प्रमुख परामर्श केन्द्रों की स्थापना का प्रयास किया गया है। भारतवर्ष में सरकार द्वारा स्थापित इस सम्बन्ध में स्थापित कुछ प्रमुख संस्थान इस प्रकार से है :-

1. एडमिनिस्ट्रेशन स्टाफ कालेज आफ इण्डिया, हैदराबाद
2. उद्योग प्रशिक्षण केन्द्र, मुम्बई
3. राष्ट्रीय उत्पादकता प्रशिक्षण संस्थान, हैदराबाद
4. लघु उद्योग विस्तार प्रशिक्षण संस्थान, हैदराबाद
5. केन्द्रीय लघु उद्योग विस्तार संगठन, नई दिल्ली।

3. उपभोक्ता संरक्षण में - समस्त व्यावसायिक प्रक्रियाओं का केन्द्र बिन्दु उपभोक्ता होता है। उपभोक्ता के द्वारा लिये गये विभिन्न निर्णयों से उत्पादन, बाजार, विज्ञापन, आय, विक्रय, आदि क्रियाएं निरन्तर प्रभावित होती रहती है। उपरोक्त

क्रियाओं के सुव्यवस्थित संचालन द्वारा उपभोक्ता हितों के रक्षार्थ समय-समय पर सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार के अधिनियमों की रचना की गई हैं जिनमें अग्रलिखित को सम्मिलित किया जा सकता है -

1. वस्तु विक्रय अधिनियम 1930
2. खतरनाक भैषज अधिनियम 1930
3. कृषि उत्पाद श्रेणियन एवं चिन्ह अधिनियम 1937
4. भारतीय प्रमाणन चिन्ह अधिनियम 1952
5. खाद्य मिलावट रोक अधिनियम 1954
6. आवश्यकता वस्तु अधिनियम 1955
7. औषधि एवं आपत्तिपूर्ण विज्ञापन अधिनियम 1955
8. प्रमाणित भार एवं माप अधिनियम 1956
9. संवेष्टन वस्तु अधिनियम 1975
10. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम 1966
11. प्रतिस्पर्धा अधिनियम 2000

4. श्रमिक हितार्थ में -

स्वतंत्रता पूर्व जिस प्रकार हमारी औद्योगिक व्यवस्था असंगठित रूप से कार्य कर रही थी ठीक उसी प्रकार हमारे मजदूर भाई भी असंगठित रूप से बिखरे हुए थे। उनके हितों की रक्षा करने वाले संगठित उपायों का अभाव था किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात से ही प्रथम पंचवर्षीय योजना में सरकार ने इस प्रकार ध्यान देने का प्रयास किया तथा श्रमिकों को अधिकार सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से अनेक प्रभावी तथा अधिकारदायी अधिनियमों की स्थापना की। ज्ञातव्य हो भारतीय संविधान में भी श्रमिक कल्याण तथा उद्योगों में श्रमिकों की सहभागिता का प्रावधान किया गया है। अतः संविधान के दर्शन को लागू करने की दिशा में श्रमिकों के हितार्थ सरकार ने विभिन्न अधिनियमों की स्थापना की :-

(1)	औद्योगिक विभाग अधिनियम	-	1947
(2)	कारखाना अधिनियम	-	1948

(3)	न्यूनतम मजदूरी अधिनियम	-	1948
(4)	कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम	-	1948
(5)	खान अधिनियम	-	1952
(6)	बागान श्रम अधिनियम	-	1952
(7)	कर्मचारी भविष्य निधि	-	1952
(8)	बोनस भुगतान	-	1965
(9)	बंधुआ मजदूर प्रणाली	-	1976
(10)	श्रम संघ अधिनियम	-	1927
(11)	श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम	-	1923
(12)	भुगतान मजदूरी अधिनियम	-	1936
(13)	मातृत्व हित लाभ अधिनियम	-	1961

इस प्रकार सरकार ने श्रमिकों के हितार्थ इन अधिनियमों के माध्यम से पर्याप्त सामाजिक सुरक्षा तथा श्रम कल्याण के उपाय करने की कोशिश की है। जिससे राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति, उत्पादन में वृद्धि तथा श्रमिकों की उत्पादकता को बढ़ावा देते हुए आर्थिक विकास के पथ को प्रदर्शित किया जा सके।

5. रूग्ण इकाइयों के हित में - सरकारी नीतिगत प्रयासों के अन्तर्गत औद्योगिक विकास एवं नियमन अधिनियम - 1957 के अन्तर्गत यह प्रावधान है कि वे कमजोर तथा बीमार औद्योगिक इकाइयों का संचालन तथा प्रबन्धन करे जिससे उनके अस्तित्व की रक्षा की जा सके। इन इकाइयों की यह दुर्दशा उद्यमियों के अल्प ज्ञान तथा अकुशल प्रबन्धन के कारण होती है। प्रारम्भिक तौर पर सरकार इन इकाइयों को पाँच वर्षों के लिए अपने नियंत्रण में लेती है जिसमें इस इकाई की योजना निर्णयन, उत्पादन, विक्रय तथा नियंत्रण सम्बन्धी उपाय सरकार के प्रतिनिधियों के माध्यम से किये जा सकते हैं। ज्ञातव्य है कि विशेष परिस्थितियों में उद्योगों के सम्बन्ध में अधिग्रहण की अवधि को 05 वर्षों से अधिक भी किया जा सकता हैं

6. आधारभूत संरचना विकास में - आर्थिक विकास के क्षेत्र में पड़ने वाला पहला कदम जिसके बिना विकास का सपना एक कोरी कल्पना साबित होता है।

आधारभूत संरचनागत उपायों में जल, विद्युत, संचार परिवहन, चार प्रमुख आधारभूत व्यवस्थाओं को सम्मिलित किया जाता है तथा सहायक सेवाओं में खनिज तेल, बैंक, बीमा व्यापारिक सहायता केन्द्र आदि को रखा जाता है। भारत जैसे भौगोलिक तथा सांस्कृतिक विविधता वाले देश में आधारभूत सुविधाओं का विकास निजी उद्यमियों तथा सरकार के संयुक्त प्रयासों के बिना सम्भव नहीं हो सकता। प्रायः देखा गया है कि आधारभूत ढाँचे के विकास के कदम व्यापारिक रूप से अधिक लाभप्रद नहीं होते इसलिए निजी उद्यमी इस ओर कम आकर्षित होते हैं अतः संरचनागत विकास का सम्पूर्ण दायित्व सरकार का होता है। आइये अपने अध्ययन की दृष्टि से सरकार के प्रयासों पर एक सूक्ष्म दृष्टि डालें :-

1. भारत के प्रत्येक जिला स्तर पर आधारभूत संरचना के विकास हेतु केन्द्रीय सरकार ने जिला विकास केन्द्र की स्थापना की है।
2. कुछ विशिष्ट केन्द्रीय तथा राज्य स्तरीय संस्थानों को स्थापित जिले के विकास का दायित्व दिया गया है। जैसे - एन.टी.पी.सी. ऊँचाहार को रायबरेली जिले की आधारभूत संरचना के निर्माण का दायित्व दिया गया है।
3. उद्योगों के विकास हेतु पिछड़े क्षेत्रों में विभिन्न विकास केन्द्रों को जनोपयोगी सेवाओं के साथ सम्मिलित किया गया है जिससे वे इन क्षेत्रों में उपलब्ध संसाधनों की प्राप्ति व निर्धारण का कार्य कर सकें।
4. उ.प्र. औद्योगिक विकास निगम भी उद्यमियों के सहायतार्थ व्यापक आधारभूत सुविधाएं उपलब्ध करा रहा है। इन सुविधाओं में प्रमुख रूप से सर्वेक्षण परियोजना निर्माण, अनुदान देने व निवेश सम्बन्धी मौलिक सहायता व परामर्श प्रदान करता है।

इस प्रकार सरकार द्वारा आधारभूत सुविधाओं के सन्दर्भ में मात्रात्मक तथा गुणात्मक आधार पर निर्णय लिये जाते हैं तथा वे उद्यमियों को लक्ष्य केन्द्रित दृष्टिकोण बनाने में सहायता प्रदान करती है जिससे सम्पूर्ण औद्योगिक विकास को नई दिशा मिल सके।

7. औद्योगिक लाइसेन्स योजना में - लाइसेन्स किसी भी विकास को योजनाबद्ध ढंग से राष्ट्रीय नीतियों एवं उद्देश्यों के अनुरूप क्रियान्वित करने की एक प्रणाली होती है। इस प्रणाली के द्वारा विकास कार्यक्रमों को व्यावहारिक रूप देकर व्यवस्थित विकास

के लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकती है। इस व्यवस्थागत प्रणाली के महत्व को अग्रलिखित बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता हैं ।

1. राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक प्राथमिकताओं तथा योजनानुसार उद्योगों की स्थापना, विकास एवं नियमन करना।
2. उद्यमियों तथा उद्योगों को नवीन तकनीकी माध्यमों से परिचित कर सम्पूर्ण लागतों में कमी लाना।
3. सन्तुलित विकास को प्रोत्साहित कर पिछड़े क्षेत्रों एवं प्रदेशों को विकास मार्ग में सम्मिलित करना।
4. लघु उद्यमियों तथा उपायों को प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्रदान कर स्वरोजगार के प्रति प्रेरित करना।
5. उत्पादकता में बढ़ोत्तरी के निरन्तर प्रयासों के द्वारा आत्मनिर्भरता प्राप्त कर विदेशी मुद्रा की बचत करना।
6. लघु उद्योगों की स्थापना सम्बन्धी प्रक्रिया को सरल एवं पारदर्शी बनाते हुए पात्र व्यक्तियों तक ले जाना।
7. पूँजी प्रबन्धन करते हुए पूंजी विनियोग का सन्तुलित प्रयास करना।
8. औद्योगिक नीति के उद्देश्यानुसार सन्तुलित औद्योगिक विकास को बढ़ावा देना।

5.4 नीतिगत प्रयासों की उपयोगिता

सरकार द्वारा किसी भी नीति का निर्माण लोगों के रहन-सहन में सुधार लाने का लक्ष्य रख कर किया जाता है। ये नीति विकासोन्मुख होने के साथ-साथ लोगों के जीवन स्तर को सुधारें यह लक्ष्य भी इन नीतियों में अर्न्तनिहित होता है ताकि इन नीतियों के परिणामों का मूल्यांकन तथा क्रियान्वयन सुव्यवस्थित रूप से लम्बे समय तक चलता रहे। इससे भी ज्यादा आवश्यक यह है कि यह समावेशी स्वरूप का हो। समावेशी विकास की धारणा अनिवार्य रूप से इस बात से जुड़ी है कि सभी को स्वतंत्रता व गरिमा के साथ एक सफल एवं सार्थक जीवन यापन के पर्याप्त एवं समान अवसर प्राप्त हो। यह स्वरोजगार तथा उद्यमिता विकास की तरफ बढ़ाया गया एक प्रभावी कदम साबित होता है। इसमें उद्यमिता विकास एवं समाज के सभी वर्ग और विशेष रूप से समाज के साधनहीन एवं हाशिये पर रह रहे जनसमूह का आर्थिक एवं सामाजिक विकास शामिल

है। ऐसे समूहों को न केवल आर्थिक एवं सामाजिक मुख्यधारा में लाना, बल्कि इन्हें विकास की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार और विधिसम्मत लाभानुभोगी बनाना सम्मिलित है। अन्ततः एक स्वस्थ, शिक्षित और समर्थ उद्यमी ही अच्छी उत्पादकता में सहयोग करता है। जिसके परिणामस्वरूप सरकारी नीतियों की सार्थकता सिद्ध होती है। आइये इन नीतियों के उपयोगिता के महत्व को समझने का प्रयास करें :-

1. सरकारी नीतियों के द्वारा अनेक उद्यमियों को सरकारी नीतिगत प्रावधानों योजनाओं तथा विधिगत प्रावधानों की सूचना प्राप्त हो जाती है।

2. उद्यमियों को उद्योग स्थापना, क्रियान्वयन तथा नियन्त्रण हेतु विभिन्न आवश्यक सुविधाएं सरकारी दरों पर प्राप्त होती है जिनसे उनके ऊपर सरकार का संरक्षण रूपी हाथ बना रहता है।

3.सरकारी नीतियाँ उद्यमियों को सम्बन्धित नीतिगत व मार्गदर्शक उपाय सुझाती है जिनसे उनकी प्रक्रियागत समस्यायें स्वतः दूर हो जाती हैं।

4. उद्यमियों की सबसे बड़ी चिन्ता वित्त की होती हैं जो इन नीतियों की सहायता से अपनी क्षमता तथा आवश्यकतानुसार प्राप्त की जा सकती है।

5. लघु उद्यमियों का प्रशिक्षण तथा इनके द्वारा उत्पादित उत्पादों की गुणवत्ता नियंत्रण हेतु मार्ग दर्शन विभिन्न संस्थाओं की स्थापना के माध्यम से सहज उपलब्ध हो जाता है।

6. राष्ट्र में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों की सूचना, उपलब्धता तथा उपयोग सरल हो जाता है।

7. उपभोक्ता तथा उद्यमियों के व्यापक हितों तथा अधिकारों को नीतिगत उपायों द्वारा संरक्षित किया जाता है।

8. 'प्रतिस्पर्धात्मक बाजार' में अनीतिगत एवं अनुचित व्यवहारों पर नैतिकता तथा नियमों की सहायता से नियंत्रण किया जाना सम्भव हो पाता है।

9. संविधान के लोक कल्याणकारी व समाजवादी दर्शन को सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन द्वारा लागू कर सर्वसमाज का विकास सुनिश्चित करना।

5.5 सारांश

देश की आर्थिक विकास यात्रा में सरकारी नीतियों का निर्माण, क्रियान्वयन तथा भूमिका का निर्णायक योगदान होता है। विकसित और विकासशील दोनों प्रकार की

अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत औद्योगिक विकास की क्रमागत अवस्थाएं पूर्णतः सरकारी नीतियों की समझ व इनके विदोहन पर निर्भर करती हैं। वस्तुतः सरकारी नीतियाँ औद्योगिक विकास को स्थिर, गतिशील व व्यापक स्वरूप प्रदान करने सम्बन्धी आधारों का निर्माण करने में सहायक होती है। प्रायः इन नीतिगत प्रयासों के अन्तर्गत सात प्रमुख क्षेत्रों को सम्मिलित किया जाता है यथा - प्रत्यक्ष क्षेत्र, अप्रत्यक्ष क्षेत्र, उपभोक्ता तथा श्रमिक हित रूग्ण इकाइयों के हित, आधारभूत संरचना विकास तथा औद्योगिक लाइसेन्स प्रणाली।

5.6 उपयोगी शब्द कोष

सूचना प्रौद्योगिकी - कम्प्यूटर, इन्टरनेट तथा तकनीकी के संयोग से विकसित तकनीकी ।

प्रत्यक्ष क्षेत्र - ऐसे क्षेत्र जो प्रथम दृष्टया किसी कार्य के लिये उपयोगी माने जाते हैं।

उपभोक्ता संरक्षण - सामान्य उपभोक्ता के लिये क्रय तथा उपयोग सम्बन्धी संरक्षणों का निर्धारण।

5.7 महत्वपूर्ण प्रश्नावली

प्र.1 उद्यमिता तथा लघु उद्योगों से सम्बन्धित सरकारी नीतियों तथा उनके प्रभाव पर एक लेख लिखें।

प्र.2 सरकार द्वारा नीति निर्माण करने के विभिन्न उद्देश्यों की विस्तृत व्याख्या करिये।

प्र.3 सरकारी नीतियों की विशेषताओं की सूची बनाइये।

प्र.4 नीतिगत प्रयासों के क्षेत्रों को विस्तार से समझाइये।

प्र.5 नीतिगत प्रयासों के अन्तर्गत प्रत्यक्ष प्रयासों की विवेचना करिये।

प्र.6 उद्यमिता तथा लघु उद्योगों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष क्षेत्र तथा अप्रत्यक्ष क्षेत्र में सरकारी प्रयासों को समझाइये।

प्र.7 उपभोक्ता संरक्षण हेतु किये गये सरकारी प्रयासों को समझाइये।

प्र.8 श्रमिक हितों से सम्बन्धित विभिन्न अधिनियमों की सूची बनाइये।

प्र.9 आधारभूत संरचना रूग्ण इकाइयों के सम्बन्ध में सरकारी नीति को समझाइये।

प्र.10 सरकार द्वारा किये जा रहे नीतिगत प्रयासों की उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

M.COM-09
उद्यमिता एवं लघु उद्योग प्रबन्ध

खण्ड
2

परियोजना प्रबन्ध (Project Management)

इकाई-1 5
नये उपक्रम को प्रारम्भ करना (Starting a New Venture)

इकाई-2 14
परियोजना की अवधारणा (Concept of Project)

इकाई-3 26
परियोजना पहचान एवं प्रारूपीकरण (Project Indentification and Formulation)

इकाई-4 35
परियोजना रिपोर्ट और परियोजना मूल्यांकन (Project Report and Project Appraisal)

इकाई-5 47
परियोजना का स्थानीकरण और संगठन का चुनाव (Location of Project and Choice of Organisation)

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

विषयगत सम्पादन

प्रो0 एस0 ए0 अंसारी	निदेशक, मोनिर्बा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

प्रो0 के0 के0 चौरसिया	एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य, जी0 जी0, बिन्नानी, पी0 जी0, कालेज, मीरजापुर

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के स्वयं के हैं।

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री एम0 एल0 कनौजिया, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, मार्च 2010
मुद्रक नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद।

खण्ड-2 (परिचय)

उद्यमिता की अवधारणा को चरितार्थ करने की ओर एक आवश्यक कदम होता है, परियोजना प्रबन्ध। यह खण्ड इसी अवधारणा को विस्तार को प्रस्तुत करने का एक सुव्यवस्थित प्रयास है, क्योंकि एक नये उपक्रम को प्रारम्भ करने हेतु जब एक उद्यमी किसी परियोजना को हाथ में लेना चाहता है तब उसके लिये यह आवश्यक है कि वह परियोजना का इस प्रकार से प्रबन्धन करें कि उसे शत् प्रतिशत सफलता मिले। इस अवधारणा को स्पष्ट करने हेतु, इस खण्ड को निम्निलिखित इकाईयों में विभक्त किया गया है :-

इकाई-01 में, नये उपक्रम को प्रारम्भ करना, नये उपक्रम की स्थापना के लिए परियोजना नियोजन, परियोजना नियोजन की विभिन्न अवस्थायें एवं परियोजना के उद्देश्यों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

इकाई-02 में, परियोजना की अवधारणा, इसकी विभिन्न विशेषतएं, परियोजना का वर्गीकरण, परियोजना का महत्व तथा इसके विभिन्न पक्षों का विश्लेषण किया गया है।

इकाई-03 में, परियोजना पहचान एवं प्रारूपीकरण की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। जिसमें परियोजना पहचान, इसका महत्व, प्ररूपीकरण के विभिन्न चरण तथा परियोजना प्रारूपीकरण की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण किया गया है।

इकाई-04 में, परियोजना रिपोर्ट और उसके मूल्यांकन पर प्रकाश डाला गया है। जिसके अन्तर्गत परियोजना रिपोर्ट का आशय, क्षेत्र, विषय सूची, महत्व, परियोजना मूल्यांकन प्रस्ताव, अर्थ, क्षेत्र, इसके विभिन्न चरण एवं विपणन के महत्वपूर्ण चरणों का विश्लेषण किया गया है।

इकाई-05 में, परियोजना स्थानीकरण की आवश्यकता, महत्व, चुनाव के चरण, परियोजना के स्थानीकरण को प्रभावित करने वाले कारक, वेबर का सिद्धान्त संगठन का चुनाव तथा स्थल के चुनाव में महत्वपूर्ण कारकों पर प्रकाश डाला गया है।

इकाई - 1 : नये उपक्रम को प्रारम्भ करना
(Starting a New Venture)

इकाई की रूपरेखा-

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

- 1.1.1 विद्यमान उपक्रम के लिए परियोजना नियोजन
- 1.1.2 नये उपक्रम की स्थापना के लिए परियोजना नियोजन

1.2 परियोजना नियोजन की अवस्थायें

- 1.2.1 परियोजना विचार के उद्गम की अवस्था
- 1.2.2 परियोजना के चुनाव के पूर्व की अवस्था
- 1.2.3 परियोजना की साध्यता का अध्ययन
- 1.2.4 परियोजना के मूल्यांकन एवं निर्णयन की अवस्था
- 1.2.5 परियोजना को लागू करने की अवस्थायें

1.3 परियोजना के उद्देश्य

1.4 सारांश

1.5 अभ्यास के लिए प्रश्न

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 : उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप -

- विद्यमान उपक्रम के लिए परियोजना नियोजन के बारे में अवगत हो सकेंगे,
- नये उपक्रम की स्थापना हेतु परियोजना नियोजन के बारे में जान सकेंगे,
- परियोजना नियोजन की विभिन्न अवस्थाओं से अवगत हो सकेंगे,
- परियोजना के उद्देश्यों की जानकारी हो सकेगी।

1.1 प्रस्तावना

एक नये उपक्रम को प्रारम्भ करने हेतु जब एक उद्यमी किसी परियोजना को हाथ में लेना चाहता है तब उसके लिए यह आवश्यक है कि वह परियोजना का इस प्रकार

नियोजन करे जिससे उसे आवश्यक सफलता प्राप्त हो। ऐसा तभी हो सकता है जबकि परियोजना की सत्यता का अच्छी तरह विश्लेषण व अध्ययन कर लिया जाए तथा यदि परियोजना सभी तरह से साध्य हो उसे नियोजित समय व ढंग से पूरा किया जा सके। एक सफल उद्यमी को अपने व्यवसाय में परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तन करते रहना चाहिए अन्यथा उसका व्यवसाय अलाभप्रद होता जाएगा और एक दिन समाप्त हो जायेगा। अतः नये उपक्रम को प्रारम्भ करने हेतु सदैव विचार करते रहना चाहिए। ये परियोजनाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं -

1.1.1 विद्यमान उपक्रम के लिए परियोजना नियोजन

किसी विद्यमान उपक्रम के लिए परियोजना नियोजन का सम्बन्ध अपनी वर्तमान उत्पादन क्षमता में वृद्धि करना अथवा अपने वर्तमान उत्पादन मिश्रण में किसी नवीन वस्तु के उत्पादन को जोड़ना होता है। एक पहले से स्थापित प्रतिष्ठान के लिए परियोजना नियोजन का कार्य अपेक्षाकृत सरल होता है क्योंकि एक विद्यमान प्रतिष्ठान अपना व्यवसायिक अनुभव रखती है। उसे अपने प्रतियोगियों के बारे में, बाजार की परिस्थितियों के बारे में और अन्य आवश्यक जानकारी पर्याप्त मात्रा में होती है।

1.1.2 नवीन उपक्रम की स्थापना के लिए परियोजना नियोजन

जब एक नवीन उपक्रम की स्थापना के लिए परियोजना नियोजन करना होता है तो नये उपक्रम के पास प्रायः पुराना अनुभव तथ्य और आँकड़े पहले से उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः नये उपक्रम को प्रारम्भ करने हेतु परियोजना नियोजन का कार्य अधिक कठिन होता है। इस कार्य हेतु उसी तरह की पूर्व में विद्यमान दूसरे उपक्रमों की परियोजनाओं से प्राप्त सूचनाओं, आँकड़ों एवं तथ्यों को आधार मानकर कार्य करना होता है। नये उपक्रम को आरम्भ करने से पूर्व पर्याप्त जाँच, अन्वेषण और विभिन्न विशेषज्ञों से परामर्श आदि की आवश्यकता होती है।

1.2 परियोजना नियोजन की अवस्थायें (Stages of Project Planning)

किसी नये उपक्रम के लिए परियोजना नियोजन का कार्य एक ही बार में पूरा नहीं किया जा सकता है। कई प्रकार की क्रियायें व घटनायें परियोजना को प्रारम्भ करने में घटित होती है। इस प्रकार क्रियाओं का एक ग्रुप परियोजना को प्रारम्भ करने हेतु आवश्यक होता है। परियोजना से सम्बन्धित इन क्रियाओं की कुछ अवस्थायें होती हैं, जिनमें से अग्रांकित अवस्थायें महत्वपूर्ण हैं -

1.2.1 **परियोजना के विचार के उद्गम की अवस्था (Origin of the idea of a project)**

1.2.2 **परियोजना के चुनाव के पूर्व की अवस्था** (Pre-selection stage of the project)

1.2.3 **परियोजना की साध्यता का अध्ययन** (Feasibility study of the project)

1.2.4 **परियोजना के मूल्यांकन एवं निर्णयन की अवस्था** (Evaluation and decision stage of the project)

1.2.5 **परियोजना को लागू करने की अवस्था** (Project implementation stage)

परियोजना नियोजन की उपरोक्त अवस्थाओं का विस्तृत अध्ययन निम्नलिखित है -

1.2.1 परियोजना के विचार के उद्गम की अवस्था (Origin of the Idea of the Project)

किसी परियोजना नियोजन का प्रारम्भ परियोजना के विचार के उद्गम से प्राप्त होता है। इसके लिए सर्वप्रथम परियोजना के उद्देश्यों का निर्धारण करना होता है। उद्देश्य यह सिद्ध करना हो सकता है कि यह सम्भव तथा वांछनीय है कि विद्यमान संयंत्र के साथ कोई अतिरिक्त यंत्र जोड़ा जाये, किसी निश्चित वस्तु अथवा वस्तुओं का उत्पादन किया जाये अथवा कुछ साधनों का प्रयोग किया जाये। किसी नवीन वस्तु अथवा कम्पनी के विविधीकरण का विचार अनौपचारिक रूप से, अनायास ही ग्राहकों से, वितरकों से, प्रतियोगियों से, विक्रय कर्मचारियों से अथवा अन्य से जन्म ले सकता है अथवा उद्यमी विचार उत्पन्न करने की व्यवस्थित प्रणाली पर निर्भर रह सकता है। नवीन वस्तु का विचार विद्यमान उद्योगों, साधनों तथा बाजार अध्ययनों से प्राप्त होता है।

1.2.2 परियोजना के चुनाव के पूर्व की अवस्था (Preselection Stage of the Project

परियोजना के चुनाव के पूर्व की अवस्था में यह निर्णय करना होता है कि क्या यह उचित है कि परियोजना की साध्यता का विस्तार से अध्ययन किया जाये और यदि किया जाये तो उसका क्षेत्र क्या हो तथा उस पर कितना व्यय किया जाये। इस अवस्था में उद्यमी तथा नियोजक यह सुनिश्चित करना चाहते हैं कि परियोजना में उनकी रूचि है तथा परियोजना का तकनीकी एवं आर्थिक अध्ययन इनकी साध्यता को सिद्ध कर

सकेगा। यहाँ उद्यमी उन तत्वों को परियोजना के विचार से अलग करना चाहता है जो कम्पनी के उद्देश्यों अथवा साधनों के विपरीत या प्रतिकूल हैं। नियोजक यहाँ यह निश्चित करना चाहता है कि परियोजना सरकारी विकास शैली एवं योजनाओं के अनुरूप है। इस अवस्था में प्राप्त सूचनाएँ परियोजना के आगे के अध्ययन में उन सहायक तत्वों की व्याख्या करती हैं जिनके विषय में विशेष खोज या अनुसन्धान की आवश्यकता है। इस चुनाव के पूर्व की अवस्था में निर्णय पर पहुँचने के लिए निम्न तत्वों पर विचार किया जाना चाहिएः

(i) परियोजना द्वारा उत्पपदित की जाने वाले वस्तु का बाजार (अनुमानित उपभोग, उपभोग प्रवृत्ति, वर्तमान पूर्ति तथा मूल्य)।

(ii) उत्पादन प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन तथा उत्पादन के लिए आवश्यक साधनों, विशेष रूप से कच्चे माल की उपलब्धि।

(iii) आवश्यक विनियोग तथा उत्पादन लागत का अनुमान।

(iv) लाभ की निकटतम अनुमानित मात्रा।

(v) सम्भावित प्रमुख समस्याएँ एवं जोखिम।

उपर्युक्त पर विचार करने के बाद यदि यह देखा जाता है कि परियोजना पर किये जाने वाले विनियोग से पर्याप्त लाभ होने की सम्भावना है तब परियोजना की साध्यता के अध्ययन का निर्णय किया जाता है तथा यह भी निर्धारित किया जाता है कि साध्यता अध्ययन पर कितना व्यय किया जाय तथा किन लोगों को साध्यता अध्ययन में सम्मिलित किया जाय।

1.2.3 परियोजना की साध्यता का अध्ययन (Feasibility Study of the Project)

परियोजना की साध्यता का अध्ययन परियोजना नियोजन की सबसे महत्वपूर्ण अवस्था होती है। इसे परियोजना की आर्थिक साध्यता (Economic Feasibility) के नाम से भी पुकारा जाता है। एक परियोजना की साध्यता के अध्ययन में वैकल्पिक बाजारों, तकनीकों तथा स्रोतों पर विचार करना चाहिए तथा इन्हें आवश्यक तथ्यों, अध्ययनों एवं समंकों से पुष्ट करना चाहिए तथा साध्यता अध्ययन को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया जाना चाहिए। एक परियोजना के गुणों के आधार पर निर्णय को सम्भव बनाने के लिए परियोजना की साध्यता का विश्लेषण निम्न अध्ययनों को सम्मिलित करते हुए करना चाहिए :-

(अ) बाजार विश्लेषण या बाजार साध्यता (Market Analysis or Market Feasibility): किसी भी परियोजना की साध्यता का अध्ययन बाजार विश्लेषण पर आधारित होना चाहिए। बाजार अध्ययन के बगैर परियोजना की साध्यता को नहीं जाँचा जा सकता है। बाजार विश्लेषण में निम्न बातों को सम्मिलित किया जाना चाहिएः-

(i) **बाजार का संक्षिप्त वर्णन** - इसमें बाजार का क्षेत्र, परिवहन की विधियाँ, विद्यमान परिवहन या भाड़े की दरें, वितरण के तरीके तथा व्यवसाय की सामान्य प्रथाओं पर विचार करके उनका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

i(ii) **माँग का विश्लेषण** - बाजार में परियोजना द्वारा उत्पादित वस्तु की भूतकालीन व वर्तमान माँग का विश्लेषण करना चाहिए। इसमें वस्तु की मात्रा तथा मूल्य दोनों पर विचार करना चाहिए। वस्तु के प्रमुख उपभोक्ताओं की भी पहचान की जानी चाहिए।

(iii) **पूर्ति का विश्लेषण** - बाजार में वस्तु की भूतकालीन तथा वर्तमान पूर्ति का विश्लेषण इसके स्रोतों के साथ करना चाहिए। वस्तु की प्रतियोगिता की स्थिति पर भी विचार किया जाना चाहिए। इसके लिए वस्तु का विक्रय मूल्य तथा किस्म एवं प्रतियोगिता की विपणन प्रथाओं पर विचार करना चाहिए।

(iv) **वस्तु की माँग का भावी अनुमान** - वस्तु की भूतकालीन तथा वर्तमान माँग तथा उसकी प्रवृत्ति के आधार पर वस्तु की माँग का भावी अनुमान लगाया जाना चाहिए।

(v) **परियोजना का बाजार माँग हिस्सा** - बाजार में वस्तु की माँग तथा पूर्ति की स्थिति तथा प्रतियोगिता के आधार पर यह अनुमान लगाया जाना चाहिए कि परियोजना का बाजार की कुल माँग में कितना भाग अथवा हिस्सा होगा।

(ब) तकनीकी विश्लेषण या तकनीकी साध्यता (Technical Analysis or Technical Feasibility) : परियोजना का तकनीकी विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि परियोजना तकनीकी दृष्टि से साध्य है अथवा नहीं। यह वस्तु की उत्पादन लागत के अनुमान के लिए भी आधार प्रस्तुत करता है। परियोजना की साध्यता के अध्ययन के समय यह अनुमान लगाना आवश्यक होता है कि देश में आवश्यक तकनीकी ज्ञान, अनुभव, संयन्त्र आदि सरलता से उपलब्ध हैं या नहीं? क्या उन्हें विदेशों से आयात करना होगा? विदेशी तकनीकी एवं संयन्त्रों का आयात किन शर्तों पर होगा? मरम्मत के लिए विदेशी सहायता एवं छोटे उपकरण भविष्य में उपलब्ध होते रहेंगे या नहीं? संयन्त्र पर काम करने वाले कर्मचारियों को क्या देश या विदेश में प्रशिक्षण हेतु भेजना पड़ेगा? यदि इन सभी बातों पर गहराई से विचार करने के बाद तकनीक एवं संयन्त्रों के आयात

की आवश्यकता हो तो सरकार से पत्र व्यवहार करके सरकारी दृष्टिकोण को जानना चाहिए तथा सरकारी दृष्टिकोण अनुकूल होने पर विदेशियों से कॉपीराइट्स, ट्रेडमार्क, पेटेन्ट आदि के लिए समझौते करने चाहिए।

तकनीकी विश्लेषण में तकनीकों अथवा प्रविधियों जिनका प्रयोग किया जाना है की समीक्षा की जानी चाहिए तथा निम्न को सम्मिलित किया जाना चाहिएः-

(i) **वस्तु (Product)** : जो वस्तु उत्पादित की जानी है, उसकी भौतिक, यान्त्रिक तथा रासायनिक विशेषताएँ एवं उसके उपयोगों का वर्णन किया जाना चाहिए।

(ii) **उत्पादन प्रक्रिया** : वस्तु के उत्पादन के लिए चुनी गई उत्पादन प्रक्रिया का विस्तृत बहाव, चार्टों (Flow Charts) की सहायता से वर्णन तथा उन वैकल्पिक प्रक्रियाओं का नाम जिन पर विचार किया गया तथा इस चुनी गई प्रक्रिया को चुनने के औचित्य का भी वर्णन किया जाना चाहिए।

(iii) **संयन्त्र का आकार** : उत्पादन के लिए प्रयुक्त संयन्त्र के आकार तथा उत्पादन तालिका का निर्धारण किया जाना चाहिए जिसमें दी हुई समय अवधि में किये जाने वाले प्रत्याशित उत्पादन की मात्रा, उत्पादन प्रारम्भ होने का समय तथा तकनीकी तत्वों को सम्मिलित करना चाहिए।

(iv) **मशीनों एवं यंत्रों का चुनाव** : संयंत्र के आकार के अनुसार ही मशीनों एवं यंत्रों के चुनाव पर विचार किया जाना चाहिए। खरीदे जाने वाले यंत्रों की संख्या, विशेषताएँ, उद्‌गम स्रोत, पूर्तिकर्ताओं से मूल्यों, पूर्ति तिथियों व भुगतान शर्तों के सम्बन्ध में प्राप्त की गई जानकारी तथा लागत, विश्वसनीयता, क्षमता तथा सहायक पुर्जों (Accessories) के सम्बन्ध में वैकल्पिक स्रोतों का तुलनात्मक अध्ययन आदि के बारे में विचार करना चाहिए।

(v) **परियोजना स्थल का चुनाव** : परियोजना स्थल का चुनाव करते समय उसकी कच्चे माल स्रोतों तथा बाजार से दूरी को ध्यान में रखकर उपयुक्तता को जाँचना चाहिए। नवीन उद्यम या परियोजना के सम्बन्ध में अनेक वैकल्पिक स्थलों का अध्ययन उनके गुण-दोष के आधार पर करके सर्वोत्तम स्थल को चुनना चाहिए।

(vi) **संयंत्र विन्यास (Plant Lay-out)** : संयंत्र विन्यास की डिजाइन कैसी होगी तथा उसके अनुसार भवनों के निर्माण एवं भूमि सुधार की क्या लागत आयेगी, इस पर विचार करना चाहिए।

(vii) **कच्चे माल एवं सार्वजनिक उपयोगिता सेवाओं की उपलब्धि** : परियोजना के लिए आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति कहाँ से होगी, कच्चा माल कितनी मात्रा

में आवश्यक होगा तथा पूर्ति की शर्तें क्या होंगी? परियोजना क्षेत्र में बिजली, जल, संचार आदि सार्वजनिक उपयोगिता सेवाओं की पूर्ति है या नहीं? यदि हाँ तो वह कितनी विश्वसनीय है? इन पर विचार करना चाहिए।

(viii) **श्रम आवश्यकताएँ** : परियोजना पर कार्य करने के लिए कितने श्रम की आवश्यकता होगी तथा श्रम के पर्यवेक्षण की क्या व्यवस्था होगी?

(ix) **कचरा डालने की व्यवस्था** : उत्पादन प्रक्रिया में किस प्रकार का कचरा (Waste) उत्पन्न होगा, तथा कितनी मात्रा में उत्पन्न होगा? उसको डालने की क्या व्यवस्था होगी, उसकी क्या लागत होगी, उसे कहाँ डाला जायेगा तथा उसके सम्बन्ध में सक्षम निकायों की स्वीकृति की व्यवस्था आदि पर विचार करना चाहिए।

(x) **वस्तु की उत्पादन लागत** : वस्तु के उत्पादन की लागत का अनुमान लगाया जाना चाहिए।

(स) वित्तीय विश्लेषण या वित्तीय साध्यता (Financial Analysis or Financial Feasibility) : परियोजना की वित्तीय सहायता देखते समय यह देखा जाता है कि परियोजना की कुल लागत क्या होगी तथा उसकी वित्तीय व्यवस्था किस प्रकार से की जायेगी? विभिन्न भावी वित्तीय विवरणों (Projected Financial Statements) के निर्माण के आधार पर यह निर्धारित किया जाता है कि परियोजना के लिए किस-किस समय कितने साधनों की आवश्यकता होगी तथा उनकी पूर्ति कौन से दीर्घकालीन तथा कौन से अल्पकालीन साधनों द्वारा की जायेगी। परियोजना के लिए सही कुल लागत का अनुमान लगाना आवश्यक होता है। परियोजना की कुल लागत स्थायी सम्पत्तियों, कार्यशील सम्पत्तियों तथा उद्यम प्रारम्भ करने की लागत के योग के बराबर होती है। वित्तीय साध्यता में परियोजना की लाभदायकता (Profitability) को भी देखा जाता है। यदि परियोजना की लाभदायकता फर्म के विनियोग के लिए निर्धारित प्रमापों के बराबर अथवा अधिक होती है तो परियोजना को वांछनीय माना जाता है।

1.2.4 परियोजना मूल्यांकन एवं निर्णयन की अवस्था (Evaluation and Decision Stage of the Project)

जब परियोजना की साध्यता का अध्ययन कर लिया जाता है तब मूल्यांकन एवं निर्णयन की अवस्था आती है। इस अवस्था में परियोजना लागू करने के बारे में निर्णय किया जाता है। इस अवस्था से पूर्व के विश्लेषण से यदि यह प्रकट होता है कि परियोजना को लागू करने से धनात्मक लाभ प्राप्त होंगे तथा कम्पनी परियोजना की वित्तीय व्यवस्था करने में सक्षम है तो परियोजना को स्वीकार करके उसे लागू करने का

निर्णय किया जाता है।

1.2.5 परियोजना को लागू करने की अवस्था (Project Implementation Stage)

परियोजना को स्वीकार करने के बाद उसे लागू किया जाता है। परियोजना को लागू करने की अवस्था भी अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है। इस अवस्था में परियोजना के निर्माण के लिए अनुबन्ध करना, परियोजना का प्रारूप तैयार करवाना, सामग्री का चयन करना तथा निर्माण कार्य करवाना सम्मिलित होता है। परियोजना के लिए अनुबन्ध सोच समझ कर करना चाहिए। परियोजना की चयनित सामग्री का चयन सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। परियोजना की चयनित सामग्री प्रत्याशित प्रमापों के अनुरूप होनी चाहिए। परियोजना के निर्माण कार्य को समय-सारणी के अनुसार पूरा करना चाहिए। यदि कहीं विलम्ब होता है तो उसे दूर किया जाना चाहिए।

1.3 परियोजना के उद्देश्य (Project Objectives)

परियोजना नियोजन चक्र में परियोजना के उद्देश्य का निर्धारण एक महत्वपूर्ण कार्य है। परियोजना उद्देश्य यह बताता है कि वह क्या प्राप्त करना चाहती है? पूर्णता का पैमाना क्या होगा? परियोजना उद्देश्य उस आधारशिला की भाँति है जिस पर परियोजना रूपी भवन का निर्माण होता है। अतः परियोजना उद्देश्यों की आवश्यताओं को ध्यान में रखना पड़ता है - जैसे उद्देश्य मापने योग्य हो, दृष्टिगत हो और सत्यनिष्ठ होने योग्य हो, उद्देश्य वास्तविक हो और प्राप्त करने योग्य हो, उद्देश्य उपलब्ध सीमित साधनों के दायरे में बनाये गये हों। उद्देश्य उपलब्ध संसाधनों के संगत हो, उद्देश्य संगठनात्मक योजनाओं, नीतियों और भावी आवश्यकताओं के अनुरूप हो।

परियोजना उद्देश्य का निर्धारण करने का कारण यह है कि परियोजना निश्चित समय में पूरी हो जाय, निश्चित लागत में पूरी हो जाय और लाभ की मात्रा भी अधिकतम हो। परियोजना के आधारभूत उद्देश्य निम्न हैं :

(1) समता अंश के बाजार मूल्य को अधिकतम करना।

(2) परियोजना के शुद्ध वर्तमान मूल्य को अधिकतम करना।

(3) परियोजना के प्रत्याय को अधिकतम करना।

(4) न्यूनतम जोखिम पर परियोजना के प्रत्याय दर को बढ़ाना।

(5) मौद्रिक प्रवाह के शुद्ध वर्तमान मूल्य में वृद्धि करना।

1.4 सारांश

परियोजना को प्रारम्भ करने के पूर्व उसकी साध्यता का परीक्षण अवश्य कर लेना चाहिए ताकि निश्चित समय व लागत से सफलतापूर्वक उसे पूरा किया जा सके। किसी उपक्रम को प्रारम्भ करने के पूर्व समय-समय पर कई परियोजनाओं पर विचार करते रहना चाहिए। परियोजनायें दो प्रकार की हो सकती हैं - प्रथम विद्यमान उपक्रम के लिए परियोजना नियोजन, द्वितीय नवीन उद्यम की स्थापना हेतु परियोजना नियोजन। किसी नये उपक्रम का कार्य कई भागों में पूरा किया जाता है। परियोजना नियोजन की कई अवस्थायें होती हैं जैसे - परियोजना के विचार के उद्‌गम की अवस्था, परियोजना के चुनाव के पूर्व की अवस्था, परियोजना की साध्यता का अध्ययन, परियोजना के मूल्यांकन एवं निर्णयन की अवस्था और परियोजना को लागू करने की अवस्था इत्यादि।

1.5 अभ्यास के लिए प्रश्न

(1) परियोजना का अर्थ स्पष्ट करते हुये परियोजना नियोजन की विभिन्न अवस्थाओं को स्पष्ट कीजिए।

(2) साध्यता अध्ययन के आवश्यक अंग क्या होते हैं? इस सन्दर्भ में किसी परियोजना की आर्थिक साध्यता के प्रभावों का विश्लेषण कीजिए।

(3) परियोजना के उद्देश्यों का विश्लेषण प्रस्तुत कीजिए।

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (References)

1. Khanna, S.S., Entrepreneurial Development, S., Chand & Co. Ltd.
2. Desai Basant : 'Dynamics of Entrepreneurial Development and Management.' Himalaya Publishing House.
3. Pandey, I.M., 'Financial Management.'
4. Gupta & Srinivasan, 'Entrepreneurial Development in India'. S.Chand & Sons.
5. अग्रवाल एण्ड अग्रवाल, वित्तीय प्रबन्ध, रमेश बुक डिपो।
6. Das, N.L., Industrial Entrepreneur in India.
7. Mishra, P.N., Development Banks and New Entrepreneurship in India.
8. Pathak, H.T., 'Entrepreneurship in India'.
9. Sunderam, K.P.M., 'Indian Economy'.

इकाई - 2 : परियोजना की अवधारणा (Concept of Project)

इकाई की रूपरेखा-

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 परियोजना का अर्थ
2.3 परियोजना की विशेषतायें
  2.3.1 परियोजना का उद्देश्य
  2.3.2 निश्चित विशिष्ट कार्य
  2.3.3 अग्रिम में योजना बनाना
  2.3.4 गैर नैत्यक एवं गैर पुनरावृत्ति
  2.3.5 समय सारणी
  2.3.6 जीवन चक्र
  2.3.7 संसाधन
  2.3.8 परियोजना एक विनियोग की तरह
  2.3.9 परियोजना की स्थिति
  2.3.10 पूर्णता मापक
  2.3.11 न्यायोचित
2.4 परियोजना वर्गीकरण
  2.4.1 संख्यात्मक और गैर-संख्यात्मक परियोजनायें
  2.4.2 क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित परियोजनायें
  2.4.3 तकनीकी आर्थिक परियोजनायें
    2.4.3.1 घटक प्रधान अभिन्यास वर्गीकरण
    2.4.3.2 सतर्कता अभिन्यास वर्गीकरण
    2.4.3.3 आकार अभिन्यास वर्गीकरण
    2.4.3.4 वित्तीय संस्थाओं का वर्गीकरण

2.4.3.5 सेवाओं से सम्बन्धित परियोजनायें
2.5 परियोजना का महत्व
2.6 परियोजना के पक्ष
2.7 सारांश
2.8 अभ्यास के लिए प्रश्न
2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 : उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद, आप इस योग्य हो जायेंगे कि -

- परियोजना के अर्थ, परिभाषा व विशेषताओं को स्पष्ट कर पायेंगे,
- परियोजनाओं के वर्गीकरण का विश्लेषण कर पायेंगे,
- परियोजना के महत्व की व्याख्या कर पायेंगे, तथा
- परियोजना के विभिन्न पक्षों की समीक्षा कर पायेंगे।

2.1 प्रस्तावना

परियोजना किसी व्यावसायिक प्रतिष्ठान का एक महत्वपूर्ण और चुनौती भरा आधारभूत कार्य (Groundwork) है। यह व्यवसाय के स्वामी के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बिना परियोजना के कोई भी साहसी अपने उपक्रम (Venture) में सफल नहीं हो सकता है। परियोजनाओं में सम्पूर्ण कार्यों की योजनाओं का वर्णन होता है। जैसे कृषि परियोजनाओं में बहुत सी उप-परियोजनायें होती हैं अर्थात भूमि के विकास से सम्बन्धित उप-परियोजनायें, सिंचाई, भूमि सुधार, उर्वरता, बीज इत्यादि से सम्बन्धित उप-परियोजनायें, इसके साथ-साथ शोध परियोजनायें भी होती हैं। परियोजनाओं की अवधारणा सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्रियाओं के साथ परस्पर गुथी (Woven) हुई हैं ।

साम्यवादी देशों और कुछ विकासशील देशों ने अपने नागरिकों के बेहतर कल्याण हेतु राष्ट्रीय संसाधनों का अधिकतम उपयोग करने के लिये योजनाओं को अपनाया है और संतोषजनक परिणाम प्राप्त किया है। इसी प्रकार नई आर्थिक नीति में संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग के लिए स्वतंत्र प्रतियोगिता और बाजार अर्थव्यवस्था पर काफी जोर दिया गया है। इन योजनाओं व नीतियों के सफलतापूर्वक कार्यान्वयन पर ही राष्ट्रीय संसाधनों का अनुकूलन उपयोग और जन कल्याण का भावी उद्देश्य

आश्रित है अर्थात् योजनाओं और परियोजनाओं का सफलतापूर्वक क्रियान्वयन (Implementation) आर्थिक विकास की कुंजी है।

परियोजना प्रबन्ध, योजनाकर्ताओं और नीति नियन्ताओं के लिए एक चुनौती भरा कार्य है। यह एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है। इसमें विशाल विनियोग की आवश्यकता पड़ती है किन्तु परिणाम अनिश्चित व जोखिमपूर्ण होते हैं। परियोजनाओं की पूर्णता के लगातार निरीक्षण और नियंत्रण की आवश्यकता होती है, नहीं तो परियोजनाओं पर लगने वाला समय समाप्त हो सकता है या लागत बढ़ सकती है। प्राइवेट प्रतिष्ठानों में, परियोजनाओं के क्रियान्वयन व पूर्णता में विलम्ब से प्रतिष्ठान की ख्याति पर बुरा असर पड़ता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण परियोजना प्रबन्ध एक चुनौती भरा जोखिमपूर्ण कार्य है।

परियोजना का अर्थ किसी नवीन उद्यम की स्थापना करना अथवा वर्तमान उत्पादन मिश्रण में किसी नवीन वस्तु या उत्पादन को जोड़ना होता है। एक परियोजना एक मशीन अथवा एक पूर्ण संयंत्र से सम्बन्धित हो सकती है। परियोजना एक उद्यमी को नवीन विनियोग का अवसर प्रदान करती है जिसमें लाभोपार्जन की सम्भावनाएँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। आज का युग परिवर्तनशील व गतिशील युग है। इस संसार में हर क्षण नये-नये परिवर्तन होते रहते हैं। अतः जो उद्यमी अपने व्यवसाय में इन नवीन परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तन नहीं करता है, उसका व्यवसाय शीघ्र ही हानिप्रद होकर समाप्त हो जाता है। इस तरह एक व्यवसायी को नयी-नयी परियोजनाओं पर सदैव विचार करते रहना चाहिए।

2.2 परियोजना का अर्थ

परियोजना का आशय परस्पर जुड़ी हुई क्रियाओं के समूह से है। विभिन्न विद्वानों ने 'परियोजना' को विभिन्न तरीके से परिभाषित किया है। हैरिसन (Harrison) के शब्दों में, "A project can be defined as a non-routine, non-repetitive, one off undertaking, normally with diserete time, financial and technical performance goods." इसी प्रकार डेनिस लाक (Dennis Lock) ने कहा है कि, "A project is a single non-repetitive enterprise. It is usually undertaken to achieve planned results within a time limit and a cost budget."

लिटिल और मीरलेस (Little and Mirless) के अनुसार, ''परियोजना एक योजना या योजना का भाग है जिसमें संसाधनों को लगाया जाता है और जिसका मूल्यांकन व विश्लेषण एक स्वतंत्र इकाई के रूप में किया जा सकता है।''

Dictionary of Management में परियोजना को इस प्रकार परिभाषित किया

गया है, ''एक निश्चित समय में, एक निर्धारित उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु एक योजना के अनुसार किया गया विनियोग ही परियोजना कहलाता है।

Encyclopaedia of Management ने परियोजना का वर्णन इस प्रकार किया है, "A project is an organised unit dedicated to the attainment of a goal - the successful completion of a development project in time within budget, in conformance with pre-determined programme specifications."

विश्व बैंक ने परियोजना को परिभाषित किया है - ''वस्तुओं एवं सेवाओं को और अधिक सुविधायें प्रदान करने के लिए यह एक पूँजीगत विनियोग हेतु मान्यता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ''परियोजना, पूर्ण रूप से परिभाषित उद्देश्यों के साथ, एक विशिष्ट कार्य है जिसे अपने क्रियान्वयन हेतु निर्धारित संसाधनों व निश्चित समय की आवश्यकता होती है। जिसे एक स्वतंत्र इकाई के रूप में मूल्यांकित किया जा सकता है और जिसे पूर्व में ही मूल्यांकित और विवेकपूर्ण ढंग से नियोजित किया जा सकता है।''

दूसरे शब्दों में, "A project may also be looked upon as a set of inter-related activities technically conceived, involving the use of physical, human and financial resources, in a phased manner, over a period of time, and aiming at the achievement of certain pre-defined objectives."

इस प्रकार एक परियोजना एक उत्पादक कार्य है जिसका रचनात्मक रूप से विश्लेषण, मूल्यांकन और निरीक्षण किया जा सकता है। जैसे - बहुद्देशीय नदी घाटी परियोजना एक उत्पादक योजना है। इसी प्रकार छोटी-छोटी परियोजनायें हैं जिनमें विनियोग का विश्लेषण किया जाता है। अतः एक परियोजना का उसके भौगोलिक स्थिति, विशिष्ट शुभारम्भ और अन्तिम लक्ष्य तक विशिष्ट उद्देश्य होता है। अधिक महत्वपूर्ण यह है कि प्रत्येक परियोजना को क्रियान्वित करने के लिए एक संस्था होती है जो अग्रांकित चार्ट से स्पष्ट है :

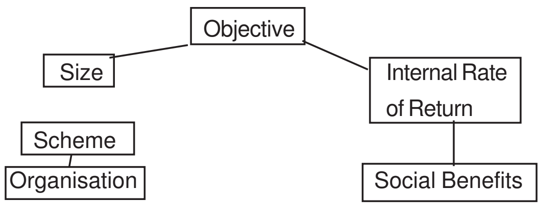

1.1 एक परियोजना के प्रारम्भिक घटक

2.3 परियोजना की विशेषतायें

उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोचनात्मक अध्ययन के आधार पर एक परियोजना की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :

2.3.1 परियोजना का उद्देश्य

एक परियोजना का उद्देश्य भली-भाँति परिभाषित होता है। जैसे- सामान्य आर्थिक विकास, किसी क्षेत्र का औद्योगिक विकास, किसी विशिष्ट उद्योग का विकास, एक प्लाण्ट की स्थापना करना, किसी भवन का निर्माण इत्यादि उद्देश्य हो सकते हैं।

2.3.2 निश्चित विशिष्ट कार्य

एक परियोजना में एक निश्चित विशिष्ट कार्य सम्मिलित होता है। विशिष्ट कार्यों को पुनः धीरे-धीरे उपकार्यों के रूप में विभाजित कर दिया जाता है। जैसे - ठीका का कार्य, पत्रावली का कार्य, निर्माण का कार्य, परियोजना संगठन की स्थापना का कार्य, सिविल और क्रय का कार्य, निरीक्षण एवं नियंत्रण का कार्य इत्यादि।

2.3.3 अग्रिम में योजना बनाना

एक परियोजना एक निश्चित समय सारणी में और संसाधनों में पूरी हो सकती है।इसके लिए अग्रिम में योजना बनाना आवश्यक होता है।

2.3.4 गैर नैत्यक एवं गैर-पुनरावृत्ति

परियोजना कार्यों की प्रकृति स्वयं में गैर नैत्यक और गैर पुनरावृत्ति की होती है, जबकि ये क्रियायें एक ही समय पर परस्पर आश्रित और परस्पर सम्बन्धित होती हैं। परियोजना की अधिकांश क्रियायें एक-दूसरे से भिन्न और समानतारहित होती हैं।

2.3.5 समय सारणी

एक परियोजना के एक पूर्व निर्धारित समयावधि में पूर्ण होने की सम्भावना होती है। इसके प्रारम्भ व पूर्णता की निश्चित तिथियाँ निर्धारित होती हैं।

2.3.6 जीवन चक्र

एक परियोजना का एक निश्चित जीवन चक्र होता है। जैसे परियोजना का प्रारम्भ, उसका क्रियान्वयन और उसको लागू होना और लागू होने के बाद के परिणामों की परियोजना इत्यादि।

2.3.7 संसाधन

प्रत्येक परियोजना को विशिष्ट संसाधनों की आवश्यकता होती है। विशेषज्ञों के

द्वारा क्रियान्वयन के प्रत्येक स्टेज पर संसाधनों का पूर्वानुमान लगाया जाता है। उन स्रोतों की पहचान की जाती है जहाँ से संसाधनों की उत्पत्ति होती है। उपलब्ध संसाधनों में ही परियोजना को पूरा करना होता है।

2.3.8 परियोजना एक विनियोग की तरह

एक परियोजना की पहचान एक विनियोग के रूप में किया जा सकता है। अतः इस अर्थ में प्रत्येक परियोजना से निजी क्षेत्र से पर्याप्त प्रत्याय (return) की जरूरत महसूस की जाती है जबकि सेवा क्षेत्र में, एक परियोजना से सामाजिक कल्याण की उपलब्धि की आवश्यकता महसूस की जाती है। जबकि सार्वजनिक क्षेत्र में, एक परियोजना से आर्थिक प्रतिफल जिससे सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति सम्भव हो सके, की आवश्यकता महसूस की जाती है। सामाजिक दृष्टिकोण से परियोजना की सामाजिक लागत उससे प्राप्त होने वाले सामाजिक लाभ से कम होनी चाहिए।

2.3.9 परियोजना की स्थिति

संस्था के मुख्य कार्यालय से परियोजना की स्थिति दूर होनी चाहिए। समन्वय व नियन्त्रण में यह कठिन समस्या उत्पन्न करती है।

2.3.10 पूर्णता मापक

एक परियोजना की पूर्णता का मापन करना कठिन है और क्रियान्वयन के समय पूर्णता का पूर्वानुमान लगाना भी कठिन है। परियोजना की पूर्णता का मापन उसके पूरा होने पर ही किया जा सकता है। अतः क्रियान्वयन की अवधि में, परियोजना की प्रगति की समीक्षा लगातार की जानी चाहिए।

2.3.11 न्यायोचित

प्रत्येक परियोजना का न्यायोचित होना अति आवश्यक है। परियोजना का मूल्यांकन इसकी उपयुक्तता, पारदर्शिता, मूल्य व सार्थकता के आधार पर किया जाता है जबकि एक परियोजना का वास्तविक और वैध न्यायोचितीकरण इसकी पूर्णता के आधार पर किया जाता है।

उपर्युक्त विशेषतायें एक परियोजना में अवश्य होनी चाहिए।

2.4 परियोजना वर्गीकरण (Project Classification)

परियोजना पर सैद्धान्तिक अध्ययन के लिए परियोजनाओं का वर्गीकरण करना आवश्यक है। परियोजना का वर्गीकरण निम्नलिखित है :

2.4.1 संख्यात्मक और गैर-संख्यात्मक परियोजनायें (Quantifiable & Non-Quantifiable Projects)

परियोजनायें, जिनके लिये लाभों का एक संख्यात्मक मापन किया जा सकता हो, संख्यात्मक परियोजनायें कहलाती हैं। जो परियोजनायें, औद्योगिक विकास, ऊर्जा सृजन, खनिज पदार्थ के विकास से सम्बन्धित हैं, उन्हें इस श्रेणी में रखा जाता है। इसके विपरीत गैर-संख्यात्मक परियोजनायें, वे परियोजनायें हैं जिनमें लाभों का संख्यात्मक मापन नहीं किया जा सकता है। जैसे - स्वास्थ्य, शिक्षा और सुरक्षा से सम्बन्धित परियोजनायें।

2.4.2 क्षेत्र-विशेष से सम्बन्धित परियोजनायें (Sectoral Projects)

इस वर्गीकरण के अनुसार एक परियोजना निम्नलिखित में से किसी एक प्रकार की हो सकती है -

(1) कृषि एवं सहायक क्षेत्र

(2) सिंचाई और ऊर्जा क्षेत्र

(3) उद्योग और खनिज पदार्थ क्षेत्र

(4) सामाजिक कल्याण क्षेत्र

(5) यातायात एवं संचार क्षेत्र

(6) विविध क्षेत्र

2.4.3 तकनीकी-आर्थिक परियोजनायें (Techno-Economic Projects)

तकनीकी आर्थिक स्वभाव की परियोजनायें इस वर्गीकरण के अन्तर्गत आती हैं। इस वर्गीकरण के अन्तर्गत निम्नलिखित परियोजनायें आती हैं।

तकनीकी आर्थिक विशेषता पर आधारित परियोजनायें परियोजना के साध्यता मूल्यांकन की प्रक्रिया में सहयोग प्रदान करती हैं।

2.4.3.1 घटक प्रधान अभिन्यास वर्गीकरण <u>(Factor Intensity oriented classification)</u> : घटक प्रधान वर्गीकरण में, परियोजनायें दो प्रकार की होती हैं:

(क) पूँजी प्रधान परियोजनायें (Capital Intensive Projects)

(ख) श्रम प्रधान परियोजनायें (Labour Intensive Projects)

पूँजी प्रधान परियोजनायें वे परियोजनायें हैं जिसमें प्लाण्ट व मशीनरी में अधिक पूँजी विनियोजित किया गया है। इसके विपरीत जिस परियोजना में अधिक मात्रा में

मानव संसाधनों को लगाया गया है वह श्रम प्रधान परियोजना कहलाती है।

2.4.3.2 सतर्कता अभिन्यास वर्गीकरण (Caution Oriented Classification):

इस परियोजना में सतर्कता का प्रयोग वर्गीकरण के आधार के रूप में किया जाता है। जैसे - माँगे आधारित परियोजनायें अथवा कच्चा माल आधारित परियोजनायें। माँग आधारित परियोजनायें वे होती हैं जिसमें किसी निश्चित माल या सेवाओं की मांग की विद्यमानता अधिक होती है। इसी प्रकार किसी कच्चे माल की उपलब्धता, चातुर्य, कुशलता या अन्य साधन पर आधारित परियोजना को कच्चे माल पर आधारित परियोजना कहते हैं।

2.4.3.3 आकार अभिन्यास वर्गीकरण (Magnitude Oriented Classification) :

इस वर्ग में वे परियोजनायें आती हैं जो विनियोग के आकार पर आधारित होती हैं। जैसे वृहद, माध्यम या लघु स्तर की परियोजनायें।

2.4.3.4 वित्तीय संस्थाओं द्वारा वर्गीकरण (Classification by Financial Institutions) :

अखिल भारतीय और राज्य स्तरीय वित्तीय संस्थाओं ने विचाराधीन परियोजना के उद्देश्य, उपयोग और अनुभव के आधार पर परियोजना का वर्गीकरण किया है जो निम्न है :

1. नई परियोजनायें
2. विस्तार परियोजनायें
3. आधुनिकतम परियोजनायें
4. विविधता प्रधान परियोजनायें

उपर्युक्त परियोजनायें सामान्यतः लाभ प्रेरित होती है।

2.4.3.5 सेवाओं से सम्बन्धित परियोजनायें (Service related projects) :

सेवा अभिन्यास परियोजनाओं का निम्न वर्गीकरण है :

1. कल्याणकारी परियोजनायें
2. सेवा परियोजनायें
3. शोध और विकास परियोजनायें

4. शैक्षणिक परियोजनायें।

इस प्रकार परियोजना का चुनाव करना एक महत्वपूर्ण कार्य योजना है। परियोजना चुनाव दो चरणों से सम्बन्धित है-

1. परियोजना पहचान
2. परियोजना चुनाव

2.5 परियोजना का महत्व (Importance of a Project)

उद्यमियों के लिए बिना किसी अवरोध के नयी उपक्रम की स्थापना, चुनाव तथा संचालन में परियोजना का विशेष महत्व है। परियोजना के महत्व को निम्न विवरण से समझा जा सकता है :

1. परियोजना आर्थिक विकास की महत्वपूर्ण अभिकर्ता होती है।
2. यह विकास उत्पादन, रोजगार, आय-अर्जन की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करती है।
3. यह ऐसा परिणाम उत्पन्न करती है जो दीर्घकाल स्थायी प्रभाव वाली होती है।
4. परियोजना एक निश्चित समय में समाज में आवश्यक परिवर्तन लाती है।
5. परियोजनायें सामाजिक, सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया को शक्ति प्रदान करती हैं।
6. यह भौतिक ढांचों और पर्यावरण के विकास को भी गति प्रदान करती हैं।
7. यह पर्याप्त मात्रा में वित्तीय संसाधन प्रदान करती हैं।
8. यह सेवाओं की भावी पद्धति को भी आकृति प्रदान करती है।
9. यह उपक्रम की भावी क्रियाओं का ढाँचा प्रदान करती हैं।
10. इनमें लगाये गये धन की वापसी सरलतापूर्वक नहीं होती है।

2.6 परियोजना के पक्ष (Aspects of a Project)

एक परियोजना के दो पक्ष होते हैं :

प्रथम उत्पाद को विश्लेषित करने का प्रारम्भिक पक्ष और इसका तकनीकी, विपणन, वित्तीय और आर्थिक पक्ष। द्वितीय, साध्यता पक्ष। इस पक्ष में निर्णय करने के लिए पर्याप्त सूचनायें और कभी-कभी इसका क्रियान्वयन भी सम्मिलित होता है।

परियोजना के महत्वपूर्ण पक्ष निम्नलिखित हैं :

पक्ष	जिससे सम्बन्धित हैं
1. उत्पाद/सेवा पक्ष	**1. प्रारम्भिक पक्ष** 1. उत्पाद/सेवा का चुनाव

	2. उत्पाद/सेवा की तकनीकी विशेषतायें 3. उत्पाद सेवा का प्रयोग
2. विपणन पक्ष	1. उपभोक्ता की प्राथमिकता 2. परियोजना का सम्मिलित अंश 3. सकल प्रभावी मांग 4. प्रतियोगिता की प्रकृति
3. आर्थिक पक्ष	1. समाज की उपयोगिता 2. सामाजिक लाभ 3. क्षेत्रीय विकास की सम्भावना 4. सहायक विकास 5. रोजगार सृजन
4. वित्तीय पक्ष	1. स्थायी सम्पत्तियों पर खर्च 2. चालू सम्पत्तियाँ 3. कार्यशील पूँजी 4. अल्पकालीन व दीर्घकालीन वित्त
5. तकनीकी पक्ष	1. परियोजना की स्थिति 2. संचालन का पैमाना 3. विनिर्माण प्रक्रिया 4. प्लाण्ट और मशीन का तकनीकी स्तर 5. क्रियान्वयन
6. लाभदायकता पक्ष	**II. साध्यता** 1. आगम व अर्जन 2. लागत 3. लाभ 4. संचालन स्तर का समविच्छेद बिन्दु

7. वित्तीय वैधता पक्ष	1. लागतें व लाभ 2. जोखिम की विशेषतायें 3. वित्तीय वैधता 4. आन्तरिक प्रत्याय की दर
8. वित्तीय उद्घोषणायें	1. आर्थिक चिट्ठे का प्रारूप 2. कोषों का स्रोत व प्रयोग
9. सामाजिक-आर्थिक पक्ष	1. सामाजिक उद्देश्य 2. वृहद दृष्टिकोण से परियोजना की सामाजिक उपयोगिता 3. अधिकतम प्रत्याय

परियोजना के उपर्युक्त विभिन्न पक्ष आपस में सह सम्बन्द्ध होते हैं । एक स्वस्थ परियोजना वह होती है जो सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त हो, और यह सामाजिक अच्छाई को प्राप्त करने में सफल हो।

2.7 सारांश

परियोजना एक निर्धारित समय के अन्दर कुछ विशिष्ट उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक अच्छी कार्य योजना है। परियोजना किसी उपक्रम की महत्वपूर्ण आधारशिला है। परियोजना पर ही किसी उपक्रम की सफलता व असफलता आश्रित होती है। सरल शब्दों में, परियोजना एक विचार या योजना है जिसे पूरा किया जाता है। परियोजना का सैद्धान्तिक अध्ययन इसके वर्गीकरण पर आधारित है। परियोजनायें आर्थिक विकास की अभिकर्ता की भाँति होती हैं क्योंकि ये विकास, उत्पादन, रोजगार, आय अर्जन व प्रक्रिया को प्रोत्साहित करती है।

2.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. परियोजनाओं की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. परियोजनाओं के वर्गीकरण की विस्तार से व्याख्या कीजिए।
3. परियोजना के महत्व पर प्रकाश डालिए।
4. परियोजनाओं के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण कीजिये।

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (References)

1. Khanna, S.S., Entrepreneurial Development, S., Chand & Co. Ltd.
2. Desai Basant : 'Dynamics of Entrepreneurial Development and Management.' Himalaya Publishing House.
3. Pandey, I.M., 'Financial Management.'
4. Gupta & Srinivasan, 'Entrepreneurial Development in India'. S.Chand & Sons.
5. अग्रवाल एण्ड अग्रवाल, वित्तीय प्रबन्ध, रमेश बुक डिपो।
6. Das, N.L., Industrial Entrepreneur in India.
7. Mishra, P.N., Development Banks and New Entrepreneurship in India.
8. Pathak, H.T., 'Entrepreneurship in India'.
9. Sunderam, K.P.M., 'Indian Economy'.

इकाई - 3 परियोजना पहचान एवं प्रारूपीकरण
(Project Indentification and Formulation)

इकाई की रूपरेखा-

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 परियोजना पहचान

3.3 परियोजना पहचान का महत्व

3.4 परियोजना प्रारूपीकरण

3.5 परियोजना प्रारूपीकरण के चरण

  3.5.1 सामान्य उद्देश्य

  3.5.2 परिचालन उद्देश्य

3.6 परियोजना प्रारूपीकरण की क्रमागत अवस्थायें

  3.6.1 साध्यता विश्लेषण

  3.6.2 तकनीकी आर्थिक विश्लेषण

  3.6.3 परियोजना डिजाइन एवं नेटवर्क विश्लेषण

  3.6.4 इनपुट विश्लेषण

  3.6.5 वित्तीय विश्लेषण

  3.6.6 लागत-लाभ विश्लेषण

  3.6.7 विनियोग पूर्व विश्लेषण

3.7 सारांश

3.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

3.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.0 : उद्देश्य

इस इकाई के पूर्ण अध्ययन के बाद आप इस योग्य हो जायेंगे कि -

- परियोजना पहचान को परिभाषित कर सकें,

- परियोजना के महत्व को स्पष्ट कर सकें,
- परियोजना प्रारूपीकरण के चरणों की व्याख्या कर सकें, तथा
- परियोजना प्रारूपीकरण की क्रमागत अवस्थाओं का विश्लेषण कर सकें।

3.1 प्रस्तावना

कोई भी परियोजना का जन्म अपने आप ही नहीं होता है। इनकी पहचान की जाती है। परियोजना पहचान एक परिश्रम से भरी हुई, कष्टकारी और समय लेने वाली क्रिया है। यह एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया है। इसकी क्रियायें एक परियोजना से दूसरी परियोजना तक उसके उद्देश्यों, सामाजिक - आर्थिक मापकों और उसकी विशेषताओं के आधार पर बदलती रहती है। किसी विकास परियोजना के पहचान के समय आवश्यक पक्ष जो परियोजना के होने चाहिए वे निम्नलिखित हैं :

(1) उस क्षेत्र के लोगों की आर्थिक आवश्यकताओं के साथ परियोजना की निश्चितता का होना।

(2) परियोजना पर पड़ने वाले विपरीत घटकों का प्रभाव जो परियोजना को बुरी तरह प्रभावित कर सकते हैं और इसके लाभों को रोक सकते हैं।

(3) साधन-उत्पादन (Input-Output) अनुपात को अधिकतम करने और अधिकतम लाभ प्राप्त करने हेतु अर्थव्यवस्था में उपलब्ध दुर्लभ साधनों का नियोजित तरीके से प्रयोग करना।

(4) परियोजना की राष्ट्रीय व स्थानीय प्रमुखता को स्पष्ट करना।

(5) परियोजना में प्रयोग किये जाने वाले वैकल्पित साधनों का निर्धारण व प्रयोग।

इस प्रकार परियोजना पहचान के लिए एक सूचना तंत्र का विकास आवश्यक है।

3.2 परियोजना पहचान (Project Indenification)

परियोजना पहचान एक नये संस्थान का प्रमुख चरण है। सही दिशा में उठाये गये कदम से संस्थान नयी ऊँचाई को प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा संस्थानों को कई प्रकार के अवरोधों का सामना करना पड़ सकता है। अतः संस्थानों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे परियोजना की सही-सही पहचान करें।

परियोजना पहचान के सन्दर्भ में संस्थानों के पास अनन्त विकल्प होते हैं। मुख्य विकल्पों में है - उत्पादन, सेवा, बाजार, तकनीक, संयंत्र, अभिन्यास, उत्पादन के चरण इत्यादि। इस प्रकार एक अच्छे परियोजना पहचान का कार्य कुछ कठिन है, क्योंकि

सरकारी नीतियाँ भी परियोजना पहचान के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है।

परियोजना पहचान विनियोग के लिए सम्भावित अवसरों की पहचान, उन सवसरों के विकास, और आर्थिक आँकड़ों के संग्रहण व विश्लेषण की प्रक्रिया से सम्बन्धित है।

मानव के दिमाग में अवसरों की नयी-नयी खोज करने की व अवलोकन करने की अनन्त क्षमता है। परियोजना विचारों का एक महत्वपूर्ण स्रोत है- अवलोकन करना। खोजी दिमाग लगातार विनियोग अवसरों के विकास का उपयोग करता रहता है। व्यापारिक व पेशेवर पत्र-पत्रिकायें परियोजना विचार की एक बहुत अच्छी स्रोत हैं। जो आँकड़े व सूचनायें इन पत्र-पत्रिकाओं और रिपोर्टों के द्वारा प्रदान किये जाते हैं उनके द्वारा विनियोग अवसरों की पहचान सरलतापूर्वक हो जाती है। जो व्यक्ति विनियोग अवसरों की पहचान हेतु जिम्मेदार होते हैं उन्हें इस तरह की सुचनाओं के सम्पर्क में हमेशा रहना चाहिए तभी परियोजना पहचान के नवीनतम आँकड़े व सूचनायें प्राप्त हो सकती हैं। इन प्राप्त आँकड़ों व सूचनाओं के तकनीकी व पेशेवर पहलू का अध्ययन करके परियोजना विकास के नये-नये विचार उत्पन्न किये जा सकते हैं।

शोध संस्थान के बुलेटिनों से भी नये परियोजना विचार व अवसरों की सूचनायें बहुत सरलतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है। ये शोध बुलेटिन शोध संस्थानों द्वारा विकसित की गई नई प्रक्रियाओं व नव उत्पादों के सम्बन्ध में व्यापक जानकारी उपलब्ध कराती है। फिर भी, इन शोध संस्थानों से पर्याप्त जानकारी लेने के लिए पत्र-व्यवहार करना और व्यक्तिगत मुलाकात करना अति आवश्यक है।

विभिन्न सरकारी विभागों के विभागीय प्रकाशन भी उपयोगी व नये परियोजना विचारों के विकास व प्राप्ति में अपना योगदान प्रदान कर सकते हैं। ये विभागीय प्रकाशन या तो एक निश्चित समय अन्तराल पर या विशेष अवसरों पर सरकारी विभागों द्वारा निर्गमित किये जाते हैं।

3.3 परियोजना पहचान का महत्व

किसी भी परियोजना की स्थापना और उसकी पूर्णता में परियोजना पहचान का एक विशेष महत्व होता है। परियोजना पहचान अच्छी परियोजना की आधारशिला है। निम्नलिखित कारणों से परियोजना पहचान का महत्व और बढ़ जाता है :

1. परियोजना पहचान आर्थिक विकास का प्रथम चरण व मुख्य एजेण्ट है।
2. यह आय उत्पन्न करने के स्रोत को और विकास की प्रक्रिया में रोजगार उत्पन्न करने हेतु, प्रेरणा प्रदान करती है।

3. यह दीर्घकालिक व लाभकारी परिणामों को उत्पन्न करती है।

4. परियोजनायें संस्थाओं की सेवाओं और क्रियाओं के भावी पद्धतियों के ढाँचे को सुरक्षा प्रदान करती है।

5. परियोजनायें पर्याप्त मात्रा में वित्तीय संसाधनों का उपयोग करती हैं।

6. ये पर्यावरण और मूलभूत आर्थिक ढाँचे के विकास में सहायता प्रदान करती हैं।

7. एक बार अपनायी गयी परियोजना को आसानी से बदला नहीं जा सकता है।

8. परियोजना पहचान समाज में आवश्यक परिवर्तनों को जन्म देती है।

9. परियोजनायें आर्थिक विकास की प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान करती हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि परियोजना पहचान उद्यमशीलता का एक महत्वपूर्ण भाग है जो देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

3.4 परियोजना प्रारूपीकरण (Project Formulation)

परियोजना तकनीक के द्वारा एक अच्छी परियोजना का चुनाव किया जा सकता है। परियोजना प्रारूपीकरण का अर्थ है कि परियोजना का विचार इस रूप में प्रस्तुत किया जाये कि उसका तुलनात्मक मूल्यांकन किया जा सके। इस प्रकार,"Project formulation is defined as taking first a look carefully and critically at a project idea by an entrepreneur to build up an all round beneficial project after carefully weighing its various components". उद्यमी द्वारा परियोजना का प्रारूपीकरण परामर्शदाताओं और विशेषज्ञों की सहायता से किया जाता है। परियोजना प्रारूपीकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा उद्यमी परियोजना के प्रभाव व दायित्व को निर्धारित करने के लिए एक परियोजना विचार के विनियोग प्रस्ताव के विभिन्न पक्षों का उद्देश्य निर्धारित करता है। परियोजना प्रारूपीकरण का उद्देश्य पर्याप्त संसाधनों की उपलब्धता एवं न्यूनतम खर्च में परियोजना के निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करना है। दूसरे शब्दों में, इससे कम समय में न्यूनतम व्यय करके अधिकतम लाभ प्राप्त करना है।

परियोजना प्रारूपीकरण के निम्नलिखित चरण है :

परियोजना विचार का जन्म	सम्बन्धित पक्षों का विश्लेषण	परियोजना का प्रारूपीकरण	परियोजना परिकल्प

परियोजना के आकार निम्नलिखित घटकों पर निर्भर करते हैं :

परियोजना संचालन का क्षेत्र, परियोजना की क्रियाओं का प्रकार व स्तर, संगठन

का प्रारूप व प्रकार, विनियोग धनराशि और परियोजना की क्रियाओं को पूरा करने हेतु लिया गया समय इत्यादि।

3.5 परियोजना प्रारूपीकरण के चरण (Steps in project formulation)

परियोजना के पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु उसमें निहित क्रियाओं की शृंखला को पूरा करना पड़ता है। इस दृष्टिकोण से परियोजना के उद्देश्यों को जहाँ तक सम्भव हो भली-भाँति परिभाषित किया जाना चाहिए। यह उद्देश्य सामाजिक या आर्थिक या आर्थिक - सामाजिक का मिश्रण हो सकता है जिसे अग्रांकित श्रेणियों में बांटा जा सकता है -

3.5.1 सामान्य उद्देश्य (General Objective)

इस उद्देश्य का क्षेत्र काफी विस्तृत होता है। यह उद्देश्य परियोजना के संचालन एवं समापन के परिणाम से सम्बन्धित होता है।

3.5.2 परिचालन उद्देश्य (Operational Objective)

परियोजना की भौतिक वित्तीय, मानवीय और अन्य संसाधनों की आवश्यकताओं को पूरा करने में यह उद्देश्य सहायता करता है।

परियोजना के प्रारूप व स्थानीकरण (Location) का निर्धारण करना दूसरे चरण का कार्य है। परियोजना का स्थानीकरण ढाँचागत सुविधाओं और विभिन्न संसाधनों की उपलब्धता या विद्यमानता से प्रभावित होता है। इस प्रकार परियोजना प्रारूपीकरण के दो चरण होते हैं।

3.6 परियोजना क्रियान्वयन की क्रमिक अवस्थायें (Sequential Stages of Project Formulation)

परियोजना विकास की प्रक्रिया को सात क्रमिक अवस्थाओं में वर्गीकृत किया जा सकता है। ये हैं :

3.6.1 साध्यता विश्लेषण (Feasibility Analysis)

यह परियोजना प्रारूपीकरण का प्रथम चरण है। इस अवस्था में परियोजना विचार का परीक्षण इस दृष्टिकोण से किया जाता है कि विनियोग प्रस्ताव छोटा है या बड़ा। परियोजना विचार का परीक्षण आन्तरिक व बाह्य अवरोधों के सन्दर्भ को ध्यान में रखकर किया जाता है। इसके लिए तीन विकल्पों पर विचार किया जाता है - प्रथम, परियोजना विचार साध्य प्रतीत हो, दूसरे, परियोजना विचार साध्य प्रतीत न हो और

तीसरा, पर्याप्त आँकड़ों की कमी की वजह से किसी परिणाम पर न पहुँचना। यदि परियोजना विचार में सहायता प्रतीत होती है तो परियोजना प्रारूपीकरण हेतु आगे बढ़ जाता है, अन्यथा नहीं। अगर पर्याप्त आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं तो सम्बन्धित आँकड़ों को इकट्ठा करके परियोजना विकास का परिकल्प किया जाता है।

3.6.2 तकनीकी आर्थिक विश्लेषण (Techno-economic Analysis)

इस अवस्था में, परियोजना माँग-शक्ति का अनुमान और अनुकूलतम तकनीक का चुनाव किया जाता है। परियोजना के द्वारा जो भी वस्तुयें उत्पादित की जाती हैं उनके लिए बाजार की तलाश की जाती है। परियोजना परिकल्प और माँग की तीव्रता के आधार पर तकनीक का चुनाव किया जाता है।

3.6.3 परियोजना परिकल्प एवं नेटवर्क विश्लेषण (Project Design and Network Analysis)

इस महत्वपूर्ण अवस्था में प्रत्येक क्रिया का परस्पर सम्बन्ध और प्रत्येक क्रिया जो परियोजना के द्वारा पूरी की जायेगी, को स्पष्ट किया जाता है। परियोजना की एक विस्तृत कार्य योजना और उनके द्वारा लिये जाने वाले समय की रूपरेखा को प्रस्तुत किया जाता है। परियोजना परिकल्प इसके अस्तित्व का प्राण या दिल है। यहीं से परियोजना की विस्तृत पहचान होती है।

3.6.4 साधन विश्लेषण (Input Analysis)

इस अवस्था में परियोजना के संचालन में और निर्माण में प्रयोग आने वाले आवश्यक साधनों का मापन किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया में अलग-अलग कितने साधन की जरूरत होगी, इसका विश्लेषण गुणात्मक व मात्रात्मक दृष्टिकोण से किया जाता है। साधन में मानव संसाधन और पदार्थों (Materials) को सम्मिलित किया जाता है। साधन विश्लेषण से परियोजना के संसाधनों की आवश्यकता को और इन संसाधनों की उपलब्धता के दृष्टिकोण से परियोजना की साध्यता का पता लगाया जाता है। यह परियोजना की लागत, वित्तीय विश्लेषण और लागत लाभ विश्लेषण का मापन करने में सहायक होगा।

3.6.5 वित्तीय विश्लेषण (Financial Analysis)

मुख्यतया यह अवस्था परियोजना की लागत को ज्ञात करने में सहायक होती है। अनुपात विश्लेषण, लागत मात्रा-लाभ सम्बन्ध और कटौतीयुक्त रोकड़ प्रवाह आदि वित्तीय संयन्त्रों का प्रयोग परियोजना लागत को ज्ञात करने के लिए किया जाता है।

3.6.6 लागत-लाभ विश्लेषण (Cost benefit Analysis)

जहाँ वित्तीय विश्लेषण लाभदायकता के दृष्टिकोण से परियोजना का मूल्यांकन करती हैं वहीं लागत लाभ विश्लेषण राष्ट्रीय दृष्टिकोण से परियोजना का मूल्यांकन करती है। यह रणनीति अब अन्तर्राष्ट्रीय रूप से परियोजना प्रारूपीकरण में प्रयोग की जाती है।

3.6.7 विनियोग पूर्व विश्लेषण (Pre Investment Analysis)

इस अवस्था में परियोजना प्रस्ताव एक निश्चित व अन्तिम प्रारूप ग्रहण कर लेती है। अर्थात इस अवस्था में, परियोजना को प्रस्तुत करने वाले लोग, उसे पूरा करने वाले लोग और अन्य बाह्य परामर्शदात्री एजेन्सियाँ इस योग्य हो जाती हैं कि परियोजना को स्वीकार किया जाय या अस्वीकार । इस चरण में परियोजना में विनियोग निर्णय लिया जाता है।

अतः उपर्युक्त अवस्थाओं में परियोजना प्रारूपीकरण के महत्वपूर्ण चरणों को अग्रांकित चित्र में संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है -

Project
↓
Feasibility
↓
Techno-Economic Design
↓
Network
↓
Input
↓
Finance
↓
Social
Cost Benefit
↓
Pre-Investment

परियोजना प्रारूपीकरण प्रबन्ध सहायता का एक मुख्य साधन है। परियोजना प्रारूपीकरण की प्रक्रिया परियोजना विचार के विकास और आन्तरिक व बाह्य अवरोधों की विद्यमानता और पर्यावरण अध्ययन को विनियोग प्रस्ताव तक ले जाता है। इस प्रकार परियोजना प्रारूपीकरण वित्तीय संस्थाओं द्वारा परियोजना पहचान और परियोजना मूल्यांकन के मध्य की महत्वपूर्ण कड़ी है।

3.7 सारांश

परियोजना पहचान एक व्यवस्थित प्रक्रिया है। यह एक परिश्रमी एवं कष्टकारी प्रक्रिया है। परियोजना पहचान एक नये संस्थान का प्रथम चरण है। अतः उपक्रम की सफलता के लिए परियोजना पहचान एक आवश्यक कार्य है। यह पहचान थोड़ा कठिन होता है। परियोजना विचारों का अवलोकन करना एक महत्वपूर्ण स्रोत है।

शोध संस्थान के बुलेटिनों, पत्र पत्रिकाओं से नवीनतम सूचनायें व आँकड़े प्राप्त हो सकते हैं जो परियोजना पहचान में सहायक सिद्ध होते हैं, अतः परियोजना पहचान अच्छे परियोजना की आधारशिला है।

परियोजनाओं के पहचान के बाद इनका प्रारूपीकरण किया जाता है। परियोजना प्रारूपीकरण एक क्रिया है जिसके द्वारा उद्यमी परियोजना के प्रभाव व दायित्व को निर्धारित करता है। इसके लिए परियोजना प्रारूपीकरण की अवस्थाओं का परीक्षण आवश्यक होता है।

3.8 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. परियोजना पहचान को परिभाषित कीजिए।
2. परियोजना पहचान के महत्व की व्याख्या कीजिए।
3. परियोजना प्रारूपीकरण क्या है? परियोजना प्रारूपीकरण के विभिन्न चरणों की व्याख्या कीजिए।
4. परियोजना प्रारूपीकरण की क्रमिक अवस्थाओं का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (References)

1. Khanna, S.S., Entrepreneurial Development, S., Chand & Co. Ltd.
2. Desai Basant : 'Dynamics of Entrepreneurial Development and Management.' Himalaya Publishing House.
3. Pandey, I.M., 'Financial Management.'
4. Gupta & Srinivasan, 'Entrepreneurial Development in India'. S.Chand & Sons.

5. अग्रवाल एण्ड अग्रवाल, वित्तीय प्रबन्ध, रमेश बुक डिपो।
6. Das, N.L., Industrial Entrepreneur in India.
7. Mishra, P.N., Development Banks and New Entrepreneurship in India.
8. Pathak, H.T., 'Entrepreneurship in India'.
9. Sunderam, K.P.M., 'Indian Economy'.

इकाई - 4 : परियोजना रिपोर्ट और परियोजना मूल्यांकन (Project Report and Project Appraisal)

इकाई की रूपरेखा-

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 परियोजना रिपोर्ट का आशय

4.3 परियोजना रिपोर्ट का क्षेत्र

4.3.1 आर्थिक पक्ष

4.3.2 तकनीकी पक्ष

4.3.3 वित्तीय पक्ष

4.3.4 उत्पादन पक्ष

4.3.5 प्रबन्धकीय पक्ष

4.4 परियोजना रिपोर्ट की विषय सूची

4.5 परियोजना रिपोर्ट का महत्व

4.6 परियोजना मूल्यांकन प्रस्तावना

4.7 परियोजना मूल्यांकन का अर्थ

4.8 परियोजना मूल्यांकन का क्षेत्र

4.9 परियोजना मूल्यांकन के चरण

4.9.1 आर्थिक चरण

4.9.2 संगठनात्मक चरण

4.9.3 वित्तीय चरण

4.9.4 प्रबन्धकीय चरण

4.9.5 तकनीकी चरण

4.9.5.1 स्थिति

4.9.5.2 स्थान

4.9.5.3 तकनीक

4.9.5.4 विन्यास

4.9.5.5 उत्पादन की प्रक्रिया

4.9.5.6 प्लाण्ट की क्षमता

4.9.5.7 परामर्शदाता

4.9.6 विपणन का चरण

4.10 सारांश

4.11 अभ्यास के लिए प्रश्न

4.12 संदर्भ ग्रन्थ

4.0 : उद्देश्य

इस इकाई के पूर्ण अध्ययन के बाद आप इस योग्य हो पायेंगे कि -

- परियोजना रिपोर्ट के आशय को जान सकें,
- परियोजना रिपोर्ट के क्षेत्र की व्याख्या कर सकें,
- परियोजना रिपोर्ट की विषय सूची का विश्लेषण कर सकें,
- परियोजना रिपोर्ट के महत्व की समीक्षा कर सकें,
- परियोजना मूल्यांकन के अर्थ एवं क्षेत्र की व्याख्या कर सकें, तथा
- परियोजना मूल्यांकन के विभिन्न चरणों की व्याख्या कर सकें।

4.1 प्रस्तावना

परियोजना पहचान और उसकी क्रियान्विति के तुरन्त बाद विभिन्न सम्बन्धित पक्षों का परीक्षण करके परियोजना रिपोर्ट लागू की जाती है। सामान्यतया, उद्यमी एक प्रोजेक्ट रिपोर्ट परियोजना या विनियोग को प्रारम्भ करने के पूर्व तैयार करता है। यह परियोजना रिपोर्ट उत्पादन किये जाने वाले प्रस्तावित उत्पाद को, माँग और उसमें लगने वाली लागत का मापन करती है। इस प्रकार, रिपोर्ट प्रस्तावित विनियोग की लाभदायकता का अनुमान लगाती है। रिपोर्ट के आधार पर उद्यमी यह निर्णय लेता है कि प्रस्तावित परियोजना को लागू किया जाये या नहीं। प्रस्तावित विनियोग के लिए धन की व्यवस्था की जाती है।

4.2 परियोजना रिपोर्ट का आशय

एक परियोजना रिपोर्ट, जिसमें परियोजना से सम्बन्धित विभिन्न आँकड़े दिये होते हैं, प्रबन्ध के लिए एक पथ-प्रदर्शक जैसा काम करती है। रिपोर्ट में, उत्पादित वस्तुओं व सेवाओं के लिए संसाधनों के गुणों व दोषों को भी रिकार्ड किया जाता है। एक परियोजना रिपोर्ट परियोजना (प्रस्तावित) में सम्भावित अवसरों के विश्लेषण के लिए तैयार की जाती है।

एक परियोजना रिपोर्ट परियोजना के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण और पूर्ण अध्ययन करने के बाद विशेषज्ञों के द्वारा तैयार की जाती है।यह परियोजना संसाधनों और उत्पादन का पूरा विश्लेषण प्रस्तुत करती है। यह रिपोर्ट उद्यमियों को प्रारम्भिक स्तर पर ही इस योग्य बनाती है कि परियोजना तकनीकी, वाणिज्यिक, वित्तीय और आर्थिक कसौटियों पर लाभप्रद है या नहीं।

इस प्रकार, परियोजना रिपोर्ट या व्यवसायिक योजना एक लिखित विवरण है जिसे उद्यमी क्रियान्वित करना चाहता है। यह एक प्रकार का गाइड है या क्रियाओं का पाठ्यक्रम है जो एक व्यवसायी अपने व्यवहार में प्राप्त करना चाहता है। अर्थात् परियोजना रिपोर्ट एक विस्तृत मार्ग-चित्र है, अतः "A project report can at best be defined as a well evolved course of action devised to achieve the specified objective within a specified period of time."

4.3 परियोजना रिपोर्ट का क्षेत्र (Scope of Project Report)

परियोजना रिपोर्ट में निम्नलिखित पक्षों से सम्बन्धित सूचनायें सम्मिलित होती हैं-

4.3.1 आर्थिक पक्ष (Economic Aspects)

परियोजना रिपोर्ट विनियोग किये जाने वाले धन के आर्थिक पक्ष को न्याय संगत ठहराने के योग्य होनी चाहिए। इसमें निर्मित किये जाने वाले उत्पाद के बाजार का विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहिए। यह उत्पादन के अर्थशास्त्र का विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

4.3.2 तकनीकी पक्ष (Technical Aspects)

एक अच्छी और सन्तुलित रिपोर्ट को संसाधनों की उपलब्धता व मशीनों की आवश्यकता, और आवश्यक तकनीक के बारे में विस्तृत जानकारी प्रस्तुत करना चाहिए।

4.3.3 वित्तीय पक्ष (Financial Aspects)

रिपोर्ट को यह अवश्य स्पष्ट करना चाहिए कि कुल कितना विनियोग किया जाना चाहिए और कुल विनियोग में उद्यमी का कितना हिस्सा होना चाहिए और कितना धन

वित्तीय संस्थाओं से लगना चाहिए । साथ ही साथ पूँजी की प्रत्याय और पूँजी की लागत में तुलना को भी प्रस्तुत करना चाहिए।

4.3.4 उत्पादन पक्ष (Production Aspects)

रिपोर्ट को उत्पादन की विशेषताओं को और इस उत्पादन को चुने जाने के कारणों को प्रस्तुत करना चाहिए। इसे इस तथ्य को भी अवश्य बताना चाहिए कि उत्पाद निर्यात के योग्य है अथवा नहीं । इसे उत्पाद की डिजाइन को भी प्रस्तुत करना चाहिए।

4.3.5 प्रबन्धकीय पक्ष (Managerial Aspects)

रिपोर्ट में यह भी सम्मिलित होना चाहिए कि कार्य का प्रबन्ध करने वाले विशेषज्ञ की योग्यता और अनुभव क्या है? यदि उद्यमी स्वयं प्रबन्ध कार्य की देखभाल करता है, तो रिपोर्ट में उद्यमी की प्रबन्ध योग्यता को भी स्पष्ट करना चाहिए।

4.4 परियोजना रिपोर्ट की विषय सूची (Contents of Project Report)

परियोजना रिपोर्ट की निम्नलिखित विषय सूची है जो इसमें अवश्य सम्मिलित होनी चाहिए :

1. रिपोर्ट का कार्यक्षेत्र और उद्देश्य,
2. उत्पाद की विशेषतायें, उसका उत्पादन, प्रयोग, मानक व गुणवत्ता।
3. कर्मचारियों, मजदूरों की आवश्यकता, उन पर व्यय व मजदूरी भुगतान।
4. बाजार की रणनीति, व्यापारिक व्यवहार आदि।
5. वित्तीय पक्ष जैसे स्थायी व कार्यशक्ति पूँजी,परियोजना लागत और उसकी लाभदायकता।
6. भूमि और भवन अर्थात आवश्यक भूमि क्षेत्रफल, भवन और निर्माण तालिका आदि।
7. प्लाण्ट व मशीनरी के अन्तर्गत मशीनरी और औजार, यंत्र प्रयोगशाला के क्षेत्र, विद्युत भार, जल आपूर्ति और आवश्यक ढाँचा आदि।
8. निर्माण प्रक्रिया, प्रक्रिया का चुनाव, उत्पादन तालिका और उत्पादन तकनीक आदि।
9. कच्चे माल की आवश्यकता, उसका मूल्य, उसके स्रोत एवं सम्भावनायें।
10. बाजार की स्थिति व प्रवृत्ति के अन्तर्गत उत्पादन क्षमता, उत्पाद की माँग, निर्यात

सम्भावनायें, आयात व निर्यात की सूचनायें, मूल्य ढाँचा और मूल्य की प्रवृत्ति आदि।

परियोजना रिपोर्ट की विषय सामग्री में उपयुक्त बातें अवश्य सम्मिलित होनी चाहिए। परियोजना रिपोर्ट आवश्यक वित्तीय छूट प्राप्त करने हेतु और भूमि के ग्राण्ट हेतु वित्तीय संस्थाओं के सामने रखा जाना चाहिए। यह रिपोर्ट या तो उद्यमी स्वयं या विशेषज्ञ लोग तैयार करते हैं। बहुत से ऐसे संगठन हैं जो परियोजना रिपोर्ट तैयार करने में उद्यमी की सहायता करते हैं - जैसे स्माल स्केल इण्डस्ट्रीज सर्विसेज इन्सटीट्यूट और स्माल स्केल डेवलपमेण्ट आर्गनाइजेशन आदि।

4.5 परियोजना रिपोर्ट का महत्व

यह रिपोर्ट बहुत महत्वपूर्ण होती है। यह विभिन्न तथ्यों पर प्रकाश डालती है जैसे - अर्थव्यवस्था, वित्तीय, लाभदायकता, तकनीकी और सामाजिक अभिप्रेरणा इत्यादि। यह उद्यमियों को अपने नया व्यवसाय प्रारम्भ करने हेतु और पुराने व्यवसाय में विस्तार करने हेतु आवश्यक होती है। रिपोर्ट की उपयोगिता निम्न पक्षों हेतु सर्वाधिक है जैसे - इंजीनियर्स, वैज्ञानिक, बैंकर्स, वित्तीय संस्थायें, परामर्शदाताओं ओर विकास बैंक इत्यादि। परियोजना रिपोर्ट का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह परियोजना के लाभों को अधिकतम करती है और उसके जोखिम को न्यूनतम करती है।

एक उद्देश्य जिसकी कोई योजना न हो, सपना की तरह होती है। परियोजना रिपोर्ट की तैयारी उद्यमी के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है। यह रिपोर्ट दो आवश्यक कार्य पूरा करती है। प्रथम परियोजना रिपोर्ट एक मार्ग-मानचित्र है। यह उस दिशा को बताती है जिधर उपक्रम जा रहा है। उपक्रम का उद्देश्य क्या है? वह कहाँ जाना चाहता है और मंजिल तक वह कैसे पहुँचेगा। यह रिपोर्ट यह भी बताती है कि उपक्रम जिस दिशा में जा रहा है, वह सही है या नहीं। द्वितीय, परियोजना रिपोर्ट का महत्वपूर्ण कार्य विनियोजकों, ऋणदाताओं को आकर्षित करना है। परियोजना रिपोर्ट को तैयार करना उन लोगों के लिए भी लाभदायक है जो वाणिज्यिक बैंकों या वित्तीय संस्थाओं से वित्तीय सहायता प्राप्त करना चाहते हैं। इसी प्रकार दूसरे संस्थान भी जो उपक्रम को कच्चा माल, बीज, मार्जिन, मनी, श्रम इत्यादि प्रदान करते हैं वे भी परियोजना रिपोर्ट के माध्यम से संस्था के आर्थिक स्वास्थ्य को जानने के इच्छुक होते हैं।

4.6 परियोजना मूल्यांकन (Project Evaluation)

परियोजना मूल्यांकन एक विशेष अभ्यास है जिसके द्वारा वित्त प्रदान करने वाली संस्थायें वित्त प्रदान करने हेतु विनियोग प्रस्तावों के विभिन्न पक्षों का स्वतंत्र व वस्तु.निष्ठ

मापन करती हैं। वित्तीय संस्थाएं परियोजना का मूल्यांकन करते समय प्रबन्धकीय, सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक, वाणिज्यिक, वित्तीय और तकनीकी पक्षों पर विशेष ध्यान देती है।

4.7 परियोजना मूल्यांकन का अर्थ

परियोजना मूल्यांकन का अर्थ है वित्तीय, सामाजिक व आर्थिक दृष्टिकोण से परियोजना का मापन करना। परियोजना मूल्यांकन का कार्य कठिन है क्योंकि यह परियोजना के बहु-पक्षीय विश्लेषण को प्रस्तुत करता है अर्थात यह परियोजना का सम्पूर्ण चित्रण करता है। वित्तीय संस्थाओं और बैंकों के द्वारा समालोचनात्मक या निर्णायक परियोजना मूल्यांकन किया जाता है जिसे ऋण प्राप्त करने हेतु उद्यमियों द्वारा बैंकों में प्रस्तुत किया जाता है। इसमें वास्तव में, परियोजना के रोकड़ प्रवाह और वित्तीय संसाधनों पर विशेष जोर दिया जाता है ताकि ऋण की मात्रा को बढ़ायी या घटायी जा सके। अग्रांकित रेखा चित्र में परियोजना मूल्यांकन के विभिन्न पक्षों का वर्णन किया गया है -

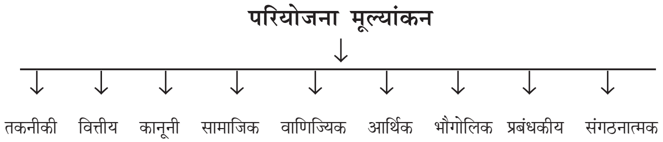

चित्र - परियोजना मूल्यांकन के विभिन्न पक्ष

परियोजना का मूल्यांकन करने वाला व्यक्ति सामान्यतया वित्तीय संस्थानों से एक अधिकारी होता है या अधिकारियों की एक टीम होती है।

4.8 परियोजना मूल्यांकन का क्षेत्र (Scope of Project Appraisal)

परियोजना का मूल्यांकन का कार्य वित्तीय संस्थानों द्वारा दो उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है। प्रथम, परियोजना की बाजार की माँग शक्ति का निर्धारण करना, और दूसरा व्यवसायिक रणनीति का चुनाव करना। मूल्यांकन विश्लेषण की विधि एक परियोजना से दूसरे परियोजना में बदलती रहती है। फिर भी मूल्यांकन के कार्यक्षेत्र या पहलुओं को तकनीकी व इन्जीनियरिंग के दृष्टिकोण से निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है:-

(1) तकनीकी प्रक्रिया का चुनाव

(2) तकनीकी व्यवसायिक समझौता

(3) संचालन का आकार व पैमाना

(4) ढाँचागत सुविधाओं की उपलब्धता

(5) प्लाण्ट मशीनरी और अन्य यंत्रों का चुनाव उनके आपूर्ति की क्षमता,

(6) संयन्त्र विन्यास और कारखाने का भवन

(7) तकनीकी इन्जीनियरिंग सेवायें

(8) परियोजना डिजाइन और नेटवर्क विश्लेषण

(9) सह-उत्पाद का प्रबन्ध

(10) परियोजना की लागत व अन्य उसी प्रकार की परियोजना लागत से तुलना

(11) परियोजना की अनुमानित लागत, लाभदायकता व भविष्यवाणी

(12) भावनात्मक विश्लेषण ।

उपर्युक्त विभिन्न पहलुओं का कोई स्वतंत्र परियोजना अस्तित्व नहीं है वे सभी पहलू एक-दूसरे से आपस में जुड़े हुये हैं।

4.9 परियोजना मूल्यांकन के चरण (Steps of Project Appraisal)

परियोजना मूल्यांकन एक वैज्ञानिक औजार है। इसकी एक निश्चित पद्धति है। परियोजना मूल्यांकन के मुख्य चरण निम्नलिखित हैं-

4.9.1 आर्थिक चरण (Economic Aspects)

एक परियोजना के आर्थिक मूल्यांकन का उद्देश्य उसके आर्थिक अस्तित्व को निश्चित करना है। अर्थात रोकड़ प्रवाह का पता लगाना जिससे कोषों की लागत और अंश धारियों को लाभांश के भुगतान की व्यवस्था हो सके, प्रतिष्ठान का भावी विकास भी हो और विनियोजित पूँजी की प्रत्याय की दर की पर्याप्तता की भी जानकारी हो सके। आर्थिक पक्ष का चित्र निम्न है।

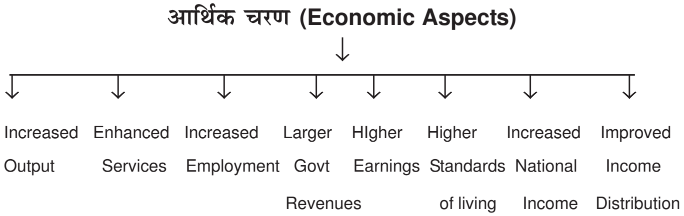

4.9.2 संगठनात्मक चरण (Organisational Aspects)

इस चरण का मुख्य उद्देश्य संगठन की ताकत का परीक्षण करना और परियोजना

के लिए उसकी उपयुक्तता का निर्धारण करना है। परियोजना का संचालन करने व उसे लागू करने की सफलता, परियोजना के साथ संगठन के सम्बन्ध और उपयुक्तता पर निर्भर करती है। संगठनात्मक चरण निम्नलिखित हैं -

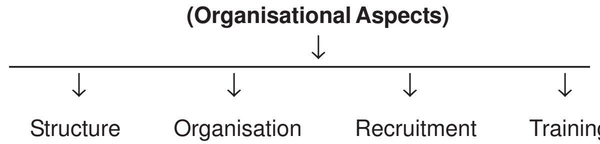

4.9.3 वित्तीय चरण (Financial Aspects)

सामान्यता परियोजना के वित्तीय मूल्यांकन का उद्देश्य इसका स्वस्थ क्रियान्वयन के लिए वित्तीय शर्तों का लगाना और प्रभावशाली ढंग से संचालन को सुनिश्चित करना है। अर्थात परियोजना के मूल्यांकन का उद्देश्य यह भी है कि क्या परियोजना की वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति हेतु पर्याप्त साधन की व्यवस्था कर ली गई है? क्या पूँजी ढाँचा अनुकूलतम व उपयुक्त है? क्या साधनों को न्यूनतम लागत और उचित समय पर तथा उपयुक्त स्रोतों से प्राप्त कर लिया जायेगा? क्या विनियोग के द्वारा परियोजना की क्षमता का उपयोग और अधिकतम प्रत्याय प्राप्त होगा?

परियोजना मूल्यांकन के वित्तीय चरण निम्नलिखित हैं -

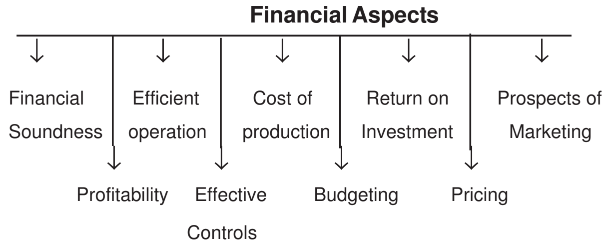

4.9.4 प्रबन्धकीय चरण (Managerial Aspects)

यदि प्रबन्ध में अक्षमता है तो अच्छी परियोजना भी अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती है। यह सही कहा जाता है कि यदि परियोजना में कमजोरी है तो इसमें सुधार किया जा सकता है किन्तु यदि प्रवर्तकों में कमजोरी है और व्यावसायिक इच्छाशक्ति में कमी है तो परियोजना अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती है। यह इसलिए, स्वाभाविक है कि वित्तीय संस्थायें परियोजना को वित्तीय सहायता देने से पहले बहुत सावधनीपूर्वक प्रबन्धकीय मूल्यांकन करती हैं।

यदि उचित प्रबन्धकीय मूल्यांकन परियोजना के प्रारम्भ में ही कर लिया जाता है तो भावी समस्यायें, बहुत कुछ सीमा तक दूर की जा सकती है। इसलिए यह आवश्यक

है कि प्रवर्तकों की योग्यता, अनुभव, पूर्व कार्यप्रणाली और व्यवसायिक क्षमता का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिए ताकि परियोजना जिसके लिए वित्तीय सहायता की जरूरत है, वह प्राप्त हो सके।

4.9.5 तकनीकी चरण (Technical Aspects)

तकनीकी मूल्यांकन का उद्देश्य परियोजना की तकनीकी साध्यता का परीक्षण करना है। यह परियोजना की तकनीकी कसौटी के परीक्षण पर निर्भर करता है। जैसे-

4.9.5.1 स्थिति (Limitation)

ऐसे बहुत से कारक हैं जो औद्योगिक अवस्थिति को प्रभावित करते हैं क्योंकि साइट की स्थिति वितरण की लागत को, वितरण की क्षमता को और संचालन के वातावरण इत्यादि को काफी प्रभावित करती है। अतः अनुकूलतम स्थिति के चुनाव के लिए सभी कारकों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

4.9.5.2 स्थान (Site)

परियोजना का स्थान परियोजना के व्यवसाय के उद्देश्य के लिए अनुकूलतम होना चाहिए। न केवल भूमि का क्षेत्रफल ही पर्याप्त होना चाहिए। बल्कि भूमि की लागत और स्थान के विकास की लागत भी न्यूनतम होनी चाहिए। परियोजना स्थान पर बिजली, प्रकाश, पानी, सड़क और संचार का नेटवर्क आसानी से उपलब्ध हो।

4.9.5.3 तकनीक (Technology)

तकनीक स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उपयुक्त और क्षमतावान होनी चाहिए। तकनीक सम्बन्धी समझौते, अनुभवी और प्रसिद्ध कम्पनियों से होना चाहिए। तकनीकी अनुबन्ध ऐसे होने चाहिए जिससे कि प्लाण्ट के स्थापना में, तकनीकी उपयोग में और इसके विकास में सहयोग प्राप्त हो सके।

4.9.5.4 विन्यास (Layout)

परियोजना का तकनीकी विन्यास इस तरह का होना चाहिए जो अपने कर्मचारियों को, यंत्र, प्लांट और अन्य सुविधाओं को सुरक्षा प्रदान कर सके जिससे उत्पादन और सेवाओं का प्रवाह निरन्तर बना रहे।

4.9.5.5 उत्पादन की प्रक्रिया (Process of Production)

उत्पादन डिजाइन उपयुक्त और साध्य होने चाहिए जिससे स्थानीय दशाओं में संसाधनों और उत्पादन की आवश्यकता को पूरा किया जा सके।

4.9.5.6 उत्पादन मिश्रण (Product mix)

उपभोक्ताओं के एक बड़े वर्ग की माँग को पूरा करने के लिए बाजार की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार समायोजन करने की भी व्यवस्था उत्पाद मिश्रण में होना चाहिए। उपलब्ध संसाधनों के बीच सन्तुलन, लागत को न्यूनतम करना, क्षमता का अनुकूलतम उपयोग और स्थानीय संसाधनों पर भी विचार होना चाहिए।

4.9.5.7 प्लाण्ट की क्षमता (Plant Capacity)

प्लाण्ट की क्षमता का निर्धारण कुछ विशेष बातों पर विचार करके होना चाहिए जैसे माँग में परिवर्तन, माँग की मात्रा, कच्ची सामग्री प्राप्त करने में अवरोध, कोष की उपलब्धता, सरकारी नीतियाँ इत्यादि।

4.9.5.8 परामर्शदाता (Consultants)

परियोजना की सफलता में परामर्शदाताओं की एक बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः इनके चुनाव में पर्याप्त व उचित निर्णय सावधानीपूर्वक लेना चाहिए। परामर्शदाताओं की ख्याति, अनुभव, उत्तरदायित्व की सीमा, कार्य निष्पादन की गारण्टी, दण्ड की व्यवस्था आदि पर समझौते के समय ही विचार कर लेना चाहिए।

अतः उपर्युक्त तथ्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके तकनीकी मूल्यांकन की उपयुक्तता को अल्पकाल व दीर्घकाल तक बनाये रखना चाहिए।

4.9.6 विपणन का चरण (Marketing Aspects)

इस चरण में बाजार मूल्यांकन का उद्देश्य यह निश्चित करना है कि माँग के अनुमान का सही-सही पता लगा लिया गया है और निम्नलिखित कारकों का परीक्षण कर लिया गया है -

(1) वर्तमान व भावी माँग का अनुमान लगाना,

(2) भावी मूल्य का अनुमान,

(3) वितरण व बिक्री की प्रणाली

(4) प्रतियोगिता की सीमा और प्रतियोगिता की संख्या का अनुमान लगाना,

(5) भावी उपभोक्ता, उनकी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि और उपभोग आदतें, एवं

(6) सरकारी नीतियाँ व उसमें भावी परिवर्तन व प्रभाव।

4.10 सारांश

परियोजना रिपोर्ट या व्यवसायिक योजना उन क्रियाओं का ब्लू-प्रिन्ट है जिसे

एक उद्यमी पूरा करने के लिए प्रस्तावित करता है। यह न केवल एक रोड मैप या व्यावसायिक गाइड है बल्कि प्रस्तावित व्यावसायिक क्रियाओं के लिए संसाधनों की योजना, साध्यता परीक्षण, लागत व लाभ का अनुमान है। परियोजना रिपोर्ट वाणिज्यिक बैंकों व वित्तीय संस्थाओं से ऋण प्राप्त करने के लिए आवश्यक होती है। परियोजना रिपोर्ट एक उद्यमी के लिए उसी तरह सहायता प्रदान करती है जिस प्रकार एक यात्री के लिए रोड गाइड मैप करता है।

एक प्रस्तावित परियोजना की साध्यता या वैधता को मापना ही परियोजना मूल्यांकन कहलाता है। साध्यता व वैधता का परीक्षण करते समय उसके आर्थिक, वित्तीय, तकनीकी, प्रबन्धकीय व लागत-लाभ विश्लेषण के पहलुओं को भी मूल्यांकित किया जाता है। परियोजना मूल्यांकन एक उद्यमी को कई परियोजनाओं मे से सबसे अच्छी व उपयुक्त परियोजना को चुनने में सहायता प्रदान करता है।

4.11 प्रश्नावली

1. परियोजना रिपोर्ट क्या है?
2. परियोजना रिपोर्ट के क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।
3. परियोजना रिपोर्ट की विषय सूची क्या है?
4. परियोजना रिपोर्ट के महत्व की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
5. परियोजना मूल्यांकन के अर्थ और क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।
6. परियोजना मूल्यांकन के विभिन्न चरणों को भली-भाँति स्पष्ट कीजिए।

4.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (References)

1. Khanna, S.S., Entrepreneurial Development, S., Chand & Co. Ltd.
2. Desai Basant : 'Dynamics of Entrepreneurial Development and Management.' Himalaya Publishing House.
3. Pandey, I.M., 'Financial Management.'
4. Gupta & Srinivasan, 'Entrepreneurial Development in India'. S.Chand & Sons.
5. अग्रवाल एण्ड अग्रवाल, वित्तीय प्रबन्ध, रमेश बुक डिपो।
6. Das, N.L., Industrial Entrepreneur in India.

7. Mishra, P.N., Development Banks and New Entrepreneurship in India.
8. Pathak, H.T., 'Entrepreneurship in India'.
9. Sunderam, K.P.M., 'Indian Economy'.

इकाई - 5 परियोजना का स्थानीकरण और संगठन का चुनाव (Location of Project and Choice of Organisation)

इकाई की रूपरेखा-

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 परियोजना स्थानीकरण की आवश्यकता

5.3 परियोजना स्थानीकरण का महत्व

5.4 परियोजना स्थानीकरण के चुनाव के चरण

5.5 परियोजना के स्थानीकरण को प्रभावित करने वाले घटक

5.5.1 सकारात्मक मापक

5.5.2 नकारात्मक मापक

5.6 परियोजना स्थानीकरण का वेबर का सिद्धान्त

5.7 साइट के चुनाव में महत्वपूर्ण घटक

5.7.1 कच्चे माल की उपलब्धता

5.7.2 कुशल व अकुशल श्रम की उपलब्धता

5.7.3 जलवायु की उपयुक्तता

5.7.4 अनुचित समस्यायें

5.7.5 बाजार की उपलब्धता

5.7.6 सस्ते शक्ति के साधनों की उपलब्धता

5.7.7 परिवहन सुविधाओं की उपलब्धता

5.8 संगठन का चुनाव

5.9 सारांश

5.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप इस योग्य होंगे कि -

- परियोजना स्थानीकरण की आवश्यकता को स्पष्ट कर सकें,
- परियोजना स्थानीकरण के महत्व की व्याख्या कर सकें,
- परियोजना स्थानीकरण के चुनाव के विभिन्न चरणों का विश्लेषण कर सकें,
- परियोजना की स्थानीकरण को प्रभावित करने वाले विभिन्न घटकों की समीक्षा कर सकें,
- साइट के चुनाव में महत्वपूर्ण घटकों का विश्लेषण कर सकें,
- संगठन के प्रारूप का चुनाव कर सकें, तथा
- परियोजना स्थिति के वेबर के सिद्धान्त की व्याख्या कर सकें।

5.1 प्रस्तावना

निर्माणी प्लाण्ट की स्थापना हेतु स्थानीकरण (Location) या स्थान का निर्धारण एक महत्वपूर्ण विषय है। औद्योगिक इकाई की स्थापना आर्थिक भूगोल की एक प्रमुख शाखा है जो अर्थशास्त्रियों और भूगोलशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित करती है। अर्थशास्त्री विकास, उत्पादकता और लाभ के दृष्टिकोण से निर्णय लेता है। वह यह देखता है कि प्लाण्ट की स्थापना की स्थान पर कच्चा माल, बाजार, श्रम, ढाँचागत सुविधायें, नीतियाँ, लागत, प्रोत्साहन और अन्य उत्पादन सम्बन्धी सुविधायें आसानी से उपलब्ध हैं। एक आदर्श साइट का चुनाव निश्चित ही उपक्रम के प्रभावपूर्ण एवं सरल कार्य प्रणाली में सहयोग प्रदान करता है। यह न केवल उत्पादन लागत को कम करता है बल्कि लाभ व उत्पादकता में वृद्धि भी करता है। आदर्श प्लाण्ट की स्थिति उपक्रम के लिए एक वरदान है जो उत्पादकता, विविधता और ख्याति में वृद्धि करता है और गुणवत्ता युक्त उत्पाद में सहायक होता है।

5.2 परियोजना स्थानीकरण की आवश्यकता (Need for Project Location)

निम्नलिखित परिस्थितियों में परियोजना स्थानीकरण की आवश्यकता होती है-

1. जब एक नवीन उपक्रम की स्थापना की जाती है।
2. जब एक अनुपयुक्त स्थिति को खाली करना पड़ता है।

3. जब बाजार को कहीं और स्थान्तरित करने की प्रवृत्ति हो, कच्चे माल में अवक्षयण हो रहा हो, यातायात सुविधाओं में परिवर्तन हो रहा हो, या नई माल की प्रक्रिया के कारण दूसरा स्थान बदलना पड़ रहा है, तो प्लाण्ट की स्थिति के निर्धारण की आवश्यकता पड़ती है।

4. जब प्रतिष्ठान विद्यमान कारखानें के लीज का नवीनीकरण करवाने की स्थिति में न हो।

5. एक विद्यमान प्रतिष्ठान में, साइट स्थिति बदलने की आवश्यकता उस समय पड़ती है जब उत्पाद की माँग बढ़ने के कारण प्रतिष्ठान का विस्तार, विविधिकरण एवं विकेन्द्रीकरण किया जाता है।

6. जब एक नई शाखा या कई शाखाएं उत्पादन की मात्रा और / अथवा वितरण को बढ़ाने के लिए खोली जाती है।

5.3 परियोजना स्थानीकरण का महत्व (Importance of Project Location)

उपयुक्त स्थानीकरण का चुनाव प्रतिष्ठान के संचालन को प्रभावपूर्ण और सरस बनाने के साथ-साथ संचालन लागत को कम करता है। एक अनुमान के अनुसार सही स्थानीकरण के चुनाव होने पर निर्माणी व वितरण की लागत 10 प्रतिशत तक कम हो सकती है। गलत स्थिति होने पर प्रर्वतकों के प्रयास और बुद्धिमता पर बुरा असर पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप, उपक्रम में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। प्रतिष्ठान की स्थिति प्लाण्ट की सफलता या असफलता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यदि स्थिति का चुनाव उचित व सही नहीं है तो प्रतिष्ठान की स्थापना मशीनरी, कारखाना भवन, में विनियोजित पूँजी बर्बाद हो जाती हैं और कारखाने के मालिक को एक बड़ी हानि उठानी पड़ती है। इसी तरह इसके एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण की लागत बहुत बड़ी होती है जो ऐसी समस्या उत्पन्न करती है जिसका समाधान सरलतापूर्वक नही हो सकता है। इसलिए, साइट के चुनाव करते समय स्वामी को तकनीकी, वाणिज्यिक, सार्वजनिक और वित्तीय पहलुओं पर विचार अवश्य कर लेना चाहिये, तभी एक अनुकूलतम व अधिकतम लाभ देने वाले साइट का चुनाव हो सकता है।

5.4 परियोजना स्थानीकरण चुनाव के चरण (Steps in Selecting Project Location)

Bethel, Atwater और Smith के अनुसार परियोजना की स्थिति के चार चरण हैं -

1. क्षेत्र विशेष का चुनाव
2. समुदाय या अवस्थिति का चुनाव
3. बिल्कुल सही एवं उपयुक्त साइट का चुनाव और
4. अनुकूलतम साइट का चुनाव

कभी-कभी परियोजना की साइट प्रवर्तकों के चुनाव के द्वारा नहीं बल्कि सरकार की लाइसेन्सिंग नियमों के द्वारा निश्चित की जाती है। चूँकि, उपक्रम की स्थिति बहुत हद तक उपक्रम की वाणिज्यिक सफलता के लिए आवश्यक होती है, अतः मूल्यांकनकर्ता निम्नलिखित तत्वों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर स्थिति का निर्धारण करते हैं- जैसे - कच्चे माल की उपलब्धता, शक्ति, श्रम, ईधन, यातायात, बाजार और अन्य ढांचागत सुविधायें आदि। मनोरंजन की सुविधायें, घर एवं शिक्षा की सुविधाओं की उपलब्धता भी अति आवश्यक है। विशेषकर, यदि कुशल व प्रशिक्षित व्यक्ति कार्य पर लाये जाते हैं। कुछ विशेष परियोजना में जिसमें नवीनतम तकनीक की आवश्यकता पड़ती है तो शोध व परीक्षण की सुविधायें भी आवश्यक होती हैं। पानी व बिजली की उपलब्धता उन परियोजनाओं के लिए ज्यादा जरूरी होती है जिनमें पानी व बिजली की खपत अधिक होती है, अतः शक्ति प्रधान इकाई बिजली की कमी वाले क्षेत्रों में नहीं लगाई जानी चाहिए। इसी प्रकार, यदि निर्यात प्रधान परियोजना है तो बन्दरगाह के नजदीक की स्थिति काफी लाभप्रद मानी जाती हैं ।

एक परियोजना का उत्पादन चैनल इस प्रकार होता है -

Location →Layout→ Optimum size→ Planning → Product Mix

5.5 परियोजना की स्थानीकरण को प्रभावित करने वाले घटक (Factors Affecting the location of Projects)

मुख्यतया दो प्रकार के मापक हैं जो परियोजना की स्थिति को प्रभावित करते हैं-

5.5.1 सकारात्मक मापक (Positive Measures)

यह मापक एक निश्चित क्षेत्र के विकास को प्रोत्साहित करते हैं। ये उद्योगों को कई प्रकार की सुविधायें प्रदान करते हैं। औद्योगिक स्टेट्स (Industrial Estates) की स्थापना और निर्यात प्रोत्साहन जोन की स्थापना तकनीकी क्षेत्र के विकास हेतु अपनायी जाती है, जिससे क्षेत्र का विकास तेजी से होता है।

5.5.2 नकारात्मक मापक (Negative Measures)

नकारात्मक मापक का प्रयोग प्राधिकारियों द्वारा किसी निश्चित क्षेत्र में परियोजना

की स्थापना को रोकना है। यह मापक एक निश्चित क्षेत्र में परियोजना की स्थिति पर प्रतिबन्ध लगाती है।

विशेषज्ञों के अनुसार दोनों प्रकार के मापक प्रभावशाली परियोजना नीति के लिए आवश्यक होते हैं। दूसरे शब्दों में, देश में परियोजना इकाई के लिए उपलब्ध संसाधन सीमित होते हैं। अतः यदि आवश्यकता से अधिक संसाधन एक क्षेत्र में परियोजना में विनियोजित किये जाते हैं तो देश के कुछ क्षेत्रों में परियोजना में विनियोजित किये जाने वाले संसाधनों की कमी हो जायेगी।

5.6 औद्योगिक स्थानीकरण का वेबर का सिद्धान्त (Weber's Theory of Industrial Location)

वेबर का यह सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है -

(1) उद्योगों के द्वारा प्रयोग किये जाने वाले पदार्थों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, हर जगह उपलब्ध रहने वाले पदार्थ - ये वे पदार्थ है जो प्रत्येक स्थान पर पाये जाते हैं। जैसे - मिट्टी, पानी और ईंट। दूसरे प्रकार के पदार्थ वे होते हैं जो केवल एक निश्चित जगह पर ही पाये जाते हैं जैसे - खनिज पदार्थ, ईधन इत्यादि। ये पदार्थ पुनः दो भागों में बाँटे जा सकते हैं :-

(अ) सकल पदार्थ या वजन कम होने वाले पदार्थ -

ये ऐसे पदार्थ हैं जिसका निर्माण प्रक्रिया में वजन निरन्तर घटता रहता है। जैसे कोयला और अन्य खनिज पदार्थ ।

(ब) शुद्ध पदार्थ (Pure Materials)

इनका वजन निर्माण प्रक्रिया में स्थिर रहता है, जैसे - कॉटन और ऊन।

(2) उपभोग के स्थान का आकार व परिस्थिति बाजार के अलग-अलग बिन्दुओं के साथ दिया हुआ है।

(3) निश्चित स्थायी श्रम स्थितियाँ विद्यमान हैं और श्रम परिवर्तनशील है।

मजदूरी की दर बदल सकती हैं किन्तु श्रम की आपूर्ति एक दिये गये मजदूरी दर पर असीमित बनी रहती है।

वेबर का सिद्धान्त औद्योगिक स्थानीकरण को प्रभावित करने वाले घटकों को दो भागों में बाँटता है -

(1) परिवहन व श्रम लागत के सामान्य क्षेत्रीय घटक- ये सामान्य क्षेत्रीय घटक औद्योगिक स्थानीकरण को प्रभावित करने वाले प्रारम्भिक घटक माने जाते हैं।

(2) स्थानीय घटक - इन्हें द्वितीयक घटक माना जाता है जो उद्योगों के पुर्नवितरण के लिए उत्तरदायी होते हैं।

उद्योगों का स्थानीकरण उपर्युक्त दो घटकों से प्रभावित होती हैं :

वेबर के सिद्धान्त की निम्नलिखित सीमायें हैं :

(1) यह सिद्धान्त श्रम आपूर्ति की तीन गलत मान्यताओं पर आधारित हैं।

(2) परिवहन लागत माल की लागत और परिवहन के प्रकार पर निर्भर करती है।

(3) बाजार की स्थिति और आकार अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के साथ बदल सकता है।

(4) गैर-आर्थिक घटक उद्योगों के स्थानीकरण पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं।

(5) यह सिद्धान्त औद्योगीकरण में उद्यमशीलता और पूँजी की भूमिका को उपेक्षित करता है।

(6) पदार्थ का वर्गीकरण उचित नहीं है।

5.7 स्थान के चुनाव में महत्वपूर्ण घटक (The Important Factors in the Selection of a Site)

महत्वपूर्ण घटक जो एक स्थान के चुनाव में ध्यान में रखना चाहिए, निम्नलिखित हैं :

5.7.1 कच्चे माल की उपलब्धता (Availability of Raw Materials)

स्थान के क्षेत्र में दोनों प्रकार के श्रमिक हर समय उपलब्ध होने चाहिए क्योंकि ये श्रमिक दूसरे क्षेत्रों से मंगाये जाने पर काफी मंहगे पड़ते हैं।

5.7.3 जलवायु की उपयुक्तता (Suitability of Climate)

लघु स्तर की इकाइयों को अपने स्थान के क्षेत्र की जलवायु की उपयुक्तता को भी ध्यान में रखना होता है क्योंकि जलवायु उत्पाद की गुणवत्ता पर प्रभाव डालती हैं।

5.7.4 अनुचित समस्यायें (Nuisance Problems)

यदि इस तरह की कोई समस्या इकाई के साथ है जैसे - धुआँ, शोर-गुल या प्रदूषण तो इसके नियन्त्रण हेतु आवश्यक कदम अवश्य उठाना चाहिए।

5.7.5 बाजार की उपलब्धता (Availability of Market)

उत्पादन बाजार के लिए किया जाता है। अतः लघु स्तर के उद्योग के स्थानीकरण को बाजार की, माल की, बिजली की और श्रम की उपलब्धता से निर्धारित करना चाहिए।

5.7.6 सस्ते शक्ति के साधनों की उपलब्धता (Availability of the source of cheap power)

स्थान के क्षेत्र में सस्ते दर पर बिजली शक्ति की उपलब्धता, मीठा जल और सीवर सुविधायें, पर्याप्त मात्रा में रहनी चाहिए। बिजली शक्ति की अनुपलब्धता परियोजना के समाप्त होने का मुख्य कारण होती है।

5.7.7 परिवहन सुविधाओं की उपलब्धता (Availability of Transport Facilities)

परिवहन लागत हमेशा स्थान के चुनाव में महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। अतः उचित लागत पर परिवहन सुविधायें उस क्षेत्र में उपलब्ध होना चाहिए।

उपर्युक्त मुख्य घटकों के अतिरिक्त निम्नलिखित महत्वपूर्ण विशेषताओं पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए ।

(1) स्थानीय भूगोल (Topograpphy)

इसके अन्तर्गत समतल, ऊँची-नीची भूमि, समुद्र, झील, नदियों का क्षेत्र और समुद्र तट से ऊँचाई आती है।

(2) करों में छूट और अन्य प्रोत्साहन।

(3) बाह्य विनियोगकर्ताओं व निर्माणी क्रियाओं के प्रति सामुदायिक दिशा निर्देश और प्रवृत्ति।

(4) प्रबन्ध और श्रम के लिए उपलब्ध जीवन स्तर।

(5) स्थानीय व नगर पालिका के नियम व कानून जिसमें इकाई की स्थापना, हवा और मानक प्रदूषण और अन्य घटक आते हैं।

(6) श्रमिकों, कर्मचारियों हेतु मकान की सुविधा।

(7) स्थानीय परिवहन से प्लाण्ट की दूरी, रेलवे से दूरी या हाईवे से दूरी।

(8) रद्दी या कचरा की निष्पादन विधि।

(9) मिट्टी की दशायें।

(10) जल की अबाध आपूर्ति ।

उपयुर्क्त घटकों पर स्थानीकरण (Location) के बारे में विचार करने के बाद परियोजना के उचित स्थान का चुनाव महत्वपूर्ण होता है। स्थान के चुनाव में निम्न घटकों को ध्यान में रखना चाहिए।

1. मृदा परीक्षण
2. साईट विकास की सीमा
3 जलवायु की अवस्थायें, जैसे - आद्रता, वर्षा, गर्मी, जाड़े का स्तर
4. प्राकृतिक खनिज पदार्थ की उपलब्धता

5. प्राकृतिक व ढाँचागत अवरोध
6. पट्टे पर उपलब्ध भूमि या फ्रीहोल्ड भूमि की उपलब्धता ।

5.8 संगठन का चुनाव (Choice of Organisation)

5.8.1 प्रस्तावना

एक सही प्रकार के संगठन का चुनाव व्यावसायिक प्रतिष्ठान की सफलता के लिए अति-आवश्यक है। प्रत्येक उद्यमी को प्रथम स्तर पर ही संगठन के प्रकार का निर्धारण करना पड़ता है। यह उद्यमशीलता का एक महत्वपूर्ण निर्णय होता है। संगठन के प्रकार का यह चुनाव बहुत कुछ सीमा तक सामाजिक, सांस्कृतिक मानकों और औद्योगिक वातावरण पर निर्भर करता है। उपयुक्त संगठन के चुनाव को निम्नलिखित घटक प्रभावित करते हैं :

1. व्यावसायिक प्रकार सेवा, व्यापार और निर्माण,
2. उद्योग का चुनाव और उसके संचालन का क्षेत्र,
3. व्यवसाय संचालन का क्षेत्र, व्यवसाय की मात्रा, बाजार का आकार और उसका विकास।
4. आवश्यक पूँजी की धनराशि-प्रारम्भिक पूँजी व कार्यशील पूँजी
5. जोखिम का प्रकार व आकार
6. निगम कर के लाभ
7. उपक्रम की निरन्तरता
8. प्रत्यक्ष नियन्त्रण का स्तर
9. सरकारी नियमों से स्वतंत्रता
10. बाजार से संसाधनों को प्राप्त करने की सम्भावना- वित्तीय संस्थाओं से सब्सिडी और अन्य प्रोत्साहन।

उपर्युक्त सभी घटक मुख्य घटक हैं जो उपयुक्त संगठन के प्रकार के चुनाव को प्रभावित करेंगे।

5.8.2 स्वामित्व संगठन के प्रकार (Forms of An ownership organisation)

लघु औद्योगिक इकाई, बहुत कुछ सीमा तक, ऐसे व्यक्तियों के द्वारा प्रारम्भ की जाती है जो मूल्य-स्वतन्त्रता और अपने प्रयास, शोध, तकनीकी ज्ञान और व्यावसायिक

अनुभव का उच्चतम पुरस्कार प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। जैसा कि निहाल सिंह ने अवलोकन किया है। "The owner of a small industry values his undertaking for the job it provides him as well as for any return it may make on his invested capital."

स्वामित्व संगठन के मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं -

5.8.2.1 एकल स्वामित्व

5.8.2.2 साझेदारी फर्म

5.8.2.3 सहकारी समिति और

5.8.2.4 संयुक्त स्कन्ध कम्पनी

उपर्युक्त का विवरण निम्न है -

5.8.2.1 एकल स्वामित्व (Sole Proprietorship)

William R. Basset opines that "The one-man control is the best in the world if that man is big enough to manage everything."

एकल स्वामित्व का प्रारूप भारत में सबसे पुराना है। इस प्रारूप में उपक्रम का स्वामित्व व नियन्त्रण एक ही व्यक्ति के हाथ होता है। वह पूरे व्यापार का स्वामी होता है। वह व्यापार में अपने प्रयत्नों को बोता, उगाता और खेती करता है। वह अपने व्यवसाय का प्रबन्ध स्वयं करता है। यदि जरूरी होता है तो वह अपने परिवार के सदस्यों, सम्बन्धियों और कर्मचारियों की सहायता लेता है।

एकल स्वामित्व के प्रारूप को बनाना अत्यन्त सरल होता है क्योंकि इसकी स्थापना व संचालन में कानूनी प्रावधान की आवश्यकता नहीं होती है। एकल स्वामित्व की विशेषताएं हैं - एकल स्वामित्व एक व्यक्ति का नियन्त्रण, असीमित जोखिम, फर्म का अलग अस्तित्व न होना और सरकारी विशिष्ट कानूनों की जरूरत नहीं।

दूसरे शब्दों में, "Sole proprietorship is a form of business organization in which an individual invests his own capital, uses his own skill and intelligence in the management of its affairs and is solely responsible for the results of its operation."

लाभ (Advantages) :

इस प्रारूप के निम्न लाभ हैं -

(1) संगठन का सरल प्रारूप - यह व्यवसायिक संगठन का सरलतम प्रारूप है। लाइसेन्स व परमिट प्राप्त करने के बाद उद्यमी व्यापार प्रारम्भ कर सकता है।

(2) निर्णय लेने में स्वामी की स्वतंत्रता - यह स्वतंत्रता उद्यमी को प्राप्त रहती है। इस प्रकार व्यापार के कुल लाभ को वह प्राप्त करता है।

(3) उच्च गोपनीयता - एकल स्वामित्व में उच्च स्तर की गोपनीयता बनी रहती है। ऐसा इसीलिए सम्भव हो पाता है क्योंकि पूरा व्यवसाय स्वामी के द्वारा स्वयं संचालित किया जाता है।

(4) कर लाभ - एकल स्वामित्व में कर केवल वर्ष में एक बार लगता है जबकि अन्य व्यावसायिक संगठन प्रारूप में दोहरा करारोपण होता है अर्थात संस्था और स्वामी दोनों पर कर लगता है।

(5) आसान समापन - व्यवसाय की स्थापना व समापन की पूरी जिम्मेदारी स्वामी पर होती है क्योंकि वही व्यवसाय का एकमेव स्वामी होता है।

(6) ग्राहकों से प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहना - प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहने के कारण वह ग्राहकों की रूचि व इच्छा और आवश्यकताओं को भली-भाँति समझता है।

(7) सामाजिक लाभ - समाज के लोगों को रोजगार के अवसर प्रदान करना। उन्हें जीविकोपार्जन का साधन प्रदान करना । समाज के लोगों को नये-नये उत्पाद देना इत्यादि ।

सीमायें (Limitation)

एकल स्वामित्व की निम्नलिखित सीमायें हैं -

(1) सीमित आर्थिक संसाधन - इस व्यवसाय के लिए उपलब्ध पूँजी बहुत सीमित होती है। एक व्यक्ति असीमित आर्थिक संसाधन की व्यवस्था नहीं कर सकता है। वह बाजार से, मित्रों से और सम्बन्धियों से सीमित मात्रा में ही धन ऋण के रूप में प्राप्त कर सकता है।

(2) सीमित प्रबन्धकीय योग्यता - एक व्यक्ति प्रबन्ध के हर क्षेत्र के बारे में योग्यता नहीं रख सकता है। आज जबकि प्रबन्ध का विशिष्टीकरण हो गया है और व्यवसाय अधिक से अधिक उलझनपूर्ण हो गया है कोई भी असीमित योग्यता वाला नहीं हो सकता है।

(3) असीमित दायित्व - एकल व्यवसायी का दायित्व असीमित होता है अर्थात व्यापार में लगाई गई पूँजी से लेकर उसकी व्यक्तिगत सम्पत्तियाँ भी व्यापारिक लेनदारों के लिए उपलब्ध होती हैं।

(4) व्यावसायिक निरन्तरता में कमी - एकल व्यवसाय में निरन्तरता की कमी होती है । व्यावसायिक मृत्यु दर काफी ऊँची होती है। यदि व्यवसायी बीमार पड़ता है

या दूर जाता है तो व्यवसाय समाप्त होने लगता हैं

उपर्युक्त सीमाओं के बाद भी व्यवसायिक जगत में यह प्रारूप अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुये हैं । विकसित राष्ट्रों व विकासशील राष्ट्रों में यह प्रारूप महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

5.8.2.2 साझेदारी फर्म (Partnership Firm)

भारतवर्ष में, इस प्रकार की साझेदारी फर्में भारतीय साझेदारी अधिनियम 1932 के द्वारा संचालित होती हैं। इस अधिनियम की धारा 4 के अनुसार, "Partnership is the relation between persons who have agreed to share profits of a business carried on by all or any of them acting for all."

इस तरह जो व्यक्ति फर्म में शामिल होते है, उन्हें सामूहिक रूप में फर्म कहा जाता है। किन्तु व्यक्तिगत रूप से उन्हें साझेदार कहा जाता है।

यू.एस.ए. युनिफार्म साझेदारी अधिनियम के अनुसार, "Partnership is an association of two or more persons to carry on as co-owners a business for profit."

मुख्य विशेषतायें -

(1) अधिक व्यक्तियों की संख्या -

बैंकिंग व्यवसाय की स्थिति में अधिकतम 10 व्यक्ति और गैर-बैंकिंग व्यवसाय में अधिकतम 20 व्यक्ति और न्यूनतम 2 व्यक्ति किसी साझेदारी फर्म में हो सकते हैं।

(2) लाभ-हानि का बटवारा -

साझेदारों में लाभ व हानि को आपस में बॅंटवारा करने का समझौता होता है।

(3) अनुबन्धीय सम्बन्ध -

साझेदारी फर्म का निर्माण साझेदारों के लिखित अथवा मौखिक आपसी समझौते के आधार पर होता है।

(4) वैधानिक व्यवसाय की विद्यमानता -

साझेदारी फर्म का निर्माण कुछ कानूनी व्यवसाय को करने के लिए किया जाता है।

(5) विश्वास व ईमानदारी का सम्बन्ध -

साझेदारी का व्यवसाय साझेदारों के पारस्परिक विश्वास व ईमानदारी के सम्बन्ध पर आधारित है।

(6) असीमित दायित्व -

फर्म में सभी साझेदारों का असीमित व संयुक्त दायित्व होता है।

(7) अंश हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध -

कोई भी साझेदार फर्म में अपने हिस्से को किसी तृतीय बाहरी व्यक्ति को हस्तान्तरित नहीं कर सकता जब तक कि अन्य साझेदारों की सहमति न हो।

(8) प्रधान अभिकर्ता सम्बन्ध -

एक साझेदार, फर्म और अन्य साझेदारों का एजेण्ट होता है। अतः उनके बीच में प्रधान अभिकर्ता का सम्बन्ध होता है।

लाभ -

इसके निम्नलिखित लाभ हैं।

(1) सरल निर्माण - साझेदारी फर्म को चलाने का साझेदारों के बीच एक अनुबन्ध है। कुछ कानूनी जरूरतें अवश्य पूरी करनी पड़ती है।

(2) अधिक मात्रा में पूँजी की उपलब्धता - फर्म में एक से अधिक व्यक्ति अपनी पूँजी लगाते हैं। अतः अधिक मात्रा में पूँजी की उपलब्धता हो जाती है।

(3) संयुक्त निर्णय, कुशलता व चातुर्य - एक से अधिक साझेदार फर्म में सामूहिक निर्णय लेते हैं। विशेषतया, हर एक साझेदार किसी न किसी विशेष क्षेत्र में कुशल होते हैं व चातुर्य रखते हैं। अतः "Two heads are better than one" का लाभ फर्म को मिलता है।

(4) जोखिम का वितरण - फर्म के हानि व जोखिम को अपने लाभ-हानि अनुपात में सभी साझेदारों द्वारा सहन किया जाता है।

(5) परिवर्तनशीलता - साझेदारी व्यवसाय में परिवर्तनशीलता का भी लाभ पाया जाता है। साझेदार बदली हुई परिस्थितियों में अपनी प्रक्रिया व अनुभव आपस में बाँटते रहते हैं।

(6) कर लाभ - फर्म पर करों की दर एकल स्वामित्व व कम्पनी स्वामित्व पर कर की दरों से कम होती है।

हानियाँ -

इसकी निम्नलिखित हानियाँ भी हैं -

(1) असीमित दायित्व - साझेदारों का दायित्व असीमित होता है। साझेदार की व्यक्तिगत सम्पत्तियाँ भी व्यवसाय के दायित्वों के भुगतान में प्रयोग की जा सकती हैं।

(2) सीमित योग्यता - साझेदारों की योग्यता हर क्षेत्र में सीमित ही रहती है। साझेदार बनने हेतु किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती है।

(3) सीमित संसाधन - साझेदार धनवान हो सकते हैं किन्तु फर्म में पूँजी लगाने की उनकी क्षमता सीमित होती है और आधुनिक औद्योगिक इकाई में अधिक संसाधनों की आवश्यकता होती है।

(4) अस्थिरता - फर्म की स्थिरता व्यवसाय के अन्य प्रारूपों से कम होती है। ऐसा कहा जाता है कि प्रत्येक साझेदारी का अन्त झगड़ों से होता है।

(5) निरन्तरता की कमी - मृत्यु या किसी साझेदार के अवकाश लेने के कारण साझेदारी में निरन्तरता का अभाव पाया जाता है। अतः अनिश्चितता बनी रहती है।

5.8.2.3 सहकारी समिति

व्यवसाय का यह प्रारूप परस्पर सहायता व स्वयं सहायता के मनोविज्ञान पर आधारित है। इस प्रारूप का मुख्य उद्देश्य सेवा करना है, लाभ कमाना नहीं।

The Indian Cooperative Societies Act, 1912, के अनुसार A Cooperative Society has the objective of promotion of economic interests of its members in accordance with cooperative principles.

सहकारी समिति एक स्वैच्छिक संगठन है जो आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों द्वारा अपने पैर पर खड़े होने के लिए बनाई जाती है। ये एक साथ लाभ कमाने हेतु नहीं बल्कि अपने व्यवसायिक दशाओं और आर्थिक सामूहिक हितों के लिए सोसाइटी का गठन करते हैं।

एक सहकारी समिति का पंजीयन, राज्य के सहकारी समिति पंजीकार के यहाँ करना होता है। न्यूनतम 10 सदस्य और अधिकतम सदस्यों की कोई सीमा नहीं है। सदस्य स्वयं में मालिक होते हैं। वे संगठन में अपनी पूँजी लगाते हैं और लाभांश पाते हैं। सदस्यों का दायित्व सीमित होता हैं वार्षिक साधारण सभा में प्रबन्ध समिति का चुनाव सदस्यों द्वारा किया जाता है जो समिति के सभी कार्यों को देखते हैं।

मुख्य विशेषताएँ

(1) स्वैच्छिक संगठन - यह एक स्वैच्छिक संगठन है जिसमें सामूहिक उद्देश्य से इच्छुक व्यक्ति सदस्य होते हैं। वे अपनी इच्छा से सदस्य बन सकते हैं और त्याग पत्र दे सकते हैं और त्याग पत्र दे सकते हैं।

(2) प्रजातान्त्रिक प्रबन्ध - संस्था का प्रबन्ध सदस्यों द्वारा चुनी हुई प्रबन्ध समिति के द्वारा जिसमें एक सदस्य को एक वोट देने का अधिकार होता है, के द्वारा किया जाता है, चाहे सदस्यों ने कितना ही शेयर खरीदा हो। अतः प्रजातान्त्रिक प्रबन्ध इस प्रारूप का

मुख्य आधार है।

(3) सेवा से प्रेरित - इस प्रारूप का प्रारम्भिक उद्देश्य सदस्यों की सेवा करना है न कि लाभ कमाना।

(4) पूँजी और प्रत्याय सिद्धान्त - अंश पूँजी के रूप में पूँजी इसके सदस्यों से प्राप्त की जाती है। एक सदस्य कुल अंश पूूँजी का 10 प्रतिशत या रू. 1000/- जो भी ज्यादा हो तक पूँजी संस्था में लगा सकता है। अंश किसी को भी हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता है किन्तु संस्था में समर्पण किया जा सकता है। लाभांश की दर 9 प्रतिशत निर्धारित है।

(5) सरकारी नियन्त्रण - भारतवर्ष में इस प्रारूप का नियन्त्रण कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट और स्टेट कोआपरेटिव सोसाइटीज एक्ट के द्वारा होता है। रजिस्ट्रार ऑफ कोआपरेटिव के समक्ष ये संस्था अपना खाता और रिपोर्ट प्रस्तुत करती है।

(6) आधिक्य का वितरण - सदस्यों को लाभांश देने के बाद लाभ के आधिक्य को यदि कोई हो, सदस्यों में सदस्यों द्वारा किये गये संस्था के साथ स्यवसाय के अनुपात में वितरित कर दिया जाता है।

लाभ -

इस प्रारूप से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं -

(1) सरल स्थापना - कोई दस सदस्य मिल कर इस संगठन का निर्माण कर सकते हैं। कोआपरेटिव सोसाइटी में रजिस्ट्रेशन करा सकते हैं कोई लम्बी कानूनी प्रक्रिया का पालन नहीं करना पड़ता है।

(2) प्रजातान्त्रिक प्रबन्ध व्यवस्था - इसका प्रबन्ध प्रजातान्त्रिक होता है। अतः इसे प्रजातन्त्र के लाभ प्राप्त होते हैं।

(3) राज्य की सहायता - राज्य सरकार ऐसी संस्थाओं को काफी मात्रा में अनुदान, ऋण और वित्तीय सहायता उपलब्ध कराती है।

(4) कर लाभ - एक निश्चित सीमा तक यह संस्था अपने आय पर आयकर व सरचार्ज से मुक्त होती है। स्टाम्प डयूटी व रजिस्ट्रेशन फीस से भी यह संस्था मुक्त होती है।

(5) खुली सदस्यता - कोआपरेटिव सोसाइटी की खुली सदस्यता होती है। जाति, सम्प्रदाय, रंगभेद और आर्थिक स्तर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(6) सामाजिक सेवा - इस संस्था का दर्शन स्वयं सहायता व परस्पर सहायता करना है। अतः सामाजिक सेवा को बढ़ावा मिलता है।

(7) अलग वैधानिक अस्तित्व - इस संस्था का अपना अलग वैधानिक अस्तित्व

होता है। अतः सदस्यों की मृत्यु, अवकाश ग्रहण या दिवालिया होने पर संस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

(8) सीमित दायित्व - सदस्यों का दायित्व उनके द्वारा संख्या में लिये गये अंश तक ही सीमित होता हैं ।

दोष -

उपर्युक्त लाभों के बाद भी, कोआपरेटिव सोसाइटी के कुछ महत्वपूर्ण दोष भी हैं। जिनका अध्ययन संगठन के प्रारूप के चुनाव के समय गम्भीरतापूर्वक कर लेना चाहिए। ये दोष निम्नलिखित हैं -

(1) गोपनीयता का अभाव - इस संस्था को अपना वार्षिक लेखा-जोखा और रिपोर्ट रजिस्ट्रार ऑफ कोआपरेटिव सोसाइटीज के पास प्रेषित करना होता है। अतः व्यावसायिक गतिविधियों की गोपनीयता भंग हो जाती है।

(2) रूचि का अभाव - कोआपरेटिव सोसाइटी के वैतनिक अधिकारी गैर-लाभ संस्था होने के कारण इसके काम-काज में रूचि नहीं लेते हैं अतः इस संस्था में धीरे-धीरे अकर्मण्यता आ जाती है।

(3) भ्रष्टाचार - संस्था में लाभ प्रेरणा की कमी के कारण, भ्रष्टाचार और लूट का बोलबाला हो जाता है। परिणामतः अधिकारियों द्वारा अपने व्यक्तिगत हित के लिए कोषों का गबन किया जाता है।

(4) परस्पर हितों का अभाव -इस संस्था की सफलता अधिकांश सदस्यों के आपसी विश्वास पर निर्भर करती है, जबकि बहुत से सदस्य एक- दूसरे के प्रति सहयोग व विश्वास की भावना नहीं रखते हैं।

5.8.2.4 संयुक्त स्टाक कम्पनी

कम्पनी का अर्थ (Meaning of Company)

'कम्पनी' शब्द लैटिन भाषा से लिया गया जिसमें 'Com' का आशय 'साथ-साथ' और 'Panis' का आशय 'रोटी' से है। आजकल कम्पनी का आशय ऐसे संघ से है जिसमें संयुक्त पूँजी होती है।

न्यायाधीशों के अनुसार कम्पनी का अर्थ

न्यायाधीश जेम्स के अनुसार, ''कम्पनी का आशय सामान्य उद्देश्य से संगठित व्यक्तियों के संघ से है।'' यह परिभाषा बहुत व्यापक है क्योंकि इसके अन्तर्गत हिन्दू अविभक्त परिवार (HUF) का व्यापार, संसद के अधिनियम द्वारा सृजित निगम एवं अनेक संस्थाएं भी आ जाती हैं।

लॉर्ड लिण्डले के अनुसार, ''कम्पनी ऐसे अनेक व्यक्तियों का संघ है जो संयुक्त

पूँजी में अपने धन या किसी अन्य सम्पत्ति का अंशदान करते हैं और किसी व्यापार या कारोबार में लगाते हैं और जो उसमें होने वाले लाभ और हानि का बंटवारा करते हैं। इस प्रकार एकत्रित संयुक्त पूंजी को धन में प्रकट किया जाता है और यही कम्पनी की पूँजी होती है। जो व्यक्ति इसमें अंशदान करते हैं, कम्पनी के सदस्य होते हैं। पूंजी का वह अनुपात जिसका प्रत्येक सदस्य अधिकारी होता है, उसका अंश कहलाता है।''

धारा 390 (क) के अनुसार, ''कम्पनी का तात्पर्य ऐसी कम्पनी से है जो इस अधिनियम के अन्तर्गत समापन योग्य है।''

कम्पनी एक वैधानिक व्यक्ति है जिसका निर्माण एवं पंजीयन कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत किसी विशेष उद्देश्य से होता है, जिसका दायित्व साधारणतः सीमित और अस्तित्व उसके सदस्यों से अलग होता है तथा इसकी एक सामान्य मुद्रा होती है।

विशेषताएँ -

कम्पनी की निम्नलिखित विशेषताएं हैं -

(1) विधान द्वारा निर्मित कृत्रिम व्यक्ति - कम्पनी का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण उसका विधिक अस्तित्व है।

प्रो0 गॉवर के अनुसार निगमित व्यक्तित्व का मुख्य लक्षण उसका विधिक अस्तित्व है जो उसके सदस्यों से पूर्णतः भिन्न है। अतः यह एक कृत्रिम व्यक्ति है न कि प्राकृतिक व्यक्ति या मानव व्यक्तित्व।

लॉर्ड मैकनाटन के अनुसार, कम्पनी कानून की दृष्टि में अपने सदस्यों से बिल्कुल अलग है और यह हो सकता है कि निगमन के बाद भी कम्पनी वही व्यापार करती रहे जो निगमन के पहले किया जाता है और यह भी हो सकता है कि इसके संचालक भी वही हों व इसका लाभ भी उन्हीं व्यक्तियों द्वारा प्राप्त किया जाता हो जिनके द्वारा निगमन से पहले प्राप्त किया जाता था। कानून की दृष्टि में कम्पनी सदस्यों की एजेण्ट या प्रन्यासी नहीं है।

(2) पृथक वैधानिक अस्तित्व (Separate Legal Entity) -कम्पनी का स्वयं एक वैधानिक अस्तित्व होता है जिसके कारण कम्पनी अपने सदस्यों से अलग होती है। सदस्य व कम्पनी एक ही नहीं होते, जैसा कि साझेदारी व साझेदार एक ही माने जाते हैं। अतः कम्पनी द्वारा कोई दावा किया जाये या कम्पनी पर कोई दावा किया जाये तो, इसे कम्पनी के सदस्यों द्वारा या कम्पनी के सदस्यों पर चलाया हुआ दावा नहीं समझा जायेगा। कम्पनी की सम्पत्ति अंशधारियों की सम्पत्ति से भिन्न होती है। कम्पनी की आय और लाभ अंशधारियों के आय और लाभ से भिन्न होता है। कम्पनी के सदस्य व्यक्तिगत तौर पर लाभों के हकदार नहीं होते और कम्पनी द्वारा उत्पन्न दायित्वों एवं प्रभारों के लिए

उत्तरदायी नहीं होते।

(3) सामान्य मुद्रा (Common Seal) - कम्पनी का कोई शरीर नहीं होता है इसलिए यह प्राकृतिक व्यक्ति की तरह हस्ताक्षर नहीं कर सकती इसलिए कम्पनी अधिनियम द्वारा कम्पनी को सामान्य मुद्रा रखने का अधिकार दिया गया है जो उसके हस्ताक्षर का कार्य करती है।

(4) शाश्वत उत्तराधिकार (Perpetual Succession) - कम्पनी का जीवन उनके सदस्यों के जीवन पर निर्भर नहीं करता है। सदस्यों के मर जाने पर या उसके द्वारा अपने अंशों को बेचने पर नये अंशधारी बन जाते हैं। सदस्यों में कोई भी परिवर्तन हो, कम्पनी का जीवन समाप्त नहीं होता और वह स्थायी रूप से कार्य करती रहती है।

(5) कार्यक्षेत्र की सीमाएं (Limitations of Action) - एक कम्पनी अपने पार्षद सीमानियम तथा पार्षद अन्तर्नियम के बाहर कार्य नहीं कर सकती है। इसका कार्यक्षेत्र कम्पनी अधिनियम तथा इसके सीमानियम व अन्तर्नियम द्वारा सीमित होता है।

(6) लाभ के लिए ऐच्छिक संघ (Voluntary Association for Profit) - प्रत्येक कम्पनी लाभ कमाने के लिए बनायी जाती है, परन्तु साथ-साथ सार्वजनिक हित का भी ध्यान रखा जाता है। कम्पनी अधिनियम के प्रावधानों का लाभकारी प्रभाव रहा है। राष्ट्र के आर्थिक स्वास्थ्य में वृद्धि के लिए कम्पनियों ने सराहनीय कार्य किया है। इन्होंने निवेशकों के साथ-साथ जनसाधारण को लाभ पहुँचाने के अतिरिक्त छोटी से छोटी धनराशि एकत्रित करके ऐसी बड़ी पूँजी में परिवर्तित किया जिसे सार्वजनिक हित के व्यवसायों एवं उद्यमों में लगाया गया जिससे देश में धन की बढ़ोत्तरी हुई। जो भी लाभ कम्पनी को प्राप्त होता है वह निश्चित नियमों के अनुसार अंशधारियों में बांट दिया जाता है कम्पनी एक ऐच्छिक संघ है, किसी को बलात् इसका अंशधारी नहीं बनाया जा सकता है।

(7) प्रतिनिधि प्रबन्ध - एकाकी व्यापार व साझेदारी के विपरीत एक कम्पनी का प्रबन्ध चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा किया जाता है। ये प्रतिनिधि संचालक होते हैं।

(8) कम्पनी का अन्त - एक कम्पनी का अन्त इसके समापन (Winding up) द्वारा किया जाता है। इसके समापन की विस्तृत परिस्थितियों तथा प्रक्रिया का वर्णन कम्पनी अधिनियम में है।

(9) दायित्व (Liability) - भारत में सीमित व असीमित दायित्व वाली दोनों प्रकार की कम्पनियाँ हो सकती है, परन्तु सीमित दायित्व वाली कम्पनियां ही अधिकतर पायी जाती हैं।

(10) अभियोग चलाना - एक कम्पनी की सारी कार्यवाही कम्पनी के नाम में ही

होती है। जैसे यदि किसी पर अभियोग चलाना है तो यह कम्पनी के नाम से ही चलाया जाता है।

प्राइवेट कम्पनी

धारा 3(1) (iii) के अनुसार, प्राइवेट कम्पनी (इसे हिन्दी में अलोक कम्पनी या निजी कम्पनी भी कहा जा सकता है) का आशय एक ऐसी कम्पनी से है जो एक लाख रूपये की न्यूनतम पूँजी (Minimum Paid-up) या ऐसी उच्चतर समादत्त पूँजी जो विहित की जाए, रखती है और अपने अन्तर्नियमों द्वारा :

(क) अपने अंशों को, यदि कोई हों, अन्तरित करने का अधिकार निर्बन्धित करती है।

(ख) अपने सदस्यों की संख्या पचास तक सीमित रखती है, जिस संख्या के अन्तर्गतः

(i) वे व्यक्ति नहीं आते हैं जो कम्पनी के नियोजन में हैं, तथा

(ii) वे व्यक्ति नहीं आते हैं जो कम्पनी के नियोजन में पहले रहे थे, और जब वे उस नियोजन में थे तब कम्पनी के सदस्य थे और उस नियोजन के समाप्त होने के बाद भी सदस्य बने रहे हैं तथा,

(ग) यह बात प्रतिनिषिद्ध करती है कि उसके अंशों पत्रों या ऋणपत्रों का विक्रय करने के लिए जनसाधारण को आमन्त्रित किया जाए।

आलोक कम्पनी की विशेषताएँ

अधिनियम की धारा 3(1) (iii) में दी गई अलोक कम्पनी की परिभाषा से निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं :

(1) अंशों के हस्तान्तरण के अधिकार पर प्रतिबन्ध - एक अलोक कम्पनी में यदि कोई अंश पूँजी है तो इसके स्थानान्तरण के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

(2) सदस्यों की अधिकतम संख्या 50 होना - 50 की संख्या की गणना करते समय वे सदस्य शामिल नहीं किये जाते है जो कम्पनी के कर्मचारी हों।

(3) अंशों और ऋण पत्रों को लेने के लिए जनता को आमंत्रण देने का निषेध रहता है।

(4) पार्षद अन्तर्नियम में उल्लेख होना - आलोक कम्पनी के उक्त प्रतिबन्ध, सीमाएं एवं निषेध का इसके पार्षद अन्तर्नियम में लिखा जाना आवश्यक है।

लोक कम्पनी

धारा 3 (1) (iv) के अनुसार लोक (पब्लिक) कम्पनी से वह कम्पनी अभिप्रेत है जो-

(क) प्राइवेट कम्पनी नहीं है ;

ख) पाँच लाख रूपये की न्यूनतम समादत्त पूँजी या ऐसी उच्चतर समादत्त पूँजी, जो विहित की जाए, रखती है;

(ग) एक प्राइवेट कम्पनी जो एक ऐसी कम्पनी का समनुषंगी है जो प्राइवेट कम्पनी नहीं है। दूसरे शब्दों में, एक प्राइवेट कम्पनी जो पब्लिक कम्पनी की समनुषंगी है उसे अधिनियम के प्रयोजनों के लिए पब्लिक कम्पनी समझा जाएगा।

विशेषताएँ -

निम्न विशेषताएँ हैं -

(1) अंशों के अन्तरण के अधिकार को प्रतिबन्धित नहीं करती है।

(2) सदस्य संख्या 50 तक सीमित नहीं करती है।

(3) अपने अंशों या ऋण पत्रों की बिक्री हेतु जनता को आमन्त्रित कर सकती है।

अलोक और लोक कम्पनी में अन्तर

क्र.सं.	अन्तर का आधार	अलोक कम्पनी	लोक कम्पनी
1.	सदस्यों की संख्या	इस कम्पनी में सदस्यों की न्यूनतम संख्या 2 तथा अधिकतम संख्या 50 है। इसमें कर्मचारी सदस्य शामिल नहीं है। (धारा 12(1))	इस कम्पनी में सदस्यों की न्यूनतम संख्या 7 है। अधिकतक संख्या के लिए कोई सीमा निर्धारित नही है। (धारा 12(1))
2.	जनता को निमंत्रण	अपने अंशों व ऋणपत्रों के लेने के लिए जनता को आमंत्रित नहीं कर सकती है।	अपने अंशों तथा ऋणपत्रों के लिए जनता को आमन्त्रित कर सकती है।
3.	व्यापार का आरम्भ	यह कम्पनी निगमन पत्र के प्राप्त करने के पश्चात ही अपना व्यापार आरम्भ कर सकती है। (धारा 149)	अंश पूंजी वाली गारण्टी कम्पनी अथवा अंशों द्वारा सीमित पब्लिक कम्पनी अपना व्यापार तब तक प्रारम्भ नहीं कर सकती है, जब तक इसे व्यापार प्रारम्भ करने का प्रमाण पत्र नहीं मिल जाता।

4.	अंशों का आवंटन	यह कम्पनी निगमन के बाद तुरन्त ही अंशों का आवंटन कर सकती है।	यह अंशों का आवंटन उस समय तक नहीं कर सकती है जब तक कि न्यूनतम (Minimum Subscrip tion)अभिदान राशि प्राप्त न हो जाय।
5-	वैधानिक सभा	वैधानिक सभा इस कम्पनी में नहीं की जाती है (धारा 165)	इस कम्पनी में वैधानिक सभा करना अत्यन्त आवश्यक है (धारा 165)
6.	विवरण पत्रिका तथा स्थानापन्न विवरण -पत्रिका	यह कम्पनी विवरण पत्रिका (Prospectus) तथा स्थानापन्न विवरण पत्रिका (Statement in lieu of prospectus) निर्गमित नहीं कर सकती।(धारा 70(3))	इसके लिए विवरण पत्रिका निर्गमित करना आवश्यक है। विवरण पत्रिका के अभाव में स्थनापन्न विवरण पत्रिका दाखिल करनी पड़ती है (धारा 70)
7.	अंशों का हस्तान्तरण	इस कम्पनी के अंशों (यदि कोई हों) के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध हैं (धारा 3(1) (iii))	इसके अंशों को हस्तान्तरित किया जा सकता है और इस हस्तान्तरण पर प्राइवेट कम्पनी की तरह प्रतिबन्ध नहीं है।
8.	संचालकों की संख्या	इसमें कम से कम दो संचालक अवश्य होते है (धारा 252)	इसमें कम से कम तीन संचालक अवश्य होने चाहिए। (धारा 252)
9.	संचालकों का पारी से अवकाश ग्रहण करना	इसमें पारी से अवकाश ग्रहण करना संचालकों के लिए आवश्यक है।	इस कम्पनी के दो तिहाई संचालक अवश्य ही पारी से अवकाश ग्रहण करते हैं। (धारा 255)

10.	पार्षद सीमानियम पर व्यक्तियों के हस्ताक्षर	इस कम्पनी के पार्षद सीमानियम पर कम से दो व्यक्तियों के हस्ताक्षर होना आवश्यक है।	इस कम्पनी के पार्षद सीमा-नियम पर कम से कम सात व्यक्तियों के हस्ताक्षर होना आवश्यक है।
11.	अन्तर्नियमों का बनाना	अंशों द्वारा सीमित प्राइवेट कम्पनी में पार्षद अन्र्त-नियम बनाना आवश्यक है (धारा 26)	अंशों द्वारा सीमित पब्लिक कम्पनी में पार्षद अन्तर्नियम बनाना आवश्यक नहीं है (धारा 26)
12.	शेयर वारण्ट	इस कम्पनी में वाहक शेयर वारण्ट (Bearer share warrant) निर्गमित नहीं किया जा सकता है।	इस कम्पनी में अंशों के पूर्णदत्त होने पर वाहक शेयर वारण्ट निर्गमित किया जा सकता है (धारा 144)
13.	'लिमिटेड' शब्द का प्रयोग	इस कम्पनी के नाम के अन्त में 'प्राइवेट लिमि-टेड शब्द लगाना आव-श्यक है।	इस कम्पनी के नाम के अन्त में केवल 'लिमिटेड' शब्द लगाना पड़ता है।
14.	संचालकों का ऋण	इस कम्पनी के संचालकों को ऋण देने के लिए केंद्रीय सरकार की पूर्व अनुमति नहीं ली जाती है	इसमें संचालकों को ऋण देने के लिए केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति लेना आवश्यक है।
15.	संचालकों का पारिश्रमिक	संचालकों के पारिश्रमिक से सम्बन्धित धारा 309 की व्यवस्थाएं इस कम्पनी पर लागू नहीं होती है। जब तक कि यह पब्लिक कम्पनी की सहायक कम्पनी न हो।	धारा 309 की व्यवस्थाएं इस कम्पनी पर लागू होती है।
16.	पूंजी का और निर्गमन	धारा 81 की पूंजी के और निर्गमन सम्बन्धी व्यवस्थाएं इस कम्पनी पर लागू नहीं होती हैं (धारा (3)(क))	धारा 81 की व्यवस्थाएं इस पर लागू होती है।

5.8.3 उपयुक्त स्वामित्व संगठन ढाँचे का चुनाव

सबसे अच्छा एवं उपयुक्त स्वामित्व संगठन का चुनाव करते समय, उद्यमियों को निम्नलिखित महत्वपूर्ण घटकों को ध्यान में अवश्य रखना चाहिए :-

(1) व्यवसाय का प्रकार सेवा, व्यापार या विनियोग कार्य

(2) संचालन का क्षेत्र, व्यवसाय की मात्रा और बाजार का क्षेत्रफल जिसमें माल बेचना है।

(3) स्वामी द्वारा प्रत्यक्ष प्रबन्ध व नियन्त्रण की अपनायी जाने वाली डिग्री।

(4) आवश्यक पूँजी की मात्रा।

(5) जोखिम का प्रकार व आकार।

(6) संगठन की क्रमबद्धता

(7) सरकारी नियमों से लागतों और प्रक्रिया सम्बन्धी स्वतन्त्रता

(8) प्रशासनिक सम्बद्धता

(9) तुलनात्मक कर लाभ की मात्रा।

उपर्युक्त घटकों को व्यवसाय के उपयुक्त संगठन के चुनाव के समय उद्यमी अपने ध्यान में अवश्य रखता हैं ।

5.9 सारांश

प्लाण्ट लोकेशन का निर्धारण एक महत्वपूर्ण विषय है क्योंकि प्लाण्ट की स्थिति का सही चुनाव करना एक वरदान से कम नहीं है। जब नवीन व्यवसाय प्रारम्भ किया जाता है या जब विद्यामान कारखाने के नवीनीकरण की आवश्कता होती है तो प्लाण्ट के स्थानीकरण का चुनाव आवश्यक होता है। इसमें परियोजना की संचालन लागत कम हो जाती है । स्थानीकरण का चुनाव इस प्रकार करना चाहिए कि प्राकृतिक, आर्थिक, सामाजिक, मानवीय संसाधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो। परियोजना के स्थानीकरण को दो घटक - सकारात्मक व नकारात्मक, प्रभावित करते हैं इस सम्बन्ध में औद्योगिक स्थानीकरण का वेबर सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। स्थानीकरण का सही चुनाव करने के बाद परियोजना की साइट का सही चुनाव महत्वपूर्ण होता है।

व्यावसायिक स्वामित्व संगठन के चार प्रमुख प्रारूप हैं- (1) एकल स्वामित्व (2) साझेदारी (3) सहकारी समिति (4) संयुक्त स्कन्ध कम्पनी। इन चारों के लाभ- हानि का तुलनात्मक अध्ययन करके सही व उपयुक्त संगठन ढांचे का चुनाव किया जाता है।

स्थानीकरण नीति (Location Policy) को आवश्यकता पड़ने पर संशोधित भी किया जाता है। जोनिंग एण्ड लैण्ड यूज रेगुलेशन एण्ड इनवायरमेण्टल लेजिसलेशन

(Zoning and Land Use Regulation and Environmental Legislation) भारत वर्ष में औद्योगिक स्थानीकरण को अपने कानून के द्वारा नियंत्रित करती है। अन्य बातों के अलावा उद्यमी को परियोजना के स्थानीकरण, उस पर शोध और ले-आउट पर विशेष ध्यान देना पड़ता है, तभी अधिकतम लाभ कमाया जा सकता है। स्थान और औजारों का चुनाव कई घटकों से प्रभावित होता रहता है। इन घटकों पर पूरा ध्यान देकर ही उद्यमी को स्थान और यंत्रों का चुनाव करना चाहिए।

सर्वाधिक मितव्ययी स्थान का चुनाव तभी सम्भव है जब उद्यमी उपलब्ध सभी स्थानों पर आने वाले लागत का एक तुलनात्मक चार्ट बनाए जिससे औद्योगिक इकाई की स्थिति, उद्योग की लाभदायकता व स्वास्थ्य में वृद्धि व लागत में कमी करके उद्योग के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जा सके। किसी उपक्रम की अनुकूलतम स्थिति वह होती जो हर दशा में उद्योग के लिए लाभदायक हो यह एक आदर्शात्मक स्थिति होती है ऐसी आदर्शात्मक स्थिति को पाना और उसे बनाये रखना तभी सम्भव है जब उपक्रम की स्थापना के पूर्व स्थिति घटकों के गुण-दोषों का समालोचनात्मक अध्ययन कर लिया जाय।

5.10 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. एक उद्यमी के लिए विभिन्न स्वामित्व संगठन के कौन-कौन से प्रारूप उपलब्ध है? प्रत्येक प्रारूप की संक्षेप में समीक्षा कीजिए।

2. किन-किन परिस्थितियों में प्लाण्ट स्थानीकरण की आवश्यकता होती है? स्पष्ट कीजिए।

3. परियोजना स्थानीकरण का क्या महत्व है? इसके चुनाव के विभिन्न चरणों की व्याख्या कीजिए।

4. परियोजना चुनाव के विभिन्न चरणों को स्पष्ट कीजिए।

5. परियोजना के स्थानीकरण को प्रभावित करने वाले तत्वों की व्याख्या कीजिए।

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (References)

1. Khanna, S.S., Entrepreneurial Development, S., Chand & Co. Ltd.
2. Desai Basant : 'Dynamics of Entrepreneurial Development and Management.' Himalaya Publishing House.
3. Pandey, I.M., 'Financial Management.'

4. Gupta & Srinivasan, 'Entrepreneurial Development in India'. S.Chand & Sons.
5. अग्रवाल एण्ड अग्रवाल, वित्तीय प्रबन्ध, रमेश बुक डिपो।
6. Das, N.L., Industrial Entrepreneur in India.
7. Mishra, P.N., Development Banks and New Entrepreneurship in India.
8. Pathak, H.T., 'Entrepreneurship in India'.
9. Sunderam, K.P.M., 'Indian Economy'.

NOTES

NOTES

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

M.COM-09
उद्यमिता एवं लघु उद्योग प्रबन्ध

खण्ड

3

लघु इकाई प्रबन्ध

इकाई -1 5
लघु इकाईयों का प्रबन्ध

इकाई -2 22
लघु इकाईयों की महत्ता तथा उनसे सम्बन्धित सरकारी नीति

इकाई -3 31
लघु इकाइयों में उत्पादन प्रबंध

इकाई -4 67
विपणन प्रबंध

इकाई -5 89
लघुस्तरीय इकाइयों का वित्त प्रबन्ध

इकाई -6 106
कार्मिक प्रबन्ध

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव कुलपति - अध्यक्ष
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया कुलसचिव - सचिव

विषयगत सम्पादन

प्रो0 ए0 एस0 अंसारी निदेशक, मोनिर्बा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

प्रो0 जगदीश प्रकाश पूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के स्वयं के हैं।

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री एम0 एल0 कनौजिया, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, मार्च 2010
मुद्रक नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद।

खण्ड-1 परिचय

इस खण्ड में प्रथम इकाई के अन्तर्गत कुल इकाइयों का प्रबन्ध शीर्षक के अन्तर्गत प्रबन्ध का अर्थ, कार्य सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत किया गया है। इकाई दो के अन्तर्गत लघु इकाइयों की महत्ताा भारतीय अर्थव्यवस्था के विशेष सन्दर्भ में प्रस्तुत की गई है। इकाई 3 लघु इकाइयों में उत्पादन, उत्पादन प्रबन्ध से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत उत्पाद नियोजन एवं विकास, स्टॉक एवं उसका नियंत्रण, स्टाक नियन्त्रण की विधियाँ, ए0वी0 सी0 विश्लेषण, वेड विश्लेषण सम विच्छेद बिन्दु विश्लेषण सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इकाई 4 के अन्तर्गत विपणन प्रबन्धन का अर्थ, उद्देश्य, कार्य उत्पाद मिश्रण, विवरण श्रृंखला इत्यादि से सम्बन्धित विवेचन किया गया है।

इकाई 5 लघुस्तरीय इकाइयों का वित्त प्रबन्धन से सम्बन्धित है। जिसमें वित्त के स्रोत, कार्यशील पूँजी वित्त, पट्टे द्वारा वित्त व्यवस्था किराया क्रय वित्त व्यवस्था सम्बन्धित विवेचना की गई है।

इकाई 6 के अन्तर्गत, कार्मिक प्रबन्ध का अर्थ कार्य, नियुक्ति, प्रशिक्षण, मजदूरी भुगतान की पद्धतियाँ एवं श्रमिक ब्याज से सम्बन्धित विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 1 : लघु इकाइयों का प्रबन्ध

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषा
1.3 प्रबन्ध प्रक्रिया
1.4 प्रबन्ध एवं संगठन
1.5 प्रबन्ध एवं प्रशासन
1.6 प्रबन्ध विज्ञान या कला
1.7 प्रबन्ध के सिद्धान्त
1.8 प्रबन्ध के कार्य
1.8.1 नियोजन
1.8.2 संगठन
1.8.3 स्टॉफिंग
1.8.4 निर्देशन
1.8.5 समन्वय
1.8.6 नियंत्रण
1.9 सारांश
1.10 स्वमूल्यांकन प्रश्न
1.11 संदर्भ ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप

- प्रबन्ध का अर्थ तथा उसकी महत्ता जान सकेंगे,
- प्रबन्ध प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- प्रबन्ध एवं संगठन में अन्तर जान सकेंगे,
- प्रबन्ध तथा प्रशासन में भेद को जान सकेंगे,

- यह जान सकेंगे कि प्रबन्ध कला है या विज्ञान,
- प्रबन्ध से सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे, तथा
- प्रबन्ध के विभिन्न कार्यों के बारे में जान सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

आधुनिक युग में प्रबन्ध सर्वव्यापक (All Pervasive), सार्वभौमिक (Universal) तथा स्वर्गत (Ubiquitions) है। इसकी व्यापकता और प्रभाव सभी स्थानों पर पाया जाता है चाहे वह घर हो, सोसाइटी हो, क्लब हो, वास्तविक संस्था हो या सरकारी कार्यालय हो। इसकी आवश्यकता इस पृथ्वी पर सभ्यता के अभ्युदय के साथ-साथ ही होने लगी। हम जानते हैं कि कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हमें अनेक कार्य-कलाप करने पड़ते हैं और सभी कार्य कोई भी व्यक्ति अकेले नहीं कर सकता। विशेष रूप से, व्यावसायिक कार्य-कलापों को करने के लिए और इसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कई लोगों को मिल-जुल कर काम करना पड़ता है। एक व्यक्ति, वास्तव में, पूर्णतया अपने-आप पर निर्भर नहीं रह सकता। इसीलिए व्यावसायिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मिलजुल कर काम करने की तथा सामूहिक प्रयास करने की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए व्यक्तियों, धन तथा वस्तुओं के मध्य उचित सामंजस्य या समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता पड़ती है। वह तत्व (element) ही, जो यह सामंजस्य या समन्वय स्थापित करता है, प्रबन्ध (management) कहलाता है। लघु उद्यमों मे भी प्रबन्ध का महत्व अत्यधिक है। बिना उचित प्रबन्धन के इन इकाइयों का सफल संभव नहीं है। वास्तव में प्रबन्धन ही एक अत्यन्त शक्तिशाली तथा अभिनव परिवर्तन लाने वाल प्रेरक शक्ति है जो लघु उद्यमियों को कुशल प्रबन्धन के लिए प्रेरित करती है।

1.3 प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषा

वैसे तो प्रबन्ध सभी युगों में एक महत्वपूर्ण बल या शक्ति के रूप में रहा है। परन्तु आज तो यह एक अत्यन्त ही शक्तिशाली तथा अभिनव परिवर्तन लाने वाली प्रेरक शक्ति है। **जार्ज के अनुसार** ''प्रबन्ध आर्थिक प्रगति का निर्णायक है, शिक्षित लोगों का नियोक्ता है। संसाधनों को एकत्र करने वाला है। प्रभावकारी सरकार के लिए पथ-प्रदर्शक है, हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा की शक्ति है, और हमारे समाज को बदलने वाला है।'' निश्चित ही, योग्य प्रबन्धकों के अभाव में आज हम समाज या राष्ट्र के विकास के बारे में सोच ही नहीं सकते। कुशल एवं योग्य प्रबन्धकों की अनुपस्थिति में हम अपने संसाधनों का समुचित उपयोग ही नहीं कर सकते। इसीलिए **पीटर ड्रकर** ने साफ-साफ कहा है कि ''प्रबन्धक प्रत्येक व्यवसाय का गत्यात्मक तथा जीवन प्रदायनी तत्व है। इसके नेतृत्व के अभाव में उत्पादन के साधन केवल साधन मात्र रहे जाते हैं, कभी उत्पादन नहीं बन

पाते।''

आसान शब्दों में और जैसा कि सामान्यतया इसे समझा जाता है यह कहा जा सकता है कि ''प्रबन्ध का तात्पर्य दूसरों के माध्यम से कार्य का पूरा करना है, प्रबन्धक वह व्यक्ति है जो दूसरों के प्रयासों का निर्देशन करके उद्देश्यों की पूर्ति करता है।'' **हारविसन एवं मायर्स** के शब्दों में, ''आसान शब्दों मे प्रबन्ध व्यक्तियों की क्रम-व्यवस्था (hierarchy) है जो संगठन में विशिष्ट महत्वपूर्ण (critical) कार्य करते हैं। प्रबन्ध का तात्पर्य इस प्रकार व्यक्तियों तथा कार्य दोनों से है।'' पीटर ड्रकर के शब्दों से यह एक बहुद्देशीय अवयव है जो व्यवसाय का प्रबन्ध करता है, तथा प्रबन्धकों का प्रबन्ध करता है एवं श्रमिकों व कार्य का प्रबन्ध करता है।'' ड्रकर ने ठीक ही इस तथ्य पर जोर दिया है कि प्रबन्ध एक अवयव है और व्यावसायिक संस्था का यह एक विशिष्ट अवयव है।

प्रबन्ध की अवधारणा (concept) के बारे में थ्यो हैमन (Theo Haiman) ने अपनी पुस्तक Professional Management Theory and Practice में आसान ढंग से स्पष्ट किया है। उनके अनुसार प्रबन्ध का प्रयोग तीन प्रचलित अर्थों में (1) संज्ञा के रूप में प्रबन्धकीय कर्मचारी के अर्थों मे किया जाता है (2) प्रविधि के रूप में प्रबन्ध कार्य प्रविधि के अर्थों में तथा (3) प्रबन्ध विज्ञान के रूप में। इस प्रकार संज्ञा के रूप में प्रबन्ध का तात्पर्य उन व्यक्तियों या उनके समूहों से है जो निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सभी साधनों में समन्वय स्थापित करते हैं। प्रविधि के रूप में, प्रबन्ध का तात्पर्य उन कार्यों से है जो कि प्रबन्धक करते हैं, तथा एक विद्या-विशेष (discipline) के रूप में, यह एक विषय ज्ञान की शाखा है।

हैराल्ड कून्ट्ज ने प्रबन्ध को एक विधि माना है। उनके शब्दों में ''प्रबन्ध औपचारिक दलों में संगठित व्यक्तियों के द्वारा तथा उनके साथ मिलकर काम कराने व करने की कला है।'' जेम्स लुण्डी ने प्रबन्ध की परिभाषा देते हुए उसके कार्यों का वर्णन किया है। उनके अनुसार ''प्रबन्ध मुख्य रूप से विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए दूसरों के प्रयत्नों को नियोजित, समन्वित, प्रेरित तथा नियन्त्रित करने का कार्य है।''

ओलिवर शैल्डन और डावर ने प्रबन्ध की परिभाषा देते हुए इसके कार्य क्षेत्र का वर्णन किया है। ओलिवर शैल्डन के अनुसार ''प्रबन्ध शब्द के अन्तर्गत सामान्यतः नीति-निर्माण, नीति का कार्यान्वयन, संगठन की अधिकल्पना तथा उसका प्रयोग सम्मिलित किये जाते हैं।''

उसी प्रकार डावर के शब्दों में ''प्रबन्ध के अन्तर्गत उद्देश्यों का निर्धारण करना, आयोजन की प्रविधि, संगठन, कर्मचारियों की नियुक्ति, कार्य निष्पादन मूल्यांकन, नियन्त्रण, अभिप्रेरित करना तथा समन्वय स्थापित करना आता है जिससे उद्देश्य पूरे किये जा सकें और अन्त में अभिनव परिवर्तन द्वारा भविष्य के लिए उद्देश्य में सुधार लाये जा

सकें।''

इस प्रकार प्रबन्ध का तात्पर्य उस प्रविधि से है जिसके अन्तर्गत निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दूसरों के माध्यम से काम लेना आता है। इस प्रक्रिया में प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक कार्य करने पड़ते हैं, जैसे नियोजन, संगठन, कर्मचारियों की नियुक्ति, निर्देशन तथा नियन्त्रण आदि। प्रबन्ध एवं प्रबन्धक में अन्तर स्पष्ट होना आवश्यक है। प्रबन्ध एक क्रियात्मक अवधारणा (function concept) है और जो इन प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों को करता है वह प्रबन्धक है। न्यूमैन एवं समर के अनुसार ''प्रबन्धक एक व्यक्ति है जो लोगों और अन्य साधनों के साथ मिलकर काम पूरा करता है, अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए वह दूसरों के कार्य-कलापों में समन्वय स्थापित करता है परन्तु स्वयं कार्य संचालन में भाग नहीं लेता।'' इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि प्रबन्ध को कार्यकारी (executive) या प्रशासक (administration) भी कहते हैं। सामान्यतया प्रबन्धक एक दल (team) के रूप में कार्य करते हैं। ऐसी दशा में उन्हें प्रबन्धक दल (management team) या प्रबन्धकीय कर्मचारी (mamagement personnel) या प्रबन्धकीय सदस्य (management members) कहा जाता है।

1.3 प्रबन्ध प्रक्रिया (Management Process)

प्रबन्ध प्रक्रिया का सरल शब्दों से तात्पर्य व्यावसायिक संस्था के उद्देश्यों को निर्धारित करने और उनकी प्राप्ति के लिए आवश्यक कदम उठाने से है। पहले उद्दश्य निश्चित किये जाते हैं और उनके अनुरूप योजना तैयार की जाती है और उसके पश्चात् प्रबन्ध सम्बन्धी सभी कार्यों को करना पड़ता है। जिनके माध्यम से उन उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। इसमें प्रबन्ध के सभी प्रमखि कार्य आते हैं जैसे नियोजन, संगठन, कर्मचारियों को नियुक्त करना, निर्देश देना, समन्वय स्थापित करना तथा नियन्त्रण करना आदि। न्यमैन एवं समर के अनुसर प्रबन्ध एक सामाजिक प्रक्रिया है क्योंकि इसके अन्तर्गत अनेक कार्य आते हैं जो उद्देश्य को पूरा करते हैं। यह एक सामाजिक प्रक्रिया है क्योंकि ये क्रियाएं मुख्यतः लोगों के बीच सह-सम्बन्धों से सम्बन्धित है।''

वास्तव में, प्रबन्ध प्रक्रिया एक सतत् प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया सभी समाप्त नहीं होती। व्यवहार में, यह देखते हैं कि व्यावसायिक प्रबन्धक जब एक समस्या का समाधान ढूँढ लेता है तो कई अन्य समस्याएँ सामने आ जाती है जिससे कि केवल नये समाधान ही नहीं ढूँढने पड़ते, अपितु पुराने समाधानों पर फिर से विचार करना पडता है और उनमें आवश्यक परिवर्तन व सुधार करने पड़ते है। आज के युग में व्यावसायिक संस्थाओं का प्रबन्ध जटिल से जटिलतर होता जा रहा है और फलस्वरूप प्रबन्ध प्रक्रिया में भी जटिलताएँ बढ़ती जा रही हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि नयी-नयी समस्याओं का सतत् प्रवाह सा बना रहता है और उनका कोई अन्त नहीं है।

1.4 प्रबन्ध एवं संगठन (Managementand Organisation)

'प्रबन्ध और संगठन' की व्यवस्था और सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान इसमें अधिक भेद नहीं मानते हैं और कुछ विद्वानों के अनुसार इन दोनों शब्दों में और उनके कार्य क्षेत्र में अन्तर और भेद हैं। इस बात पर भी सभी एकमत हैं कि दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रबन्ध का क्षेत्र संगठन से अधिक व्यापक है। वास्तव में प्रबन्ध के प्रमुख कार्यों में से संगठन एक है। किसी व्यावसायिक उपक्रम के संगठन का सुदृढ़ ढाँचा तैयार करने का उत्तरदायित्व भी प्रबन्ध के ऊपर ही होता है। उसकी सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि उसका संगठन कैसा है अतः उसका सुदृढ़ होना आवश्यक है। प्रबन्ध एवं संगठन में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि बिना उचित संगठन के, प्रबन्ध संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति करके सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है।

प्रबन्ध की परिभाषा पहले ही दी जा चुकी है अतः दोनों में अन्तर स्पष्ट है। वास्तव में संगठन की तुलना शरीर से की जा सकती है और प्रबन्ध की मस्तिष्क से। संगठन शरीर की तरह एक यंत्र है जिसका संचालन प्रबन्ध रूपी मस्तिष्क के द्वारा किया जाता है। स्प्रीगल का मत है कि संगठन, प्रबन्ध एवं प्रशासन के बीच एक कड़ी का काम करता है और दोनों के मध्य एकाग्रता स्थापित करता है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि ''संगठन एक मशीनरी है जो प्रशासन और प्रबन्ध के बीच सामंजस्य स्थापित करती है'' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'प्रबन्ध' शब्द संगठन से अधिक व्यापक है यद्यपि दोनों में अधिक घनिष्ठता है।

1.5 प्रबन्ध एवं प्रशासन (Management and Administration)

प्रबन्ध एवं प्रशासन के बारे में विद्वानों का मत एक नहीं है। अतः ये दोनों ही शब्द विवादास्पद है। कुछ विद्वान इन दोनों शब्दों में अन्तर मानते हैं और अन्य विद्वान इनमें कोई भेद न करके इन्हें पर्यायवाची का समानार्थी मानते हैं।

प्रबन्ध एवं प्रशासन में भेद मानने वालों में हम विलियम स्प्रीगल, ओलिवर शैल्डन फ्लोरेंस, टीड, लैसबर्गे आदि विद्वानों को सम्मिलित कर सकते हैं। इन विद्वानों का मत यह है कि प्रशासन का सम्बन्ध नीति निर्धारण या उद्देश्य निर्धारण आदि से है और प्रबन्ध का सम्बन्ध प्रशासन द्वारा निर्धारित उद्देश्यों या नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए किये गये कार्यों से है। ओलिवर शैल्डन ने दोनों में भेद करते हुए कहा है कि ''प्रशासन उद्योगों में सम्पन्न किया जाने वाला वह कार्य है, जिसका सम्बन्ध कार्यकारी अधिकारी के सर्वोच्च नियन्त्रण के अधीन कम्पनी की नीति निर्धारण करने वित्त व्यवस्था, उत्पादन तथा विक्रय का समन्वय करने तथा संगठन के आकार-प्रकार के निर्धारण करने

से होता है। प्रबन्ध के बारे में बताते हुए उन्होंने कहा कि ''प्रबन्ध उद्योगों में सम्पन्न किया जाने वाला वह कार्य है जिसका सम्बन्ध प्रशासन द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत नीतियों को कार्यान्वित करने तथा अपने समक्ष उपस्थित विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन का उपयोग करने से हैं।'' इस प्रकार इनके अनुसार प्रशासन का सम्बन्ध नीति-निर्धारण से और प्रबन्ध का सम्बन्ध उन नीतियों को कार्यान्वित करने से हैं।

फेयर (Fayol) तथा विलियम न्यूमैन (Willam Newman) उपर्युक्त विचार के समर्थक नहीं हैं। ये लोग प्रबन्ध तथा प्रशासन में कोई भेद नहीं करते और दोनों को समानार्थी मानते हैं।

दूसरी ओर प्रसिद्ध प्रबन्ध विचारक एवं विशेषज्ञ ब्रैच (Breach) है जिनका मत बिलकुल ही भिन्न है। ये प्रबन्ध को एक व्यापक शब्द मानते हैं और प्रशासन को उसका अंग मानते हैं। इसके अनुसार प्रशासन प्रबन्ध का वह भाग है जो व्यवसाय के कार्य संचानल को योजना के अनुसार चलाने के लिए कार्य-विधि को निश्चित करने तथा पालन करने से सम्बन्धित है। ब्रैच ने प्रबन्ध को तीन भागों में बांटा है : (अ) उच्च स्तरीय प्रबन्ध जिसका सम्बन्ध नीति निर्धारण से है, (ब) विभागीय तथा क्रियात्मक प्रबन्ध जिसका सम्बन्ध कार्य-कलापों के नियोजन, समन्वय, नियन्त्रण आदि से अधिक है तथा (स) निम्न स्तरीय प्रबन्ध जिसका सम्बन्ध दैनिक कार्य कलापों से है।

इस सम्बन्ध में इंगलैण्ड और अमरीका के विद्वानों में भी मदभेद पाया जाता है। इंग्लैण्ड के विद्वान प्रशासन को प्रबन्ध का अंग मानते हैं। अल्बर्ट लेपावास्की (albert Lepawasky) ने इसको स्पष्ट करते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं : ब्रिटिश अवधारणा सामान्य यूरोपीय व्यवहारों पर आधारित है जिसके अनुसार प्रबन्ध को प्रशासन से अधिक व्यापक माना जाता है। अमरीका के व्यवहार में प्रशासन के अन्तर्गत प्रबन्ध एवं संगठन को सम्मिलित किया जाता है।

वास्तव में आधुनिक युग में जबकि व्यावसायिक संगठन जटिल हो चुका है, प्रबन्ध एवं प्रशासन में स्पष्ट अन्तर करना अत्यन्त कठिन है। व्यवहार में हम दोनों को समानार्थी ही मानते हैं। व्यावसायिक संस्थाओं में जिसे हम प्रबन्ध कहते हैं उसे ही सरकारी क्षेत्रों तथा अन्य गैर-व्यावसायिक संस्थाओं में प्रशासन के नाम से जाना जाता है।

1.6 प्रबन्ध-विज्ञान या कला ? (Management -A Science or Art?)

प्रायः यह प्रश्न उठता है कि प्रबन्ध विज्ञान है अथवा कला। इसे समझने के लिए यह उचित होगा कि 'विज्ञान' तथा कला का अर्थ समझ लें। विज्ञान, जैसा कि सामान्यतया समझा जाता है, एक संगठित एवं क्रमबद्ध ज्ञान है। यह ज्ञान की एक

सुसंगठित एवं क्रमबद्ध शाखा है जो कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित है जिन्हें सामान्यतया सार्वभौमिक रूप से प्रयोग में लाया जा सकता है। 'कला' का तात्पर्य किसी काम के करने के लिए व्यक्तिगत कुशलता या ज्ञान के उपयोग करने से है। वास्तव में कला और विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। इतिहास यह बताता है कि विज्ञान की प्रगति होने से कला की भी प्रगति होती है।

"प्रबन्ध विज्ञान और कला दोनों ही है। वास्तव में प्रबन्ध का अभ्यास, अन्य कलाओं की तरह-चाहे चिकित्सा, संगीत, इंजीनियरिंग, बेसबाल, या लेखाशास्त्र हो- संगठित ज्ञान-विज्ञान को प्रयोग में लाता है और इसका प्रयोग वास्तविकता के आधार पर वांछित व्यावहारिक परिणाम प्राप्त करने के लिए करता है।" किसी भी व्यावसायिक संस्था का प्रबन्ध करने के लिए प्रबन्ध के संगठित ज्ञान तथा सिद्धान्तों एवं नियमों का पालन करना है और जब वह वास्तव में प्रबन्ध का कार्य करता है और वस्तुओं, धन एवं कर्मचारियों से संयोजन से दिन-प्रतिदिन की समस्याएँ हल करता है तो वह प्रबन्ध को कला के रूप में प्रयोग करता है। प्रबन्ध को एक महत्वपूर्ण कला माना जा सकता है। वास्तव में आरम्भ में प्रबन्ध एक व्यावहारिक कला के रूप में ही विकसित हुआ। विज्ञान के रूप में प्रबन्ध का विकास अभी हाल ही में हुआ है। आजकल प्रबन्ध में मूलभूत सिद्धान्तों व नियमों का पालन किया जाता है। ये निगम सुसंगठित जांच-पड़ताल और प्रयोग पर आधारित है और सामान्य रूप से उपयोग में लाये जा सकते हैं। जब भी इसकी महत्ता विज्ञान के रूप में बढ़ी है। प्रबन्धक इन सर्व प्रयुक्त नियमों व सिद्धान्तों को सफलता प्राप्त करने के लिए, अधिक से अधिक प्रयोग में लाने लगे हैं। इसके फलस्वरूप वे अपना प्रबन्ध का कार्य अधिक कुशलतापूर्वक तथा विकास के साथ करने लगे हैं। अब इन्हें प्रबन्ध के लिए भाग्य, अन्तर्ज्ञान (intuition), अनुभव या परम्पराओं पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। वे वैज्ञानिक प्रयोग, अनुसंधान व पद्धतियों का अधिकाधिक प्रयोग करने लगे हैं। कूट्ज और ओडोनेल के अनुसार यदि "कोई प्रबन्धक बिना सिद्धान्त या उसके द्वारा संचरित ज्ञान के साथ प्रबन्ध करने का प्रयास करता है तो उसे अवश्य ही भाग्य, अन्तर्ज्ञान या जो उसने विगत वर्षों में किया है उस पर भरोसा करना पड़ेगा। संगठित ज्ञान के साथ प्रबन्ध करने में इसे कहीं अधिक अच्छा अवसर प्राप्त होता है कि वह प्रबन्धकीय समस्याओं के व्यावहारिक व सुदृढ़ हल ढूंढ निकालें।"

1.7 फेयल के योगदान (Fayol's Contribution)

हेनरी फेयल (1841-1925) एक फ्रांसीसी उद्योगपति थे। आधुनिक प्रबन्ध के क्षेत्र में लिखी गयी पुस्तकों की शृंखला में उनकी पुस्तक (Geraneral and Industrial Management) को अग्रगामी माना जा सकता है इसीलिए इन्हें भी आधुनिक प्रबन्ध के जन्मदाताओं में से माना जाता है। प्रबन्ध के सम्बन्ध में उन्होंने क्रियात्मक दृष्टिकोण

(functional approach) अपनाया। अपने व्याहारिक अनुभवों के आधार पर उन्होंने व्यावसायिक कार्य-कलापों को छः प्रमुख भागों में बांटा हैः-

1. तकनीकी (technical) कार्य जो उत्पादन व विनिर्माण आदि से सम्बन्धित है।
2. वाणिज्य (commercial) कार्य क्रय-विक्रय तथा विनिमय से सम्बन्धित है।
3. वित्तीय (financial) कार्य जो वित्त अथवा पूँजी के अनुकूलतम प्रयोग से सम्बन्धित है।
4. सुरक्षात्मक (security) कार्य, जो व्यक्यिों तथा सम्पत्तियों की सुरक्षा से सम्बन्धित है।
5. लेखा सम्बन्धी (accounting) कार्य हिसाब-हिसाब रखने, स्टॉक लेने, लागत तथा सांख्यिकी से सम्बन्धित है।
6. प्रबन्धकीय (management) कार्य, जो कम्पनी के प्रबन्ध से अथवा नियोजन, संगठन समन्वय, नियंत्रण आदि से सम्बन्धित है।

उन्होंने यह बताया कि सभी प्रबन्धकीय कार्य पाँच अवयवों (five components) से मिलकर बने हैं। वे हैं नियोजन, संगठन, समादेशन (commanding) समन्वय तथा नियंत्रण। उन्होंने इन सभी का वर्णन विस्तार से किया है।

फेयल ने प्रबन्ध के सम्बन्ध में 14 सिद्धान्तों के बारे में वर्णन किया है और उनका कहना है कि किसी भी व्यवहारिक संस्था का प्रबन्ध इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना चाहिए। संक्षेप में ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :-

1. कार्य विभाजन (division of work) जो कि विशिष्टीकरण पर आधारित है।
2. अधिकार और उत्तरदायित्व (authority and responsibility) के बारे में उनका कहना है कि दोनों सहगामी (corollary) है।
3. अनुशासन (discipline) जो कि नेतृत्व अपने आचरण व व्यवहार से बनाता है।
4. आदेश की एकात्मकता (unity of command) क्योंकि मनुष्य कई व्यक्तिया से एक साथ आदेश नहीं सुन सकता अतः एक कर्मचारी को एक ही अधिकारी से आदेश मिलना चाहिए।
5. निर्देश की एकात्मकता (unity of direction) समान उद्देश्य रखने वाले कार्यों के समूह का एक ही नियोजक तथा एक ही उच्चाधिकारी है जो कि उस सम्बन्ध में निर्देश दे।
6. सामूहिक हितों के लिए व्यक्तिगत हितों का समर्पण (subordination of

individual interest to gerneral interest)

7. पारिश्रमिक (remuneration) जो कि पर्याप्त, न्यायोचित व सन्तोषजनक हो।
8. केन्द्रीयकरण (centralisation) जो संस्था की प्रकृति पर निर्भर करता है।
9. सोपान श्रृंखला (scaler chain) जो विभिन्न कर्मचारियों में अधिकार की श्रृंखला तैयार करना है।
10. व्यवस्था (order) जिसका तात्पर्य प्रत्येक के लिए उचित स्थान तथा प्रत्येक अपने स्थान पर से है।
11. समता (equity) जो कि न्याय तथा कृपा (kindliness) के संयोग से उत्पन्न हुआ हो।
12. कर्मचारियों के कार्यकाल में स्थायित्व (stability of tenure of personnels)
13. पहल (initiative) जो कि व्यवसाय की शक्ति का स्रोत है।
14. सहयोग की भावना (esprit de crops) जो इस सिद्धान्त पर आधारित है कि 'संगठन ही शक्ति है।'

वास्तव में फेयर का प्रबन्ध का सिद्धान्त 'पहला सिद्धान्त' है जो पूर्ण रूप से प्रस्तुत किया गया।

1.8 प्रबन्ध के कार्य (Function of Management)

आज के युग में व्यावसायिक संस्था का प्रबन्ध अत्यन्त जटिल हो गया है। प्रबन्ध की प्रक्रिया में, एक प्रबन्धक को अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं जिससे कि वह संस्था के उद्देश्यों की पूर्ति कर सके। इन प्रबन्ध के कार्यों की सूची या उनके वर्गीकरण के बारे में विद्वानों के मत में हेनरी फेयल ने प्रबन्ध के कार्यों का प्रथम व सर्वमान्य वर्गीकरण किया था और उन्होंने बताया कि प्रबन्ध के निम्नलिखित पांच कार्य है :-

1. पूर्वानुमान तथा योजना बनाना (Forceasting And Planning)
2. संगठन बनाना (organising)
3. आदेश देना (commanding)
4. समन्वय करना (co-ordinating)
5. नियन्त्रण करना (controlling)

बाद में अनेक विद्वानों ने इस सूची में अन्य कार्य भी जोड़े। डेल एवं मिचलेन (Dale and Mit-chelon) के अनुसार प्रबन्ध के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैः योजना बनाना, संगठन बनाना, स्टॉफ नियुक्त करना, निर्देश देना, नियन्त्रण करना, अभिनव

परिवर्तन करना (innovation), प्रस्तुत करना (presentation), संचार व्यवस्था करना (communication)। ग्रीनवुड (Greenwood) के अनुसार योजना तैयार करना संगठन बनाना, स्टॉफ नियुक्त करना, निर्देश देना, नियन्त्रण करना तथा आवश्यक निर्णय लेना, (decision making) प्रबन्ध के प्रमुख कार्य हैं। मैसी (Massie) के अनुसार निर्णय लेना योजना तैयार करना, संगठन, स्टॉफ नियुक्त करना, नियन्त्रण करना तथा संचार व्यवस्था करना आदि प्रबन्ध कार्य हैं। ऐलन (Allen) के अनुसार नियोजन, समन्वय करना, अभिप्रेरित करना, संचार व्यवस्था करना व संगठन प्रबन्ध के प्रमुख कार्य हैं। टेरी (Terry) ने प्रबन्ध के प्रमुख कार्य योजना, संगठन, स्टॉफ नियुक्त करना (staffing) तथा नियन्त्रण करना बताया है।

कूट्ज एवं ओडोनल (Koontz and O'Donnel) का इस सम्बन्ध में कथन है कि ''प्रबन्धकीय कार्यों के वर्गीकरण का सबसे उपयोगी तरीका, संगठन, नियोजन, स्टॉफ नियुक्त करना, निर्देश देना तथा नियन्त्रण करना जैसे कार्य-कलापों के वर्ग में बाँटना है।

उपर्युक्त विवेचना के उपरान्त, हम प्रबन्ध के छः कार्यों का निम्नलिखित उल्लेख करते हैं :-

1. नियोजन
2. संगठन
3. स्टॉफिंग
4. निदेशन
5. समन्वय
6. नियंत्रण

1.8.1 नियोजन (Planning)

नियोजन प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य है। वास्तव में यह प्रबन्ध का सर्वप्रथम कार्य है और अन्य सभी कार्यों से अत्यधिक अन्तर्सम्बन्धित है। बिना योजना के प्रबन्ध का कार्य सरलता और कुशलता से नहीं किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत मुख्यतया, उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को निश्चित करना और उनको प्राप्त करने के लिए सर्वोत्तम उपाय का पता लगाना आता है। वास्तव में इसका सम्बन्ध भविष्य से होता है। अतः पहले से ही भविष्य के बारे में अनुमान लगाना होता है और उसी के आधार पर उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निश्चित कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार करना होता है। टेरी के अनुसार, नियोजन ''वांछित परिणाम पाने के लिए प्रस्तावित कार्य-कलापों को तैयार करने तथा सजीव कल्पना करने में तथ्यों का चुनाव करना और उन्हें सम्बन्धित करना है।'' एक अन्य स्थान

पर उन्होंने कहा है कि ''नियोजन भविष्य के गर्भ में देखने की विधि या कला है। इस प्रकार, पूर्वानुमान लगाना, उद्देश्य निर्धारित करना, नीतियाँ निर्धारित करना, कार्यक्रम तैयार करना, कार्य-विधि निश्चित करना तथा बजट तैयार करना आदि क्रियाएँ नियोजन में सम्मिलित की जाती हैं।

1.8.2 संगठन (Organising)

संगठन प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य है। प्रायः ऐसा पाया जाता है कि प्रबन्धकों को पर्याप्त सफलता इसलिए प्राप्त नहीं होती क्योकि वे इस कार्य को प्रभावकारी ढंग से नहीं कर पाते। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रबन्धक को सभी उपलब्ध साधनों, व्यक्ति, धन, पदार्थों, समय तथा काम को संगठित करना पड़ता है। उचित संगठन द्वारा ही अस्त-व्यस्तता या अव्यवस्था (chaos) के स्थान पर व्यवस्था लायी जा सकती है। कूट्ज एवं ओडोनेल ने इसे निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया हैः ''संगठन का तात्पर्य, उपक्रम के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यवाहियों का पता लगाकर और सूची बनाकर, नियमों का साभिप्राय ढाँचा स्थापित करना है, इन कार्यों को श्रेणी में बांटना है, श्रेणी में बंटे कार्यों को किसी प्रबन्धक को सौंपना है, अधिकारों का सौपना (delegation) तथा संगठन के ढांचे में क्षैतिज (horizontal) तथा लम्बवत् (vertically) अनौपचारिक सह-सम्बन्ध स्थापित करना है। उरविक (Urwick) के अनुसार संगठन का अर्थ यह निर्धारित करना है कि ''किसी उद्देश्य या योजना को प्राप्त करने के लिए क्या-क्या क्रियाएं करनी आवश्यक हैं तथा इनको ऐसी श्रेणियों में बांटना जिन्हें अलग-अलग व्यक्तियों में बांटा जा सके।'' इस प्रकार इसके अन्तर्गत उद्देश्य प्राप्त करने के लिए की जाने वाली सभी कार्यवाहियों का पता लगाना, उन्हें विभिन्न उपयुक्त श्रेणियों में बांटा और प्रबन्धों को उचित अधिकार सौंप कर उन कार्यों को पूरा करने के लिए उत्तरदायी बनाना है। ब्रेच (Brech) के अनुसार, इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आती हैं : (i) उत्तरदायित्वों को निर्धारित करना जो कि विशिष्ट अधिकारियों को बांटना है- यह ढाँचे (structure) का सत्व या सार (substance) है, (ii) उत्तरदायित्वों का उन व्यक्तियों में विभाजन करना जिन्हें प्रबन्ध का कार्य-भार देखना है। यह ढाँचे की स्थैतिक अवधारणा (static conception) और कार्यरत प्रबन्ध की प्रवैगिक प्रक्रिया (dynamic) के बीच की दहलीज (threshold) है तथा (iii) प्रबन्धकों के मध्य कुछ निश्चित औपचारिक सह-सम्बन्धों को स्थापित करना तथा उनमें आपस में औपचारिक ढंग से आपसी सम्बन्धों का आविर्भाव (emergence) होता है।

1.8.3 स्टॉफिंग (Staffing)

इसके अन्तर्गत कर्मचारियों का चुनाव, मूल्यांकन (appraisal), प्रशिक्षण व

विकास (development) करना है जो कि संगठन के उद्देश्यों को पूरा करने में सहायता करते हैं। पहले इसे प्रबन्ध का एक अलग कार्य नहीं माना जाता था और इसे संगठन का एक अंग माना जाता था किन्तु हाल में इसे भी उचित महत्ता प्रदान की गयी है और इसे अब प्रबन्ध का एक अलग ही नहीं अपितु महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। अब प्रमुख संस्थाओं के सभी प्रबन्धक स्वीकार करते हैं कि प्रभावपूर्ण ढंग से स्टॉफ की नियुक्ति करना भी सफलता की एक महत्वपूर्ण कुंजी है। इसके फलस्वरूप इस दिशा में शोध किये गये हैं और प्रबन्ध ज्ञान की एक निश्चित शाखा का विकास हो चुका है। इसके अन्तर्गत दो प्रकार के कर्मचारियों की नियुक्ति की बात आती है-एक तो प्रबन्ध से सम्बन्धित कर्मचारी और दूसरे वे कर्मचारी जो प्रबन्ध से सम्बन्धित नहीं हैं। बड़े संगठनों में स्टॉफ की नियुक्ति का उत्तरदायित्व हर स्तर के प्रबन्धकों को सौंपा जाता है।

संचालन मण्डल, जनरल मैनेजर या प्रबन्ध संचालक की नियुक्ति के लिए उत्तरदायी है,जनरल मैनेजर या प्रबन्ध संचालक का उत्तरदायित्व अन्य विभागीय प्रबन्धकों की नियुक्ति करना, प्रशिक्षण देना तथा विकास करना है, और ये विभागीय प्रबन्धक फोरमैन या पर्यवेक्षक (superintendent) की नियुक्ति करते हैं। ये पर्यवेक्षक भी कामगारों की नियुक्ति करते हैं। इस प्रकार सभी स्तर के प्रबन्धक इस कार्य को करते है।

1.8.4 निर्देशन (Directing)

अपने अधीन कर्मचारियों को निर्देश दो प्रबन्धक का एक महत्वपूर्ण कार्य है। मार्शल ई0 डिमक (Matshall E. Dimock) ने इसे प्रशासन का दिल (heart of administration) बताया है। उनके अनुसार इस कार्य के अन्तर्गत काम का पथ (Course) निर्धारित करना है, आदेश और हिदायतें देना है, तथा गत्यातामक नेतृत्व (dynamic leadership) प्रदान करना है। सी0एस0जार्ज के अनुसार, ''प्रबन्ध के इस कार्य का सम्बन्ध उन कार्य-कलापों से है जो प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने, मार्ग दर्शन करने या अधीनस्थ कर्मचारियों का पर्यवेक्षण करने से है। केवल निर्देश देने से ही यह कार्य समाप्त नहीं होता। किसी न किसी प्रकार से उसे अपने सहयोगियों से संगठन के उद्देश्यों, वह क्या काम करना चाहते हैं, आदि के बारे में बातचीत अवश्य करनी चाहिए।''

इस प्रकार, निर्देशन के अन्तर्गत उच्च प्रबन्धकों द्वारा अपने अधीनस्थ अधिकारी या कर्मचारी को आवश्यक आदेश या निर्देश देना, उनसे विचारों का आदान-प्रदान करना (communication), उनका मार्गदर्शन करना, अभिप्रेरित करना तथा नेतृत्व प्रदान करना आदि आता है। यह एक महत्वपूर्ण परन्तु कठिन कार्य है। योजना चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न बनी हो, संगठन का आधार सुदृढ़ हो, योग्य कर्मचारी नियुक्त

कर लिए गए हों, संस्था का परिचालन सुचारू रूप से नहीं चल सकता, यदि निर्देशन का कार्य सुचारू रूप से न किया जाये। वैसे देखने में यह लगता है कि निर्देश देने का कार्य आसान है, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है। यह कार्य कठिन और जटिल है क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यक्तियों से व्यवहार करने की बात आती है। यह ठीक ही कहा गया है कि प्रबन्ध का यह कार्य कठिन है क्योंकि ऐसा करते समय प्रबन्धक को जटिल घटकों से व्यवहार करना पड़ता है जिसके बारे में पर्याप्त जानकारी नहीं होती और जिसमें से बहुत घटकों पर उसका नियंत्रण नहीं के बराबर होता है। इसलिए यह भी आवश्यक है कि जो भी आदेश या निर्देश दिये जाएं वे स्पष्ट, उपयुक्त व सुसंगत हों।

1.8.5 समन्वय (Co-ordinating)

लोगों के कार्य-कलापों में समन्वय स्थापित करना प्रबन्ध का एक प्रमुख कार्य है। हालांकि समन्वय को प्रबन्ध के कार्य के रूप में स्वीकार करने में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। फेयल तथा ब्रेच इसे प्रबन्ध का पृथक कार्य मानते हैं परन्तु अधिकांश विद्वान, जिनमें आधुनिक प्रबन्ध-शास्त्री भी सम्मिलित हैं, इस प्रबन्ध के एक पृथक कार्य के रूप में नहीं स्वीकार करते। कूट्ज और ओडोनेल के अनुसार यह प्रबन्ध का एक पृथक कार्य न होकर प्रबन्ध का सार (essence of management) है और प्रबन्ध के सभी कार्यों और प्रक्रियाओं से जुड़ा हुआ है। समन्वय की आवश्यकता सभी जगहों पर पड़ती है, चाहे वह नियोजन हो, या संगठन बनाना हो, नियुक्तियाँ करनी हो या नियन्त्रण करना हो।

ब्रेन, जो समन्वय को प्रबन्ध का एक पृथक कार्य मानते हैं, के अनुसार ''समन्वय विभिन्न सदस्यों में काम का उचित बँटवारा करके दल को साथ रखना और उसमें सन्तुलन स्थापित करना और यह देखना है कि कार्य-सदस्यों में सामंजस्य (harmony) के साथ पूरा हो जाय।'' इस प्रकार, उनके अनुसार लोगों में सामंजस्य रखना समन्वय का आवश्यक तत्व है। टेरी के अनुसार समन्वय प्रयासों का व्यवस्थित ढंग से मिलान (synchronization) है जिससे कि कार्य का निष्पादन (execution) उचित मात्रा, समय तथा निर्देश में हो सके और उल्लिखित उद्देश्यों के लिए सुसंगत और एकरूप (unified) कार्यवाही हो सके। इस प्रकार इन्होंने कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से और एक ही समय में क्रम से करने पर बल दिया है जिससे कि सुसंगत और एक रूप कार्य हो सके। मूनी एवं रैले ने इसकी एक संक्षिप्त व स्पष्ट परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में दी है, उनके अनुसार समन्वय का तात्पर्य है, ''सार्व उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सामूहिक प्रयासों को इस प्रकार व्यवस्थित ढंग से जोड़ना है कि कार्य में एकरूपता आ जाय। इन्होंने इस सम्बन्ध में ''सामूहिक प्रयासों को व्यवस्थित ढंग से करने और कार्य में एकरूपता'' पर विशेष बल दिया है। इस प्रकार समन्वय का तात्पर्य लोगों में व्यवस्थित

ढंग से सुमेल स्थापित करना है जिससे कि सभी कार्य बिना किसी संघर्ष के और लोगों के आपसी सहयोग से एकरूपता के साथ पूरा किया जा सके और निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति सफलता के साथ हो सके। यह निश्चित है कि यदि लोगों में और उनके कार्यों में समन्वय स्थापित न किया जाए तो कार्य व्यवस्थित ढंग से पूरा न होगा।

समन्वय की आवश्यकता (Need for co-ordination)

किसी भी व्यावसायिक उपक्रम में समन्वय की आवश्यकता, संक्षेप में निम्नलिखित कारणों से होती है।

(i) लोगों के विचारों में भिन्नता पायी जाती है जिसके फलस्वरूप उद्देश्यों को प्राप्त करने में समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। ऐसी समस्याओं से बचने के लिए यह आवश्यक होता है।

(ii) लोगों के उद्देश्यों और हितों में तथा संस्था के उद्देश्यों और हितों में आपसी टकराव हो सकता है। इसे न्यूनतम करने के लिए समन्वय की आवश्यकता होती है।

(iii) लोग अपने-अपने कार्य व्यवस्थित ढंग से न कर रहे हों तो उसे सुव्यवस्थित करने के लिए इसकी आवश्यकता होती है।

(iv) लोगों में आपसी संघर्ष जैसे रेखीय एवं स्टॉफ प्रबन्धकों के बीच संघर्ष को समाप्त करने के लिए समन्वय की आवश्यकता होती है।

(v) विभिन्न विभागों, जो अपनी-अपनी एक स्वतन्त्र इकाई बना लेते हैं, के लक्ष्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है।

(vi) कार्यों में विविधता और विशिष्टीकरण पाया जाता है। ऐसी दशा में सभी के कार्यों में ताल-मेल बैठाने के लिए यह आवश्यक है।

(vii) सम्पूर्ण संगठन का कार्य सुसंगत, व्यवस्थित क्रम से और बिना किसी आपसी विरोध के चले इसके लिए भी समन्वय की आवश्यकता होती है।

1.8.6 नियंत्रण (Controlling)

प्रबन्धक के कार्यों में, क्रम से अन्तिम परन्तु एक अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य नियन्त्रण करना है। इसके बिना काम का सफलता के साथ होना और लक्ष्यों की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसका तात्पर्य उन उपायों या कार्यवाहियों से है जो संस्था के कारोबार को सुनिश्चित योजना के आधार पर चलाये जाने के लिए अपनाये जाते हैं। कूट्ज एवं ओडोनेल के अनुसार ''नियन्त्रण अधीनस्थ कर्मचारियों की कार्यवाहियों के नापने और

सुधार करने से है जिससे यह विश्वास हो सके कि घटनाएँ योजनाओं के अनुसार चल रही हैं'' ब्रेट ने इसकी परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में दी है : ''नियन्त्रण निश्चित योजनाओं तथा प्रमाणों के वास्तविक कार्य-निष्पादन के जांचने की प्रक्रिया है जिससे पर्याप्त उन्नति व सन्तोषजनक काम हो सके और साथ ही ऐसे अनुभवों का रिकार्ड रखना है जो सम्भावित भावी आवश्यकताओं की पूर्ति में अपना योगदान दे सके। प्रोफेसर हेमेन ने इसे और भी सरल और स्पष्ट शब्द में निम्नलिखित ढंग से परिभाषित किया हैः ''नियन्त्रण छानबीन द्वारा यह निश्चित करने की प्रक्रिया है कि कार्य योजना के अनुसार हो रहा है अथवा नहीं, उद्देश्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में उपयुक्त प्रगति हो रही है अथवा नहीं, आवश्यकता पड़ने पर अन्तर या विचलन का सुधार करना है। इस प्रकार नियन्त्रण का तात्पर्य यह देखना है कि संस्था के सभी कारोबार योजना के अनुरूप चल रहे हैं या नहीं। इसके लिए वास्तविक प्रगति की तुलना निर्धारित लक्ष्यों से की जाती है। यदि तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि कार्य योजना के अनुसार नहीं चल रहा है और उसमें विचलन (deviation) हुआ है तो ऐसे उपायों को अपनाना होगा जिससे कि उसमें सुधार हो सके और काम सुचारू रूप से योजना के अनुसार चलने लगे।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि नियन्त्रण और नियोजन एक दूसरे से बहुत अधिक सम्बद्ध हैं। वैसे नियन्त्रण का सम्बन्ध संगठन बनाने और निर्देश देने से भी है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि घटनाएँ या कारोबार योजना के अनुसार चलें। इसके लिए लोगों का आवश्यक नियन्त्रण करना पड़ता है। प्रबन्धक इसीलिए सभी मामलों पर निगरानी करने के लिए लोगों पर नियन्त्रण करते हैं।

1.9 सारांश (Summary)

प्रबन्ध सर्वव्यापक तथा सार्वभौमिक है। सभी प्रकार की संस्थाओं - व्यावसायिक या गैर-व्यावसायिक के लिए इसकी आवश्यकता होती है। लघु इकाइयों के सफल संचालन के लिए भी, उद्यमियों को कुशल प्रबन्धक होना चाहिए। योग्य व कुशल प्रबन्धक के बिना संसाधनों का समुचित उपयोग नहीं हो पाता है।

लघु उद्यमों के लिए प्रबन्ध की अलग विधि नहीं है। वही विधियाँ या तकनीकें अपनाई जाती हैं, जो सभी छोटे-बड़े व्यवसायों के लिए अपनाई जाती हैं। प्रबन्ध के अन्तर्गत, उद्देश्यों का निर्धारण करना, नियोजन, संगठन, कर्मचारियों की नियुक्ति, प्रशिक्षण, अभिप्रेरण, समन्वय तथा नियन्त्रण आदि कार्यों को सम्मिलित किया जाता है। प्रबन्ध एक क्रियात्मक अवधारणा है और जो व्यक्ति इन प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों को करते हैं, वे प्रबन्धक कहलाते हैं।

प्रबन्धक प्रक्रिया के अन्तर्गत, उद्देश्यों का निर्धारण करना तथा उन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु उचित प्रयास करना आता है। इसके अन्तर्गत, वास्तव में, प्रबन्ध के सभी कार्य

सम्मिलित है। प्रबन्ध एक सामाजिक प्रक्रिया भी है। वास्तव में, प्रबन्ध एक सतत् प्रक्रिया है जो कभी समाप्त नहीं होती।

प्रबन्ध तथा संगठन में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में अन्तर है और वास्तव में संगठन प्रबन्ध का एक अंग तथा महत्वपूर्ण कार्य है। जितना सुदृढ़ संगठन होगा उतना ही प्रबन्ध भी कुशल होगा। संगठन प्रबन्ध तथा प्रशासन के बीच एक कड़ी का काम करता है।

प्रबन्धक एवं प्रशासन के बारे में विद्वान एकमत नहीं है। कुछ विद्वान इनमें अन्तर मानते हैं और कुछ इन्हें समानार्थी मानते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से, प्रशासन उच्चस्तर का कार्य है जबकि प्रबन्ध मध्य तथा निम्न स्तर का। प्रशासन के अन्तर्गत नीति निर्धारण तथा उद्देश्य निर्धारण आता है जबकि प्रबन्ध के अन्तर्गत उनका क्रियान्वयन आता है।

प्रबन्ध विज्ञान तथा कला दोनों ही है। आजकल, प्रबन्ध में सर्व-प्रयुक्त नियमों तथा सिद्धान्तों का पालन किया जाता है। ये नियम व सिद्धान्त सुसंगठित खोज व प्रयोग पर आधारित होते हैं। अतः इसे विज्ञान माना जाता है। इस प्रकार प्रबन्ध एक संगठित व क्रमबद्ध ज्ञान है। कला का अर्थ उपलब्ध ज्ञान के प्रयोग करने से है। प्रबन्ध का व्यावहारिक पक्ष कला के अन्तर्गत आता है।

हेनरी फेयॉल को प्रबन्ध का जनक माना जाता है। उन्होंने प्रबन्ध के सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे, जो आज भी मान्य है। अन्य विद्वानों ने भी कुछ सिद्धान्त बताये हैं जिनका प्रयोग किया जाता है।

प्रबन्ध में प्रमुख कार्यों में, नियोजन (निर्णयन सहित), स्टॉफिंग, निर्देशन, समन्वय व नियन्त्रण आता है। स्टॉफिंग में कर्मचारियों की नियुक्ति, प्रशिक्षण एवं विकास, प्रोन्नति, हस्तांतरण आदि आता है। निदेशन के अन्तर्गत, नेतृत्व प्रदान करना, अभिप्रेरण तथा सम्प्रेषण आता है।

1.10 स्वमूल्यांकन प्रश्न (Self Assessment Question)

1. प्रबन्ध की परिभाषा दीजिये तथा इसके प्रमुख लक्षण समझाइये?
2. प्रबन्ध प्रक्रिया का वर्णन कीजिये तथा प्रबन्ध एवं संगठन में अन्तर बताइये।
3. प्रबन्ध एवं प्रशासन में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
4. प्रबन्ध कला है या विज्ञान इस कथन की विवेचना कीजिये।
5. हेनरी फेयॉल के प्रबन्ध के सिद्धान्तों का वर्णन दीजिये।
6. नियोजन का अर्थ तथा महत्व समझाइये।
7. समन्वय क्या है? इसकी किसी व्यावसायिक इकाई में क्या आवश्यकता है?

8. नियन्त्रण क्या है? नियन्त्रण की प्रक्रिया समझाइये।

1.11 संदर्भ ग्रन्ध

1. Josheph L. Massie, Essentials of Management, Prentice Hall of India. 2000.
2. George R. Terry. Principles of Management, A.I.T.B.S.
3. John F. Mee. International Handbook of Management, Mc Graw Hill Book, New York, 1965.
4. Henri Fayol, Industrial and General Administration, International Management Institute, General, 1930.
5. Peter F. Drucker, Management, Tasks, Responsibilities Practices, Allied Publishers, 1973.
6. E.F.L. Brech, Management, Its nature and Significance. Sir Isaac Pitman, London, 1967.
7. Louis A. Allen, Management and Organisation, Mc Graw Hill, 1958.
8. एस0 सी0 सक्सेना, व्यवसाय प्रशासन एवं प्रबन्ध, साहित्य भवन, आगरा 2002।

इकाई 2 : लघु इकाइयों की महत्ता तथा उनसे सम्बन्धित सरकारी नीति

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 लघु इकाइयों की महत्ता

  2.2.1 भारतीय अर्थव्यवस्था में इनकी महत्ता

2.3 लघु इकाइयों के सन्दर्भ में सरकारी नीति

  2.3.1 सरकारी नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन

2.4 सारांश

2.5 स्वमूल्यांकन प्रश्न

2.6 संदर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको

- लघु इकाइयों की महत्ता की जानकारी होगी,
- भारतीय अर्थव्यवस्था में इनकी महत्ता का ज्ञान मिलेगा,
- लघु इकाइयों के सम्बन्ध में सरकारी नीतियों के विषय में जानकारी प्राप्त होगी, तथा
- सरकारी नीतियों के आलोचनात्मक अध्ययन में सहायता मिलेगी।

2.1 प्रस्तावना

विश्व के सभी देशों में लघु इकाइयाँ कार्यरत हैं। ये उनकी अर्थव्यवस्था में वृहद इकाइयाँ में साथ ही अपना विशेष महत्व रखती है। उत्पादन, रोजगार, निर्यात आदि अनेक आर्थिक क्षेत्रों में इनकी महत्ता है। इन इकाइयों में अपेक्षाकृत कम पूंजी लगती है तथा अधिक लोगों को ये रोजगार प्रदान करती हैं। ये इकाइयाँ, देश में सन्तुलित क्षेत्रीय विकास को प्रोत्साहित करने में समर्थ हैं जबकि बड़े पैमाने की इकाइयों से केन्द्रीयकरण को ही बढ़ावा मिलता है। आज की बदलती परिस्थितियों में भी ये इकाइयाँ अपना समायोजन आसानी से कर लेती हैं। ये देश के असंख्य लोगों में उद्यमिता का भी विकास

करती है। कम लागत होने से इनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का मूल्य भी कम होता है तथ् फलस्वरूप उपभोक्ताओं को अधिक सन्तोष प्राप्त होता है। विशेष रूप से, ग्रामीण उद्योगों के विकास की सामाजिक लागत भी कम होती है और ये स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

2.2 लघु इकाइयों की महत्ता

किसी भी देश का औद्योगिक विकास श्रम-सघन (Lebour intensive) उद्योगों तथा पूँजी सघन (Capital intensive) उद्योगों के माध्यम से होता है। लघु इकाइयों में पूँजी का कम तथा श्रम का अधिक उपयोग होता है। सूक्ष्म, लघु तथा मध्यम उद्योग विकास, अधिनियम 2006 के अनुसार अब इन लघु इकाइयों को तीन भागों में बाँटा गया है। निर्माणी क्षेत्र में 10 लाख रु0 तक विनियोग वाली इकाई को सूक्ष्म उद्योग 10 लाख रु0 से 2 करोड़ रू0 तक विनियोग वाली इकाई को लघु उद्योग तथा 2 करोड़ रू0 से 5 करोड़ रू0 तक के विनियोग वाली इकाई को मध्यम उद्योग माना जाता है।

लघु इकाईयों की महत्ता निम्नलिखित तथ्यों से ज्ञात होती है :-

1. अधिक रोजगार का अवसर - लघु इकाइयाँ श्रम सघन होती है जिससे अधिक लोगों को रोजगार का अवसर प्राप्त होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में, छोटे नगरों में तथा बड़े नगरों में असंख्य लघु इकाई कार्यरत हैं जिनमें करोड़ों लोगों को रोजगार मिल पाता है।

2. कम पूँजी की आवश्यकता - इन इकाइयों में बड़े उद्योगों की अपेक्षाकृत बहुत कम पूँजी लगती है। ग्रामीण उद्योगों में हस्तशिल्प, दस्तकारी तथा हथकरघा आदि उद्योगों में बहुत कम पूँजी से ही इनकी स्थापना की जाती है। मध्यम आकार की इकाइयों में अपेक्षाकृत अधिक पूँजी लगती है जिसके लिए सरकारी संस्थाओं तथा बैंकों आदि से पूंजी की व्यवस्था हो जाती है।

3. उत्पादन लागत में कमी - बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षाकृत इन इकाइयों में उत्पादन लागत कम आती है क्योंकि अधिकांश कार्य श्रमिकों से भी कम पूंजी पर कराया जाता है। अनेक ऐसे उद्यमों में स्थानीय माल से ही उत्पादन होता है जो अपेक्षाकृत सस्ते होते हैं। इनकी उत्पादन, विपणन, विज्ञापन तथा परिवहन लागत अपेक्षाकृत कम आती हैं। कम उत्पादन लागत के फलस्वरूप ही इनके उत्पाद विदेशों में भी प्रचलित हैं और उनका निर्यात संभव हो पा रहा है।

4. पूँजी पर प्रतिफल शीघ्र - इन इकाइयों में लगी पूँजी पर कम समय में ही प्रतिफल या लाभ उत्पन्न होने लगता है क्योंकि इनका आवर्त-काल अपेक्षाकृत कम होता है। इनकी अपेक्षाकृत बड़ी इकाइयों का आर्वत-काल अधिक होता है। इन्हें लाभ प्राप्त करने के लिए लम्बी अवधि तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है।

5. उद्यमियों का विकास - छोटी-छोटी इकाइयों के लिए अपेक्षाकृत कम जोखिम होने के कारण, अधिक उद्यमी तैयार हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप देश में उद्यमियों को प्रोत्साहन मिलता है तथा उनकी संख्या भी बढ़ती है। किसी भी देश में औद्योगिक विकास के लिए अधिक से अधिक उद्यमियों का विकास अत्यन्त आवश्यक होता है। छोटे-छोटे उद्यमी आगे चल कर बड़े पैमाने पर उत्पादन व विक्रय में सम्मिलित हो जाते हैं।

6. क्षेत्रीय संतुलित विकास संभव - लघु इकाइयों की स्थापना किसी भी स्थान पर की जा सकती है। पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए ये अधिक उपयुक्त हैं। चाहे जनजातीय क्षेत्र हो पहाड़ी क्षेत्र हो या दूर-दराज वाला क्षेत्र, इन लघु इकाइयों की स्थापना आसानी से की जा सकती है। फलस्वरूप, देश का संतुलित, क्षेत्रीय विकास आसानी से हो पाता है। इन इकाइयों की अपेक्षाकृत, बड़े पैमाने की इकाइयाँ केन्द्रीयकरण को बढ़ावा देती हैं तथा वे कुछ बड़े नगरों तथा उनके आस-पास के क्षेत्रों तक ही विकसित हो पाती हैं।

7. अपेक्षाकृत अधिक लोच - इन इकाइयों के संगठन में तकनीकी तथा अन्य दृष्टि से अधिक लोच पाया जाता है। फलस्वरूप किसी भी प्रकार के परिवर्तन होने पर इनका समायोजन अपेक्षाकृत अधिक आसानी से किया जा सकता है।

8. राष्ट्रीय आय का न्यायसंगत विभाजन संभव - लघु इकाईयों के विकास से देश में राष्ट्रीय आय अधिक से अधिक लोगों में वितरित होती है। इसके फलस्वरूप धन का केन्द्रीयकरण कम से कम होता है जबकि बड़े पैमाने की इकाइयों के परिणाम स्वरूप धन-सत्ता कुछ गिने-चुने उद्योगपतियों के हाथों में ही सिमट जाती है। अतः राष्ट्रीय आय को समुचित तथा न्यायोचित विभाजन के लिये तथा धन के केन्द्रीयकरण को रोकने के लिये ये लघु उद्योग अधिक उपयुक्त तथा सक्षम हैं।

9. सामाजिक लागत का अपेक्षाकृत कम होता है- इन लघु इकाइयों की स्थापना से सामाजिक लागत भी अपेक्षाकृत कम होती है। बड़ी इकाइयों की सामाजिक

लागत अपेक्षाकृत अधिक होती है। इनसे अनेक प्रकार के प्रदूषण भी बढ़ते हैं। वास्तव में गंगा जैसी पवित्र नदी के प्रदूषित होने में भी इनका योगदान कम नहीं है। यदि इन लघु इकाइयों की सामाजिक लागत कुछ है भी तो वह बड़ी इकाइयों की अपेक्षाकृत कम होती है।

10. उपभोक्ताओं की संतुष्टि - उपभोक्ताओं को संतुष्टि प्रदान करने में भी ये लघु इकाइयाँ अधिक सक्षम हैं। इनके द्वारा ऐसी अनेक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनसे उपभोक्ताओं को अधिक संतुष्टि मिलती है। यदि स्थानीय संसाधनों का विदोहन कर स्थानीय उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है तो उपभोक्ताओं को कम दर पर ही ये आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं।

11. गरीबी दूर करने का माध्यम - ये छोटी-छोटी इकाइयाँ, विशेष रूप से, सूक्ष्म उद्योग इकाइयाँ गरीब लोगों के लिये वरदान सिद्ध हुई है। छोटे-छोटे स्वयं सहायता दल बना कर अनेक संगठन गरीबों को सूक्ष्म इकाइयाँ स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन दे रही हैं। फलस्वरुप उनकी आय बढ़ रही हैं और उनके रहन-सहन के स्तर में वृद्धि हो रही है। विशेष रूप से इनके माध्यम से महिलाओं की गरीबी दूर हो रही है तथा उनका सशक्तीकरण भी हो रहा है।

12. कलाकारों तथा कलात्मक वस्तुओं का विकास - देश में इन लघु इकाइयों से अनेक कलाकार जुड़े हुए हैं जिन्हें इनके माध्यम से आय प्राप्त होती है। इस प्रकार से इन कलाकारों को भी प्रोत्साहन मिलता है। साथ ही हस्तशिल्प उद्योग के अन्तर्गत अनेक कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिसकी माँग विदेशों में भी बढ़ रही है।

2.2.1 भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु इकाइयों की महत्ता -

भारतीय अर्थव्यवस्था में सूक्ष्म, लघु तथा मध्य उद्यमों की भूमिका अत्यन्त सराहनीय रही है। भारत की औद्योगिक इकाइयों में से 90 प्रतिशत से अधिक इकाइयाँ इसी क्षेत्र में हैं। अभी तक सकल घरेलू उत्पाद (GDP) में इनका अंशदान लगभग 8 प्रतिशत रहा है जो बढ़कर शीघ्र ही 10 प्रतिशत हो जायेगा। वित्त सचिव, श्री अशोक चावला का कथन है कि ''भारत के विकास की कहानी में यह क्षेत्र बहुत महत्वपूर्ण भाग प्रदान करता है। पहले 3-4 प्रतिशत से 6 प्रतिशत और अब 8-9 प्रतिशत हो गया है। शीघ्र ही, यह 10 प्रतिशत हो जायेगा।''

वास्तव में, लघु उद्यमों का, देश के लघु औद्योगिक उत्पादन का लगभग 40

प्रतिशत तथा कुल निर्यात का लगभग 34 प्रतिशत योगदान है। ये इकाइयाँ, 133.7 लाख उद्यमों में 322 लाख लोगों को रोजगार प्रदान करती है। 2008 में इन इकाइयों का विकास दर 13 प्रतिशत रहा जबकि वर्ष 2006-70 में यह अधिकतम 12.6 प्रतिशत था। इस क्षेत्र की वृद्धि औद्योगिक क्षेत्र और सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि से निरन्तर ऊँची रही है। इस प्रकार सूक्ष्म एवं लघु उद्यम क्षेत्र का उच्चतर वृद्धि संवेग देश के समग्र आर्थिक कार्य निष्पादन में उक्त क्षेत्र के बढ़ते हुए महत्व को दर्शाता है।

सूक्ष्म एवं लघु उद्यम क्षेत्र की प्रगति निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायेगाः

Year	No of units (in lakh)			Production (Rs.crore)		Employment	Exports
	Regd.	Unregd.	Total	(at current prices)	(at current pricews)	(in lakh)	(Rs. crore)
2002-03	15.91	93.58	109.49 (4.1)	3.11.993 (10.5)	2.10.636 (7.7)	260.21 (4.4)	66.013 (20.7)
2003-04	16.97	96.98	113.95 (4.1)	3.57.733 (14.7)	2.28.730 (8.6)	271.42 (4.3)	97.644 (13.5)
2004-05	17.53	101.06	118.59 (4.1)	4.18.263 (16.9)	2.51.511 (10.0)	282.57 (4.1)	1.24.417 (27.4)
2005-06	18.71	104.71	123.42 (4.1)	4.76.201 (13.9)	2.77.668 (10.4)	294.91 (4.4)	1.50.242
2006-07	----	----	128.44	4.81.663	----	312.52	1.81.426
2007-08(P)	----	----	133.67	5.32.979	----	322.28	-----

Note : Figures in Parenthesis indicate percentage growth over previous years

Source : Development Commissioner (SSI)

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि सूक्ष्म तथा लघु क्षेत्र की इकाइयों द्वारा उत्पादन, निर्यात तथा रोजगार में वर्ष-प्रति वर्ष वृद्धि होती रही है और देश की अर्थव्यवस्था के विकास में यह अपना महत्वपूर्ण योगदान देती रहा है।

2.3 लघु इकाइयों के संदर्भ में सरकारी नीति

स्वतन्त्रा प्राप्ति के बाद, भारत सरकार समय-समय पर इन लघु इकाईयों के विकास के लिए अपनी नीतियों की घोषणा करती रही है। अप्रैल 1948 में जब पहली औद्योगिक नीति की घोषणा की गई तब से इनके लिए सरकार की स्पष्ट नीति आती रही है। यहाँ पर 1948, 1956 तथा 1991 की औद्योगिक नीतियों का विशेषतया हम वर्णन करेंगे।

औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1948 - इस नीति की अप्रैल 1948 में घोषणा की गई। इसके अन्तर्गत यह निर्णय लिया गया है कि सरकार कुटीर तथा लघु उद्योगों के

विकास के लिए आवश्यक प्रयास करेगी। स्थानीय संसाधनों के उपयोग के लिए इन इकाईयों को उपयुक्त माना गया। कुछ आवश्यक वस्तुओं से उत्पादन में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने के लिये इन्हें माध्यम माना गया। सरकार ने इन इकाइयों के विकास के लिए कुटीर तथा लघु उद्योग निदेशालय की स्थापना का भी निर्णय लिया।

औद्योगिक नीति, 1556 - अप्रैल 1956 में घोषित इस औद्योगिक नीति में इन इकाईयों की महत्ता को स्वीकार किया गया। सरकार ने यह स्पष्ट किया कि सरकार का इन इकाइयों के सम्बन्ध में यह उद्देश्य होगा कि विकेन्द्रीकृत क्षेत्र आत्म-निर्भर हो सकें तथा इसका विकास बड़े पैमाने के उद्योग के साथ एकीकृत हो सके। सरकार इसके लिए उन उपायों को अपनाने पर ध्यान केन्द्रित करेगी जो लघु-स्तरीय उत्पादों की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता में सुधार ला सकें। सरकार ने यह भी स्पष्ट किया कि इन इकाईयों के विकास का निदेशात्मक सिद्धान्त समता तथा न्याय संगत होगा। सरकार ने इस औद्योगिक नीति में यह स्पष्ट किया कि लघु-स्तरीय उद्योग तात्कालिक बड़े पैमाने पर रोजगार प्रदान करता है। राष्ट्रीय आय के वितरण की अधिक न्यायसंगत विधि उपलब्ध कराता है तथा पूँजी एवं हुनर जैसे संसाधनों को प्रभावकारी गतिशीलता प्रदान करता है जो इनके बिना उपयोग से वंचित रह जायेंगे। इस प्रकार से इस नीति में देश के विकास में इन उद्योगों की महत्ता की स्वीकार किया तथा इनके लिये कतिपय सुविधायें उपलब्ध कराने की योजना बनाई। औद्योगिक बस्ती का विकास तथा ग्रामीण समुदाय कारखानों के संगठन का भी निर्णय लिया गया। इन उद्योगों के लिये आवश्यक टैक्नालॉजी प्रदान करने का भी निर्णय लिया।

औद्योगिक नीति 1991-24 जुलाई 1991को सरकार ने नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसके अन्तर्गत उदारीकरण तथा वैश्वीकरण की नीति अपनायी गई। लघु क्षेत्र के लिए भी नई नीति की घोषणा की जिसने इन इकाइयों को समुचित प्रोत्साहन मिल सके। लघु क्षेत्र के लिए इस नई नीति की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं -

1. इन लघुस्तरीय इकाइयों की स्थापना तथा विकास के लिये विनियमतीकरण (Deregulation) लालफीताशाही (Red-tapism) या नौकरशाही (Bureaucratisation) से दूरी तथा सम्बन्धित नियमों को आसान बनाया जायेगा।
2. उद्योग सम्बन्धी सेवाओं तथा व्यावसायिक उपक्रमों को आवश्यक महत्ता प्रदान की जायेगी।
3. इन लघुस्तरीय क्षेत्र के अबाध तथा व्यवहार्य संचालन के लिए पर्याप्त तथा नियमित साख या पूँजी उपलब्ध करायी जायेगी।
4. कुछ विशिष्ट लक्ष्य दलों को छोड़कर अन्य लघुस्तरीय इकाइयों को सस्ती या

आर्थिक सहायता युक्त साख या पूँजी उपलब्ध कराने की नीति परिवर्तन किया जायेगा।

5. पूँजी बाजार तक पहुँच पाने के लिये अन्य औद्योगिक उपक्रमों के द्वारा 24 प्रतिशत समता अंश में सहभागिता दी जायेगी।
6. उचित अधिनियम पारित किया जायेगा जो लघु उद्योगों के बिलों का शीघ्र भुगतान करा सके।
7. ग्रामीण तथा पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयाँ जो लघु उद्योगों के बिलों का शीघ्र भुगतान करा सकें।
8. टेक्नालॉजी विकास सेल (Technology Development Cell) की स्थापना लघु उद्योग विकास संगठन (SIDO) के अन्तर्गत किया जायेगा जिससे इनकी टैक्नालॉजी में सुधार लाया जाये, उत्पादकता बढ़ाई जाये तथा प्रति-स्पर्धात्मक क्षमता बढ़ाई जाये।
9. सहकारी समितियों, सार्वजनिक संस्थाओं तथा अन्य विशिष्ट विपणन एजेन्सियों के माध्यम से लघु इकाईयों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का विपणन संवर्द्धन किया जायेगा।
10. लघु उद्योग विकास संगठन (SIDO) के अन्तर्गत निर्यात विकास केन्द्र की स्थापना की जायेगी।
11. सीमित दायित्व के लिये साझेदारी अधिनियम अपनाया जायेगा जिससे कि नये तथा निष्क्रिय साझेदार/उद्यमी का दायित्व सीमित हो सके। साथ ही, विदेशी कम्पनी की भागीदारी भी 24 प्रतिशत तक संभव हो सके।

2.3.1 सरकारी नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन -

उदारीकृत नीति के अन्तर्गत सरकार ने इन लघु इकाइयों को भी नियमों तथा नौकरशाही से मुक्त कराने का प्रयास कर इन इकाइयों के विकास के लिये नवीन दिशा-निर्देश दिया है। साथ ही इन इकाइयों से भारतीय तथा विदेशी कम्पनियों की भागीदारी भी सुनिश्चित किया है। साथ ही उदारीकरण के उपरान्त बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से देशी कम्पनियों की प्रतिस्पर्द्धा बढ़ गई है। इससे इन लघु इकाइयों को भी बड़ी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ रहा है। सरकार ने इस नीति के अन्तर्गत इन इकाइयों को जो आरक्षण प्राप्त था, उसे भी धीरे-धीरे नगण्य सा कर दिया है। इसके कारण घरेलू कम्पनियों से भी इन्हें प्रतिस्पर्द्धा करना पड़ रहा है। सीमित साझेदारी के लिये सूक्ष्म, लघु तथा मध्यम उद्यम विकास अधिनियम, 2006 में पारित किया गया है जिससे विकास की संभावना भी बढ़ गयी है। इस अधिनियम में, इन तीनों प्रकार के उद्यमों की नवीन परिभाषा भी

दी गई है। सरकार ने इस नीति के अन्तर्गत इन इकाइयों की बढ़ती हुई रूग्णता के विषय में कुछ भी स्पष्ट नहीं किया है। इन रूग्ण इकाइयों का पुनरोद्धार करना अत्यन्त आवश्यक है जिसके लिये यह नीति कुछ भी स्पष्ट नहीं करती। वास्तव में केवल नीति बनाने से ही नहीं अपितु नीतियों के सुचारू रूप से कार्यान्वित करने की अत्यधिक आवश्यकता है परन्तु इस नीति में, इस सम्बन्ध में कोई ठोस कार्यवाही इंगित नहीं की है। नौकरशाही या लालफीताशाही से मुक्ति की घोषणा तो की है किन्तु इससे मुक्ति पाना व्यवहार में आसान नहीं है।

2.4 सारांश

भारत जैसे विकाशील देश में, लघु इकाइयों की अत्यधिक महत्ता है। इनकी स्थापना कम पूँजी से कहीं भी की जा सकती है। रोजगार का अवसर बढ़ाने में, श्रम सघन इकाइयों की स्थापना करने में, स्थानीय संसाधनों के उचित उपयोग में संतुलित क्षेत्रीय विकास करने में तथा राष्ट्रीय आय के न्यायोचित वितरण में इन इकाइयों का महत्व अत्यधिक है। इनकी स्थापना तथा संचालन में सामाजिक लागत भी अपेक्षाकृत कम है। सरकार ने औद्योगिक नीति के अन्तर्गत लघु स्तरीय इकाइयों के सम्बन्ध में अपनी नीतियों को स्पष्ट किया है। वर्तमान नीतियों में जो 1991 में घोषित की गई, इन इकाइयों के विकास पर जोर दिया है तथा इनके सम्बन्ध में भी उदारीकरण की नीति अपनाई गई। घरेलू तथा विदेशी कम्पनियाँ भी इनमें भागीदारी कर सकती हैं।

2.5 स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. भारत जैसे विकासशील देशों में, लघु इकाइयों की महत्ता की विवेचना कीजिये।
2. रोजगार प्रोत्साहन, आय के न्यायोचित वितरण तथा सन्तुलित क्षेत्रीय विकास की दृष्टि से लघु इकाइयों की महत्ता की व्याख्या कीजिये।
3. क्या आप सहमत हैं कि लघु इकाइयों की सामाजिक लागत आपेक्षाकृत कम है? स्पष्ट कीजिये।
4. वर्तमान औद्योगिक नीति में लघु इकाइयों के संदर्भ में दी गई नीति की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।
5. लघु इकाईयों के लिए सरकारी नीति का अलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।

2.6 संदर्भ ग्रन्थ

1. Josheph L. Massie, Essentials of Management, Prentice Hall of India. 2000.

2. George R. Terry. Principles of Management, A.I.T.B.S.
3. John F. Mee. International Handbook of Management, Mc Graw Hill Book, New York, 1965.
4. Henri Fayol, Industrial and General Administration, International Management Institute, General, 1930.
5. Peter F. Drucker, Management, Tasks, Responsibilities Practices, Allied Publishers, 1973.
6. E.F.L. Brech, Management Its nature and Significance. Sir Isaac Pitman, London, 1967.
7. Louis A. Allen, Management and Organisation, Mc. Graw Hill, 1958.
8. एस0 सी0 सक्सेना, व्यवसाय प्रशासन एवं प्रबन्ध, साहित्य भवन, आगरा 2002।

इकाई 3 : लघु इकाइयों में उत्पादन प्रबंध

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 उत्पाद नियोजन एवं विकास

3.2.1 उत्पाद विकास

3.2.2 नवीन उत्पाद विकास की अवस्थायें

3.3 स्टॉक एवं उसका नियंत्रण

3.3.1 स्टॉक नियंत्रण के उद्देश्य

3.3.2 स्टॉक के नियंत्रण के लिये आवश्यक तत्व

3.3.3 स्टॉक नियंत्रण की विधियाँ

3.3.4 ए0बी0सी0 विश्लेषण

3.3.5 वेड विश्लेषण

3.4 सम-विच्छेद बिन्दु विश्लेषण

3.4.1 रेखाचित्रीय विधियाँ

3.4.2 सम-विच्छेद चार्ट बनाने की विधियाँ

3.4.3 सम-विच्छेद चार्ट के लाभ

3.44 सम-विच्छेद चार्ट की सीमायें

3.5 लागत का महत्व एवं प्रकार

3.5.1 लागत वर्गीकरण

3.6 उत्पाद की गुणवत्ता

3.6.1 गुणवत्ता लागत के प्रकार

3.6.2 गुणवत्ता लागत रिपोर्ट

3.7 सारांश

3.8 स्वमूल्यांकन प्रश्न

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको

- उत्पादन नियोजन एवं विकास के विषय में जानकारी प्राप्त हो सकेगी,
- स्टॉक के प्रकार, स्टॉक प्रबंधन के उद्देश्यों की जानकारी होगी,
- स्टॉक नियंत्रण के आवश्यक तत्व तथा उसके नियंत्रण की विधियों की जानकारी होगी,
- सम-विच्छेद बिन्दु विश्लेषण का अर्थ, विधियाँ तथा इसकी सीमाओं की जानकारी हो सकेगी,
- प्रबन्धन के सम्बध में लागतों के वर्गीकरण की जानकारी होगी तथा,
- उत्पाद की गुणवत्ता की उपयोगिता, गुणवत्ता लागत के प्रकार तथा गुणवत्ता लागत रिपोर्ट की जानकारी प्राप्त होगी।

3.1 प्रस्तावना

लघु इकाइयाँ निर्माण तथा गैर-निर्माणी दोनों ही प्रकार की होती हैं। निर्माण इकाइयों द्वारा वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। उत्पादन के लिए आवश्यक संसाधन-पूँजीश्रम, कच्चा माल, शक्ति आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है। कच्चे माल को निर्मित माल में परिवर्तन करने की प्रक्रिया ही उत्पादन कहलाती है। सामान्यतया, लघु इकाइयाँ श्रम सघन तकनीक (labour intensive technique) उत्पादन के लिए अपनाती हैं। इससे अधिकांश लोगों को रोजगार प्राप्त होता है। इनकी अपेक्षाकृत, बड़ी कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए पूँजी गहन (capital intensive) तकनीक को अपनाती हैं जिसमें श्रमिक का कम तथा पूँजी का अधिक उपयोग किया जाता है। उत्पादन प्रबन्ध के सम्बन्ध में, निम्नलिखित प्रमुख विचारणीय विषय हैं जिनका अध्ययन इस इकाई में किया जायेगा :-

1. उत्पादन नियोजन एवं विकास
2. स्टॉक एवं उस का नियंत्रण
3. सम-विच्छेद बिन्दु विश्लेषण
4. लागत का महत्व एवं प्रकार
5. उत्पाद की गुणवत्ता

इनका विस्तृत अध्ययन एक-एक करके हम करेंगे।

3.2 उत्पाद नियोजन एवं विकास (Product Planning and development)

बड़ी इकाइयों की तरह लघु इकाइयों में भी उचित ढंग से उत्पाद नियोजन तथा उत्पाद विकास पर समुचित ध्यान देना चाहिए। उत्पाद नियोजन में इकाई के प्रबन्धकों को यह निर्णय लेना होता है कि इकाई की उत्पाद-पंक्ति में कौन-कौन सी उत्पाद होनी चाहिए।

वास्तव में, उत्पाद नियोजन ''उत्पाद प्रबंध का वह भाग है जो उत्पाद की संभावनाओं का निर्धारण करता है और किन उत्पादों का विपणन एवं उनका परित्याग करना है इसे निश्चित करता है तथा विपणन किये जाने वाले उत्पादों की विशेषताओं को निश्चित करके उन्हें उत्पादों में सम्मिलित करता है।''

इस प्रकार उत्पादन नियोजन में निम्नलिखित बातें सम्मिलित की जाती हैं :

अ. उत्पाद के बारे में खोज-बीन,

ब. व्यावहारिकता का पता लगाना,

स. वर्तमान उत्पाद में आवश्यक परिवर्तन, तथा

द. उत्पाद-परित्याग

उपर्युक्त बातें, उत्पाद नियोजन की विशेषताओं को इंगित करती हैं।

आजकल प्रत्येक व्यावसायिक इकाई के प्रबन्धक उत्पादन नियोजन पर विशेष रूप से ध्यान देते हैं। उत्पाद नियोजन तथा विपणन में गहरा अन्तर्संबन्ध है। यदि उत्पाद नियोजन सुचारू रूप से नहीं किया जाता है तो न तो उस वस्तु का विक्रय सुचारू रूप से हो पायेगा और न ही ग्राहकों को उनकी इच्छानुसार उत्पाद प्राप्त हो सकेगा। उत्पादन नियोजन करके ही उत्पादन में वे सभी विशेषतायें लाई जाती हैं जिनकी इच्छा व माँग ग्राहक करते हैं और जिससे उन्हें सन्तुष्टि मिल सके। यदि उत्पाद नियोजन ढंग से नहीं किया जाता है तो उत्पादन की प्रक्रिया भी नियोजित ढंग से नहीं की जा सकेगी। उस स्थिति में, व्यवसाय भाग्य भरोसे ही चलेगा। बिना उचित उत्पाद नियोजन व उत्पाद विकास के व्यवसाय को आज के स्पर्धात्मक युग में, पर्याप्त सफलता मिलने में कठिनाई होगी।

3.2.1 उत्पाद विकास (Product development)

उत्पाद विकास का तात्पर्य उत्पाद के बारे में यह पता लगाना होता है कि उसका उत्पादन तकनीकी तथा वाणिज्यिक आधार पर हो सकता है या नहीं।

उत्पाद विकास का अभिप्राय, उत्पाद रेखा में नवीन उत्पादों को जोड़ने तथा चालू

उत्पादों के डिजाइनों, आकारों, उपयोगों, पैकेजिंग आदि में सुधार करने या उत्पादों को उत्पाद रेखा से त्यागने से है। यदि किसी उत्पाद की माँग कम हो जाये और उत्पादन की दृष्टि से पर्याप्त न रह जाये तो उसका उत्पादन बन्द ही कर देना चाहिए।

3.2.2 नवीन उत्पाद विकास की अवस्थायें

किसी नये उत्पाद का विकास करने के लिए उचित ढंग से विचार कर उसके बारे में आवश्यक छान-बीन करनी आवश्यक होती है। छान-बीन के परिणामों का उचित ढंग से विश्लेषण भी किया जाना चाहिए। नये उत्पाद के विकास की निम्नलिखित छः अवस्थायें होती हैं :

1. नये विचार

↓

2. विचारों की छानबीन

↓

3. व्यावसायिक विश्लेषण

↓

4. उत्पाद विकास

↓

5. परीक्षात्मक विपणन

↓

6. उत्पाद का वाणिज्यीकरण

इन अवस्थाओं का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :

1. **नये विचार (New Ideas) :** व्यावसायिक वातावरण व स्थिति के अनुसार प्रबन्धकों के मन में नये-नये उत्पाद के विषय में विचार उत्पन्न होते रहते हैं। सभी विचारों को मूलरूप देना व्यावहारिक नहीं होता। केवल उन्हीं विचारों को अपनाया जाता है जो व्यावहारिक दृष्टि से सबसे अच्छे व उचित हों।

2. **विचारों की छान-बीन (Screening of ideas) :** व्यवहार में सभी विचारों को कार्यरूप में परिणित नहीं किया जा सकता। न तो यह आवश्यक है और न ही इसके लिए आवश्यक संसाधन उपलब्ध होते हैं जिनका उपयोग किया जा सके। छान-बीन करके यह पता लगाया जाता है कि सीमित संसाधन के अन्तर्गत किस उत्पाद को उत्पाद रेखा में सम्मिलित किया जाये। इसके लिये,

विचारों का मूल्यांकन करके सर्वोचित विचार का चुनाव किया जाना चाहिए। इस तरह से किसी निश्चित उत्पाद को छाँटना ही Screening कहलाता है।

3. **व्यावसायिक विश्लेषण (Business Analysis)** :विचारों की छान-बीन करने के उपरान्त, विश्लेषण करके यह पता लगाया जाता है कि नये उत्पाद के सम्बन्ध में

   अ. लागत व भावी बिक्री

   ब. लाभ, तथा

   स. उसके प्रतिफल का प्रतिशत क्या होगा? यह भी निश्चित करना होता है कि यह निर्माता के उद्देश्य के अनुकूल है या नहीं

4. **उत्पाद विकास - (Product development) :** विचार को साकार रुप प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि यह पता लगाया जाय कि तकनीकी व वाणिज्यिक दृष्टि से इसे कार्य रूप में परिणत किया जा सकता है अथवा नहीं। उसके उपरान्त ही उत्पादन विकास किया जाना चाहिए।

5. **परीक्षात्मक विपणन (Test Marketing)** : नये उत्पाद का उत्पादन करके ग्राहकों के समक्ष प्रस्तुत करने से पूर्व यह आवश्यक होता है कि उसका परीक्षात्मक विपणन किया जाय। इससे ग्राहकों की प्रतिक्रिया की जानकारी होगी। तद्नुरूप उस उत्पाद में यथावश्यक परिवर्तन भी किया जाना चाहिए।

6. **उत्पाद का वाणिज्यीकरण (Commercialization of Product):** नये उत्पाद के परीक्षणात्मक विपणन के उपरान्त ही नये उत्पाद के उत्पादन का प्रश्न उठता है। इस सम्बन्ध में यह देखना होता है कि वाणिज्यिक दृष्टि से उस नये उत्पाद का उत्पादन व विक्रय लाभप्रद होगा अथवा नहीं।

इस प्रकार नवीन उत्पाद के विकास के सम्बन्ध में सुचारू रूप से उपर्युक्त वर्णित अवस्थाओं के आधार पर ही सही निर्णय लिया जाना चाहिए जिससे संस्था को भविष्य में किसी कठिनाई का सामना न करना पड़े तथा वह पर्याप्त लाभ अर्जित कर सके।

3.3 स्टॉक एवं उसका नियंत्रण (Stock and its control)

उत्पादन में स्टॉक का अत्यधिक महत्व है। इसे न कम होना चाहिए, न ही अधिक। यह उत्पादन एवं वितरण के मध्य एक बहुत बड़ी कड़ी है और इन दोनों में सम्बन्ध स्थापित करता है। इकाई की सबसे बड़ी चल सम्पत्ति होने के कारण इसका प्रभाव लाभोपार्जन पर पड़ता है। कार्यशील पूँजी के रूप में स्टॉक के माध्यम से आय अर्जित

की जा सकती है। इस दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्टॉक का कुशल प्रबन्धन किया जाये। स्टॉक मूलतया, तीन प्रकार के होते हैं:-

1. **कच्चा माल, आपूर्ति एवं लघु संघटक (Raw material, Supplies and Small Components)**

कच्चे माल का संग्रहण भावी उत्पादन के लिए आवश्यक होता है। इसी की सहायता से माल तैयार किया जाता है। सूती वस्त्र के लिये कपास, तेल के लिये तिलहन तथा सिगरेट के लिए तम्बाकू कच्चा माल है। इसके अतिरिक्त, ईंधन, कोयला, तेल तथा रासायनिक पदार्थ आदि का भी उपयोग उत्पादन के लिये थोड़ी-थोड़ी मात्रा में किया जाता है। इन्हें ही आपूर्ति तथा लघु संघटक के नाम से जाना जाता है। इनमें अपेक्षाकृत कम पूँजी लगती है।

2. **निर्माणाधीन या अर्द्धनिर्मित स्टॉक (Work in Progress)**

यह न तो कच्चा माल होता है न ही निर्मित माल। इसमें उन सभी माल को सम्मिलित किया जाता है जिन पर उत्पादन प्रक्रिया चल रही है। सूती वस्त्र उद्योग में कता सूत, बुना कपड़ा और रंगा कपड़ा यदि पूर्णतया निर्मित नहीं है तो इसी वर्ग में रखा जाता है।

3. **निर्मित माल (Finished Goods)**

वस्तु के उत्पादन के बाद, जो माल स्टॉक के रूप में रहता है उसे निर्मित माल का स्टॉक कहते हैं। यह निर्मित माल का वह भाग है जिसे इकाई बाजार में बेच नहीं पाती है और जिसका विक्रय उस अवधि के बाद संभव है। बिना बिके माल का स्टॉक सम्बन्धित इकाई के लिए समस्या का कारण भी हो सकता है।

कुशल स्टॉक प्रबंधन के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्टॉक का उचित नियंत्रण किया जाय। स्टॉक नियंत्रण का तात्पर्य ''माल की पर्याप्त मात्रा को स्टॉक में रखने की उस क्रिया से है जिसमें आवश्यक रूप में बड़ी मात्रा में स्टॉक एकत्रित किये बिना सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करे।'' स्टॉक नियंत्रण का उद्देश्य यह देखना होता है कि स्टॉक की पर्याप्त मात्रा ही रहे, न तो कम न अधिक। वास्तव में स्टॉक में संस्था की पूँजी विनियोजित होती है। अतः उसका कुशल प्रबंधन अत्यन्त आवश्यक है।

3.3.1 स्टॉक नियन्त्रण के उद्देश्य (Object of inventry control)

स्टॉक नियन्त्रण का आधारभूत उद्देश्य ठीक समय पर ठीक साधन से ठीक मात्रा में ठीक मूल्य पर ठीक गुण वाले माल का आदेश या आर्डर देना है। इससे स्कन्ध में होने वाला विनियोग न्यूनतम रहता है और व्यवसाय की लाभोपार्जन क्षमता

पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता है। स्टॉक नियन्त्रण के निम्नलिखित उद्देश्य हैं जो आधारभूत उद्देश्य पर आधारित है :-

1. अच्छी ग्राहक सेवा - उत्पादित एवं विक्रय योग्य माल का पर्याप्त रहतिया रखना भी स्टॉक नियन्त्रण का उद्देश्य है। इसके द्वारा ग्राहकों से प्राप्त आदेशों का शीघ्रतापूर्वक निष्पादन हो जाता है। यह न केवल ग्राहकों की अपेक्षाओं को पूरा करती हैं बल्कि उनकी आवश्यकतानुसार माल को उपलब्ध कराती है।

2. उत्पादन प्रक्रिया में निरन्तरता बनाये रखना - निर्माणी संस्थानों में स्टॉक नियन्त्रण उत्पादन प्रक्रिया को चालू रखने के लिए भंडार में पर्याप्त मात्रा में रहतिया की व्यवस्था करता है। उत्पादन कार्य में अवरोध को रोकने के लिये आवश्यकता से कम स्टॉक का होना व्यवसाय के हितों के अनुकूल नहीं होता है। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक स्टॉक होने पर व्यवसाय की सीमित पूँजी व्यर्थ में रहतिया में फंसी रहती है।

3. पूँजी का प्रभावपूर्ण उपयोग - आवश्यकता से अधिक कच्चे माल अथवा निर्मित माल के स्टॉक रखने से व्यर्थ में ही संस्था की बहुमूल्य पूँजी फँस जाती है और संस्थान की अन्य वित्तीय आवश्यकताओं के लिए पूंजी की कमी महसूस होने लगती है। स्टॉक नियन्त्रण, स्टॉक की उस अधिकतम मात्रा को निश्चित करता है जो उत्पादन, विक्रय और संग्रहण के चक्र को बनाये रखने के लिए आवश्यक हो।

4. क्रय लागतों में मितव्ययिता - स्टॉक नियन्त्रण का उद्देश्य माल का ऐसी मात्राओं में क्रय किया जाना है जिन पर क्रय एवं वाहन लागतें न्यूनतम हों। माल को ऐसे बाजारों से खरीदना चाहिये जहाँ क्रय की अनुकूल शर्तें हों।

5. हानियों की जोखिम को कम करना - स्टॉक नियनत्रण का उद्देश्य विभिन्न कारणों से होने वाली हानियों के जोखिम को कम करना है। कच्चे माल एवं निर्मित माल का रहतिया उस स्तर पर रखा जायेगा जिससे क्रय के निर्माण के समय माल के मूल्य में कमी और अप्रचलन न हो और विक्रय के समय भी चोरी और बरबादी न हो।

3.3.2 स्टॉक नियन्त्रण के लिए आवश्यक तत्व (Essentials for Inventory Control)

किसी भी संस्थान में प्रभावशाली स्टॉक नियन्त्रण व्यवस्था होना अपरिहार्य है। इस हेतु कुछ आवश्यक तत्वों का समावेश स्टॉक नियन्त्रण व्यवस्था में होना चाहिए जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैंः

1. रहतिया का वर्गीकरण एवं पहचान (Classification and identification of Inventories) : रहतिया को सामान्यतया कच्चा माल, निर्मित माल और अद्धनिर्मित माल के वर्गों में विभाजित किया जाता है। इन वर्गों को भी कई उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक प्रभावशाली स्टॉक नियन्त्रण व्यवस्था के लिए स्टॉक के विभिन्न मदों का संहिताकरण (Codification) आवश्यक है जिससे इन मदों को आसानी से पहचाना जा सके। ए0बी0सी0 विश्लेषण तकनीक के अन्तर्गत माल का वर्गीकरण मूल्य के आधार पर किया जाता है। 'अ' श्रेणी में अधिक मूल्यवान, 'ब' श्रेणी में अपेक्षाकृत कम मूल्यवान और 'स' श्रेणी में सबसे कम मूल्य वाले रहतिया मदों को रखा जाता है। सबसे ज्यादा नियन्त्रण 'अ' वर्ग की मदों पर रखा जाता है और सबसे कम नियन्त्रण 'स' वर्ग की मदों पर होता है।

2. रहतिये का प्रमापीकरण एवं सरलीकरण (Stansardisation and simplification of inventories) : रहतिया नियन्त्रण प्रमापीकृत एवं सरलीकृत होनी चाहिए। अच्छी किस्म का माल प्रयोग करने की दृष्टि से प्रत्येक माल के गुण किस्म व आकार के बारे में प्रमाप तय करना प्रमापीकरण कहलाता है। प्रमापित माल को बाजार में आसानी से बेचा जा सकता है। सरलीकरण में माल की अनेक किस्मों के स्थान पर चुनी हुई कम से कम किस्मों का निर्धारण करना है। ऐसा करने से कम प्रकार के माल रखने की आवश्यकता होती है। प्रमापीकरण एवं सरलीकरण से रहतिया नियन्त्रण का कार्य सुगम हो जाता है।

3. योग्य एवं अनुभवी कर्मचारी (Qualified and Experienced Personnel) : रहतिया नियन्त्रण व्यवस्था का संचालन कर्मचारियों द्वारा होता है जिसका अन्य कोई विकल्प नहीं हो सकता है। मानवीय रूचि एवं योग्यता के द्वारा ही व्यवस्था की कमियों को सुधारा जा सकता है। इसके लिए व्यावसायिक संस्थान में न केवल उच्च प्रबन्धकीय स्तरों पर बल्कि निम्न प्रबन्धकीय स्तरों व कर्मचारियों को योग्य एवं अनुभवी होना चाहिए जिससे वे रहतिया नियन्त्रण व्यवस्था का सही लेखा-जोखा रख सकें और नियंत्रण व्यवस्था में सक्रियता प्रदान करें।

4. रहतिया लेखांकन की उचित एवं पूर्ण व्यवस्था (Proper and complete system of invenroty accounting) स्टॉक नियन्त्रण के लिये संस्था में एक ऐसी रहतिया लेखांकन व्यवस्था होनी चाहिए जो न केवल पूर्ण हो बल्कि व्यवसाय की आवश्यकताओं के भी अनुरूप हो। इसके लिए विभिन्न प्रकार की पुस्तकों जैसे- सामग्री प्राप्ति पुस्तक, सामग्री हस्तान्तरण बही, सामग्री निर्गमन पुस्तक, सामग्री वापसी बही और स्टोर्स लेजर रखनी आवश्यक है। रहतिया नियन्त्रण व्यवस्था

की परिशुद्धता के लिए प्रमापित एवं छपे हुए प्रपत्रों का उपयोग आवश्यक है। सामग्री माँग पत्र, सामग्री वापसी पत्र सामग्री हस्तान्तरण पत्र, क्रय अधिग्रहण पत्र, सामग्री प्राप्ति पत्र और बिन कार्ड के प्रयोग द्वारा रहतिया लेखांकन प्रभावपूर्ण हो सकता है।

5. रहतिया स्तरों का निर्धारण (Determination of Inventory Levels) : स्टॉक नियन्त्रण के लिए संस्थान को रहतिया का अधिकतम स्तर, न्यूनतम स्तर, पुनः आदेश स्तर और औसत स्तर का निर्धारण कर लेना चाहिए। इससे रहतिया व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुरूप होगा। आवश्यकता से कम रहतिया तथा आवश्यकता से अधिक रहतिया दोनों ही व्यवसाय के लिए लाभप्रद नहीं होता है।

6. पर्याप्त संरक्षण और हस्तगन सुविधाएँ (Adequate Storage and Handling Facilities) : स्टॉक नियन्त्रण व्यवस्था में संरक्षण व हस्तगन लागत न बढ़े। अव्यवस्थित गोदामों में स्टॉक रखने से न केवल संरक्षण लागतें बढ़ जाती हैं बल्कि इससे माल के प्रयोग की लागत भी अनावश्यक रूप से ज्यादा हो जाती है।

3.3.3 स्टॉक नियन्त्रण की विधियाँ (Techniques of Inventory Control)

स्टॉक नियन्त्रण व्यवस्था को प्रभावशाली बनाने के लिए एक उपक्रम में स्टॉक नियन्त्रण की विभिन्न विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। कुछ प्रमुख विधियाँ इस प्रकार है :

1. आर्थिक आदेश मात्रा
2. पुनः आदेश बिन्दु
3. रहतिया स्तरों का निर्धारण
4. ए0बी0सी विश्लेषण
5. वेड विश्लेषण

1. आर्थिक आदेश मात्रा (Economic Order Quantity) : आर्थिक आदेश मात्रा का निर्धारण रहतिया नियन्त्रण के दृष्टिकोण से अन्यन्त महत्वपूर्ण है। यह आदेश की वह मात्रा है जिस पर न्यूनतम व्यय हो। इस तकनीक के पीछे छुपा दर्शन यह बतलाता है कि संस्थान की माल सम्बन्धी आवश्यकताएँ दो रूपों मे पूरी की जा सकती हैं। प्रथम, पूरे वर्ष के लिए आवश्यक मात्रा को केवल एक बार खरीद कर रहतिया के रूप में रखना। इससे वर्ष भर स्टॉक को रखने की लागत में वृद्धि होगी। स्टॉक रखने की लागत में पूँजी पर ब्याज, बीमा व्यय, रखने-उठाने के व्यय, क्षय की लागत, अप्रचलन की लागत, संग्रह लागतें और अंकेक्षण लागतों को शामिल किया

जाता है। द्वितीय वर्ष भर की आवश्यकता को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न समय पर क्रय करने में बार-बार आदेश देने के कारण आदेश लागत में वृद्धि हो जायेगी। इन लागतों को क्रय लागत (Buying Cost) भी कहते हैं क्रय तथा आदेश विभाग में नियुक्त कर्मचारियों का वेतन, आदेश एवं अनुवर्तन के लिये स्टेशनरी, डाक व्यय और टेलीफोन व्यय तथा लेखांकन एवं भुगतान सम्बन्धी व्ययों को इन लागतों में सम्मिलित किया जाता है। आर्थिक आदेश मात्रा रहतिया रखने की लागत तथा आदेश देने की लागत में सन्तुलन स्थापित करके सम्बन्धित लागत को कम से कम रखता है। स्टॉक की इस सन्तुलित बिन्दु पर निर्धारित मात्रा को ही आर्थिक आदेश मात्रा (Economic Order Quantity) कहते हैं। इस मात्रा की गणना करने की निम्नलिखित तीन विधियाँ हैः-

1. **विश्लेषणात्मक विधि (Analytical Method) :** इस विधि के अन्तर्गत माल अथवा सामग्री की वार्षिक उपभोग मात्रा को भिन्न-भिन्न आकार के आदेशों में विभाजित कर लिया जाता है। प्रत्येक आदेश के आकार की आदेशन लागत और रहतिया रखने की लागत ज्ञान कर इन दोनों को जोड़ लिया जाता है। जिस आकार के आदेश पर कुल लागत न्यूनतम आती है उसी को आर्थिक आदेश मात्रा मान लिया जाता है। यह विधि सरल है लेकिन इसमें आर्थिक आदेश मात्रा ज्ञात करने में काफी गणनाएँ करनी पड़ती हैं। इसे भूल एवं सुधार विधि (Trail and Error Method) भी कहते हैं।

2. **बीजगणितीय विधि (Alegebraic Method) :** यह विधि सबसे ज्यादा प्रचलित है। इसे वर्गमूल सूत्र (Square Root Formula) या विल्सन सूत्र (Wilson Formula) विधि भी कहते हैं।

3. **पुनः आदेश स्तर (Reorder Level) :** आर्थिक आदेश मात्रा यह बताती है कि कितने आदेश देने चाहिए और प्रत्येक आदेश द्वारा कितनी सामग्री मँगाई जाये। यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि माल के लिए आदेश किस समय दिया जाय। रहतिया के पर्याप्त होने पर दिया जाने वाला आदेश स्टॉक रखवा लागत को बढ़ायेगा जबकि रहतिया के बहुत कम रहने या बिल्कुल समाप्त होने पर आदेश देने की दशा में स्टॉक विहीन लागतें (Stock our cost) बढ़ जायेंगी। ये दोनों ही स्थितियाँ अवांछनीय मानी जाती है और संस्थान को हमेशा यह प्रयत्न करना चाहिये कि ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न न हो। आदेश प्रेषित करने का समय वह होना चाहिए जब स्टॉक की रखाव लागत और स्टॉक विहीन लागत में सन्तुलन स्थापित हो जाये। दूसरे शब्दों में, पुनः

आदेश बिन्दु रहतिया का वह स्तर है जिस पर भण्डार गृह में सामग्री के पहुँचते ही आगे माल मँगाने का आदेश दे देना चाहिए जिससे कि मौजूदा सामग्री के समाप्त होने से पहले ही नया माल प्राप्त हो जाये। उदाहरण के लिए यदि एक संस्थान की आर्थिक आदेश मात्रा 100 इकाईयों की हो, साप्ताहिक उपयोग मात्रा 12.5 इकाईयों की हो तथा आदेश देने और माल प्राप्त करने में दो सप्ताह का समय लगता हो तो भण्डार ग्रह में 25 इकाईयों का शेष होते ही नया आदेश दे दिया जायेगा। भण्डार में 25 इकाईयों का शेष, नया माल प्राप्त होने में लगने वाले दो सप्ताह के उपयोग के लिए पर्याप्त होगा। दो सप्ताह के बाद जैसे ही सामग्री का शेष शून्य होगा वैसे ही भण्डार में आदेशित 100 नयी इकाईयाँ आ जायेंगी। इस उदाहरण में 25 इकाइयों का शेष पुनः आदेश स्तर को दिखलायेगा।पुनः आदेश स्तर की गणना के लिए निम्नलिखित सूचनाओं की आवश्यकता पड़ती हैः-

1. एक अनुमानित प्रतीक्षा अवधि (Lead Time) द्वारा निविदा मंगाने, विभिन्न निर्खों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उपयुक्त विक्रेता को आदेश देना, लिपिकीय देरी, सामग्री की प्राप्ति एवं निरीक्षण और भण्डारगृह तक माल ले जाने व रखने की अवधि को शामिल कर लिया जाता है।
2. दैनिक उपभोग दर (Daily Usage Rate) को वार्षिक उपभोग मात्रा का 360 से विभाजन द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।
3. जिस बिन्दु पर स्टॉक विहीन होने की लागत स्टॉक रखने की लागत के बराबर होगी, वहीं सुरक्षा स्टॉक (Safety Stock) की मात्रा निश्चित होगी। सुरक्षा अवधि को दैनिक उपभोग दर से गुणा करके सुरक्षा स्कन्ध ज्ञात कर लिया जाता है।

पुनः आदेश स्तर की गणना करने की निम्नलिखित दो विधियाँ हैं :

अ. स्टॉक आधार

= (प्रतीक्षा अवधि × दैनिक उपभोग दर) + सुरक्षा स्टॉक

(Lead Time x Usage Rate) + Safety Stock

सुरक्षा स्टॉक की मात्रा का निर्धारण दैनिक उपभोग दर और सुरक्षा अवधि के गणना द्वारा होगा।

ब. अधिकतम उपभोग दर आधार : पुनः आदेश स्तर का निधार्रण अधिकतम उपभोग दर और पुनः आदेश की अधिकतम अवधि के गुणा द्वारा भी सम्भव

है। सूत्र के रूप में

= अधिकतम उपभोग दर × पुन : आदेश की अधिकतम अवधि

(Maximum consumption Rate) x (Maximum Recorder Period)

1– रहतिया स्तरों का निर्धारण (Determination of Inventory Levels) : रहतिया स्तरों का निर्धारण रहतिया नियन्त्रण के लिए बहुत ही लाभकारी है। इन रहतिया स्तरों का निर्धारण पुनः आदेश स्तर की सहायता से होता है। विभिन्न रहतियाँ स्तरों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैः

अ. अधिकतम स्तन्ध (Maximum Stock Level)

रहतिया के प्रत्येक मद के सम्बन्ध में इस अधिकतम सीमा को निश्चित किया जाता है यह स्टॉक की वह सीमा है जिससे अधिक मात्रा भण्डार गृह में साधारणतया नहीं आने दी जाती है। यह अधिकतम स्तर कितना हो, इसके लिए निम्नलिखित तत्वों को विशेष रुप से ध्यान में रखना चाहिए :

1. उपभोग का स्तर ज्यादा होने पर अधिकतम स्टॉक स्तर ऊंचा और उपभोग की मात्रा कम होने पर अधिकतम स्टॉक स्तर नीचा होगा।
2. अच्छे गुण व किस्म की वस्तुओं को अधिक मात्रा में स्टॉक में रखा जा सकता है जबकि शीघ्र खराब होने वाली या खराब किस्म की वस्तु को स्टॉक में कम मात्रा में रखा जायेगा।
3. आदेशित वस्तु प्राप्त करने में लगने वाला समय यदि ज्यादा है तो अधिकतम रहतिया का स्तर ऊँचा और कम समय लगने की सम्भावना पर यह स्तर नीचे होगा।
4. वस्तु के अप्रचलन का भय होने पर रहतिया स्तर नीचे रखना होगा।
5. पूँजी की मात्रा आवश्यकता से अधिक उपलब्ध होने पर रहतिये का स्तर ऊँचा रखा जा सकता है।
6. स्टॉक का बीमा व्यय यदि ज्यादा हो तो स्टॉक का अधिकतम स्तर नीचे रखा जायेगा।
7. पूँजी प्राप्त करने की ब्याज दर में कमी होने पर अधिकतम स्टॉक स्तर ऊंचा रखा जायेगा।
8. भण्डार गृह में जगह की कमी होने पर अधिकतम स्टॉक कम रखा जायेगा।
9. सामग्री के मूल्य बढ़ाने की सम्भावना होने पर स्टॉक की ज्यादा मात्रा रखी जायेगी।

10. माल के मूल्यों में अधिक उतार-चढ़ाव होने पर अधिकतम स्टॉक स्तर भी ऊंचा रखा जायेगा।

अधिकतम रहतिया स्तर निश्चित न होने पर निम्नलिखित सम्भावित हानियाँ हो सकती हैं :

1. पूँजी का अनावश्यक कार्यों में प्रयुक्त होने का भय।
2. आवश्यकता से अधिक रहतिया प्राप्त होने पर संग्रहण की अव्यवस्था का भय।
3. अप्रचलन का भय।
4. स्टॉक रखने की लागतों में वृद्धि

अधिकतम रहतिया स्तर का निर्धारण विशेष रूप से कच्चे माल के रहतिये के सम्बन्ध में होता है। इसके निर्धारण के लिए निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया जाता है :

[अधिकतम उपभोग × न्यूनतम पुनः आदेश अवधि]

Maximum stock level = [recorder level + recorder quantity]

[Minimum consumption x minimum recorder period]

एक प्रत्यक्ष रीति के अन्तर्गत अधिकतम रहतिया स्तर, न्यूनतम रहतिया स्तर और आर्थिक आदेश मात्रा के योग के बराबर भी होता है।

ब. न्यूनतम रहतिया स्तर (Minimum Stock Level)

यह रहतिया की वह न्यूनतम मात्रा है जो हर समय भण्डार गृह में रखी जाती है। सामान्यतया इससे नीचे रहतिया स्तर को गिरने नहीं दिया जाता है। भण्डार गृह में इस स्तर को इसलिए बनाये रखा जाता है कि इसमें कम रहतिया हो जाने से वस्तुओं का उत्पादन कार्य बन्द हो सकता है। इस रहतिया स्तर को निश्चित करने में सामग्री के उपभोग की औसत दर, आदेशिक सामग्री की प्रतीक्षा अवधि, वस्तु की गुण व किस्म सामग्री मूल्यों में परिवर्तन आदि कारकों के प्रभाव को ध्यान में रखा जाता है। न्यूनतम रहतिया स्तर को ही कुछ लोग सुरक्षा स्टॉक (Safety Stock) कहते हैं। वैसे, यह रहतिया स्तर सुरक्षा स्कन्ध स्तर से अपेक्षाकृत अधिक होता है। इसकी गणना के लिए निम्नलिखित सूत्र हैः

न्यन्तम स्टाँक स्तर =

पुनः आदेश स्तर – (सामान्य उपभोग × पुनः आदेश अवधि)

Minimum stock level =

Reorder Level - (Normal Consumption x Reorder Peirod)

स. औसत रहतिया स्तर (Average Stock Level) :

यह उपक्रम का सामान्य रहतिया स्तर है। एक औद्योगिक संस्थान अपने रहतिया प्रबन्ध में यह भी निश्चित करता है कि उसके भण्डार में औसत रहतिया कितना हो। यह न्यूनतम सीमा से अधिक और अधिकतम रहतिया स्तर से कम होता है। औसत रहतिया स्तर वास्तव में अधिकतम रहतिया स्तर और न्यूनतम रहतिया स्तर का औसत होता है इसे ज्ञात करने का एक भिन्न सूत्र इस प्रकार हैः-

औसत रहतिया स्तर = न्यूनतम रहतिया स्तर + 1/2 पुनः आदेश मात्रा

ASL = Minimum Level + 1/2 Recorder Quantity

द. खतरा स्टॉक स्तर (Danger Stock Level) :

कुछ विद्वान खतरा स्टॉक स्तर और न्यूनतम रहतिया स्तर को एक ही मानते हैं। वास्तव में खतरा स्कन्ध स्तर न्यूनतम रहतिया स्तर से कम होता है इस स्तर का निर्धारण निम्नलिखित सूत्र की सहायता से हो सकता है।

खतरा स्टॉक स्तर =औसत उपभोग × संकटकालीन क्रय की अधिकतम अवधि

Danger Stock Level = Average Consumption x Maximum Period for Emergency Purchase.

इस स्तर से रहतिया की मात्रा को किसी भी परिस्थिति में नीचे नहीं गिरने दिया जाता है। इस स्तर से रहतिया कम होने पर माल का क्रय तुरन्त करना चाहिए चाहे उसकी लागत कितनी ही ज्यादा क्यों न हो।

उपरोक्त रहतिया स्तरों की निर्धारित मात्रा के अनुरूप ही सामग्री का क्रय करना चाहिए। व्यवसाय की बदलती परिस्थितियों के अनुसार इन निर्धारित रहतिया स्तरों का समय-समय पर पुनर्निरीक्षण करके संशोधित करते रहने चाहिए।

3.3.4 ए0बी0सी0 विश्लेषण (A.B.C. Analysis)

ए0बी0सी0 विश्लेषण तकनीक का आधार अपवाद द्वारा प्रबन्धक (Management by Exception) है। इस तकनीक के अन्तर्गत स्टॉक में शामिल केवल उन्हीं मदों पर अधिक ध्यान दिया जाता है जो व्यवसाय के लिए अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इस प्रकार यह विश्लेषण स्टाँक नियन्त्रण के अन्तर्गत आवश्यकता के अनुसार

प्रयत्न के सिद्धान्त पर ध्यान केन्द्रित करता है। इसमें सामग्रियों को तीन श्रेणियों में बाँट दिया जाता है। सामग्री लागतों के विश्लेषण से यह प्रकट हो जाता है कि सामग्री की कुछ मदों पर कुल सामग्री लागत का अधिकांश भाग व्यय होता है। कुछ मदें संख्या में से तो काफी होती हैं लेकिन उन पर किया जाने वाला व्यय अत्यल्प होता है। इन दोनों चरण सीमाओं के मध्य सामग्री स्टॉक का एक ऐसा वर्ग होता है जिनकी संख्या एवं मूल्य का प्रतिशत समान होता है। इन तीनों वर्गों को क्रमशः अ,ब, और स वर्ग में रखा जाता है जो इस तकनीक के नाम से भी सम्मिलित है। इस विधि को रहतिया नियन्त्रण की सदैव श्रेष्ठ विधि (Always Better Control method) माना जाता है। उत्पादकता सम्बन्धी भारतीय टीम द्वारा अमरीका, जापान तथा पश्चिमी जर्मनी में रहतिया नियन्त्रण (Inventory Control) सम्बन्धी प्रतिवेदन में ए0बी0सी0 नियन्त्रण के सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया गया हैः

वर्ग	**मदों का प्रतिशत**	**लागतों का प्रतिशत**
अ	8%	75%
ब	25%	20%
स	67%	5%

इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कुल रहतिया को तीन वर्गों में बांटना चाहिए। ए वर्ग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण मूल्यवान और कीमती स्टॉक को रखा जाता है। इन वस्तुओं की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है और ये कुल विनियोजित पूँजी के अधिकतम भाग का प्रतिनिधित्व करती है। इस वर्ग की मदों के सम्बन्ध में नियन्त्रण व्यवस्था कठोर होती है। बी वर्ग में अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण और कम कीमती वस्तुओं को शामिल किया जाता है। ये मदें कुल मदों का लगभग 20प्रतिशत से 25 प्रतिशत के बीच में होती हैं और इनकी लागतें भी प्रतिशत के बीच में होती है। इन मदों पर सामान्य नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। सी वर्ग में सबसे कम महत्वपूर्ण और कम मूल्य वाली वस्तुओं को शामिल किया जाता है। इसमें सबसे अधिक वस्तुएँ होती हैं। जिनका मूल्य कुल स्टॉक से 5 से 10 प्रतिशत के बीच होता है। इन मदों के नियन्त्रण पर अधिक समय एवं लागत लगाना व्यर्थ है। इस वर्ग की मदों को वर्ष में एक ही बार क्रय किया जाता है और इसके नियन्त्रण में बचने वाले समय को ए वर्ग की मदों पर लगाया जाता है। इस तकनीक में स्टॉक की समस्त मदों को उनके महत्व के आधार पर वर्गीकृत करने में प्रबन्ध महत्वपूर्ण मदों के नियन्त्रण पर अधिक ध्यान केन्द्रित करता है और कम महत्वपूर्ण मदों के नियन्त्रण का कार्य लिपि वर्ग पर छोड़ दिया जाता है। इस योजना के क्रियान्वयन में निम्नलिखित कदम उठाने

पड़ते हैं :

1. इकाइयों में संभावित उपयोग के आधार पर स्टॉक की मदों का वर्गीकरण करना।
2. प्रत्येक मद का प्रति इकाई मूल्य निर्धारित करना।
3. प्रत्येक मद की इकाईयों को प्रति इकाई मूल्य से गुणा करके लागत ज्ञात करना।
4. मदों में लागत के अनुसार व्यवस्थित करना।
5. कुछ प्रमुख वर्गों का निश्चय करना।
6. प्रत्येक मद की इकाइयों का सभी मदों की कुल इकाइयों के योग से तथा प्रत्येक मद की कुल लागत का सभी इकाइयों में कुल लागत से प्रतिशत निकालना।
7. सापेक्षित मूल्यों को मिलाकर ए0बी0सी0 वर्ग बनाना।
8. वर्ग के अनुसार ही स्टॉक नियन्त्रण की व्यवस्था करना।

इस तकनीक के निम्नलिखित विशिष्ट लाभ हैं :

1. इससे महँगी मदों पर जिनमें अधिक पूँजी विनियोजित की गई है, कठोर नियन्त्रण सम्भव हो जाता है।
2. इससे संग्रहण लागतों में कमी आती हैं।
3. जहाँ पर यह पद्धति लागू होती है वहाँ व्यवसाय के प्रबन्ध को स्टॉक की सभी मदों पर ध्यान देना पड़ता है। इससे प्रबन्ध के बहुमूल्य समय का अपव्यय होता है। स्कन्ध की कुछ ही मदों पर प्रबन्ध का ध्यान केन्द्रित करके यह पद्धति प्रबन्ध के समय को बचाती है।
4. वैज्ञानिक एवं चयनित नियन्त्रण की सहायता से रहतिया आवर्त की ऊँची दर रखी जा सकती है।
5. इस तकनीक में क्रय अधिक वैज्ञानिक एवं क्रमबद्ध हो जाती है।
6. महँगी मदों पर कठोर नियन्त्रण से संस्था की सीमित पूँजी पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है।
7. सी वर्ग की मदों की रहतिया पर्याप्त मात्रा में रखा जा सकता है और इनका वर्ष में एक बार समूह-क्रय किया जाता है।

8. यह सिद्धान्त अपवाद द्वारा प्रबन्ध के सिद्धान्त पर आधारित है। इसलिये इस सिद्धान्त को लाभदायकता के अतिरिक्त व्यवसाय संचालन के अन्य क्षेत्रों में लागू किया जा सकता है।

3.3.5 वेड विश्लेषण (V.E.D. Analysis)

इस तकनीक का प्रयोग अतिरिक्त पुर्जों के स्टॉक में किया जाता है। इसमें इन अतिरिक्त पूर्जों को निम्नलिखित तीन वर्गों में रखा जाता है।

1. **अत्यावश्यक स्टोर्स (Vital Store)** वे पुर्जे जो संस्था के उत्पादन पर बहुत ज्यादा प्रभाव डालते हैं, इस श्रेणी में रखे जाते हैं। इनकी कमी उत्पादन को लम्बे समय तक बन्द कर देती है। अत्यावश्यक पुर्जों का अभाव खोये हुए उत्पादन की हानि को भी बढ़ाता है।
2. **मूलभूत स्टोर (Essential Stores) :** ये पुर्जे पहले वर्ग की तरह अत्यावश्यक तो नहीं होते हैं लेकिन इनकी कमी कुछ घण्टों या कुछ दिनों से ज्यादा बर्दाश्त नहीं की जा सकती है। संस्था के उत्पादन कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिये इनका भी पर्याप्त मात्रा में होना अनिवार्य है। इसके भी खोये हुए उत्पादन की लागत काफी ऊंची होती है।
3. **वांछनीय स्टोर (Sesirable Stores) :** ये पुर्जे उत्पादन प्रक्रिया के लिये आवश्यक होते हैं। इनका प्रयोग निर्माण क्रियाओं में किया जाता है। इनकी एक सप्ताह या अधिक के लिये अनुपलब्धि उत्पादन को अवरुद्ध नहीं करती है। इसमें उत्पादन की लागत अपेक्षाकृत कम होती है।

स्टॉक नियन्त्रण के लिए वेड विश्लेषण के अन्तर्गत पुर्जो को अत्यावश्यक, मूलभूत तथा वांछनीय वर्गों में विभाजन उत्पादन में न केवल आवश्यकता को बताता है अपितु उत्पादन हानि की संभावना को स्पष्ट करता है।

3.4 समविच्छेद बिन्दु विश्लेषण (Break-Even Point Analysis)

समविच्छेद बिन्दु का अर्थ विक्रय के उस स्तर से लगाया जाता है जहाँ पर अंशदान की राशि स्थिर लागत के ठीक बराबर हो। यहाँ कुल आगम और कुल व्यय बराबर होते हैं और इस बिन्दु पर उत्पादक को न तो लाभ होता है और न हानि।

इस बिन्दु की मात्रा से अधिक विक्रय पर संस्था को लाभ होता है और कम विक्रय होने पर हानि होती है। विभिन्न लेखाशास्त्रियों ने भी अपनी परिभाषाओ में इन्हीं बातों का जिक्र किया है जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

केलर व फेरारे (Kellar and Ferrare) के अनुसार, "किसी कम्पनी या कम्पनी की किसी इकाई का समविच्छेद बिन्दु विक्रय आय का वह स्तर है जो कि इसकी स्थायी और परिवर्तनशील लागतों के योग के बराबर हो।"

क्राउनिंग शील्ड के अनुसार "समविच्छेद बिन्दु वह बिन्दु होता है जिस पर विक्रय आगम वस्तु के बनाने और विक्रय की लागत के बराबर हो और कोई लाभ अथवा हानि न हो।"

हार्नग्रेन के शब्दों में, "समविच्छेद बिन्दु क्रियाशीलता (विक्रय मात्रा) का वह बिन्दु होता है जहाँ कुल आगम और कुल व्यय बराबर होते हैं, इस बिन्दु पर न लाभ होता है और न हानि।"

समविच्छेद बिन्दु की गणना करने के लिए निम्नलिखित दो प्रविधियाँ प्रयोग में लायी जाती है:-

1. **समीकरण विधि -**इस प्रविधि के अन्तर्गत आय और व्यय के विवरणों को समीकरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। चूँकि समविच्छेद बिन्दु पर न तो शुद्ध आय होती है और न शुद्ध हानि, अतः इस समीकरण को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :-

कुल आगम = कुल लागत

= स्थायी लागत + परिवर्तनशील लागत

प्रति इकाई विक्रय मूल्य × समविच्छेद मात्रा = स्थायी लागत + (प्रति इकाई परिवर्तनशील लागत × समविच्छेद विक्रय)

Selling Price per Unit x Break=Even Volume = Fixed Cost + (Variable cost per Unit x Break - Even Sales)

समविच्छेद विक्रय मात्रा ज्ञात करने के लिए समीकरण में इसे X के रूप में व्यक्त किया जाता है।

3.4.1 रेखा चित्रीय विधियाँ (Graphical Methods)

गणितीय विधियों के अतिरिक्त समविच्छेद बिन्दु लाभ-हानि ज्ञात करने के लिये रेखाचित्रीय विधियों को भी अपनाया जाता है। इसका चित्रण अधिक रूचिकर होता है और एक ही दृष्टि में वस्तुस्थिति के विषय में जानकारी प्राप्त हो जाती है। विभिन्न विक्रय या उत्पादन के स्तर पर संस्था की लाभ या हानि तथा लागतों का आसानी से पता लग जाता है। रेखाचित्रीय विधियों का आधार सम विच्छेद चार्ट (Break-Even Chart) है। इस चार्ट को तैयार करने की तीन प्रमुख विधियाँ हैं जिनका विस्तृत अध्ययन आगे किया गया है।

सम-विच्छेद चार्ट उत्पादन, विक्रय तथा लाभ के सम्बन्धों का लेखाचित्रीय विश्लेषण है। इसमें उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर लाभ और हानि के अतिरिक्त वह बिन्दु भी दर्शाया जाता है जहाँ कुल लागत एवं कुल बिक्री बराबर होती है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार से दी हैः-

मैट्ज, करी व फ्रैंक (Matz, Curry and Frank) के शब्दों में 'सम विच्छेद चार्ट उत्पादन या बिक्री तथा लाभ के सम्बन्ध में आरेखीय प्रारूप में विश्लेषण है।''

जे0 बैट्टी के अनुसार, ''एक सम-विच्छेद चार्ट निम्नलिखित को दर्शाता हैः

1. विभिन्न उत्पादन स्तरों पर सम्भाव्य लाभ या हानियाँ।
2. परिवर्तनशील लागतों और स्थायी लागतों के मध्य सम्बन्ध।
3. सीमा सुरक्षा।
4. उत्पादन की एक निश्चित इकाई पर लार्भाजन में वृद्धि की दर।
5. अंशदान और लाभ-मात्रा सम्बन्ध।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि यह चार्ट व्यावसायिक क्रियाशीलता के विभिन्न स्तरों पर स्थायी लागतों, परिवर्तनशील लागतों, कुल लागत, विक्रय तथा लाभ या हानि के मध्य अन्तर्सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। इसे उत्पादन सीमा स्तर चार्ट भी कहते हैं।

सम-विच्छेद चार्ट की मान्यतायें -

इस चार्ट के निर्माण में निम्नलिखित मान्यताओं को ध्यान में रखा जाता हैः

1. उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर स्थिर व्ययों की राशि समान रहती है।

2. परिवर्तनशील लागतें उत्पादन की मात्रा के अनुसार ही परिवर्तित होती हैं।
3. सभी लागतों को स्थायी और परिवर्तनशील वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है।
4. उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर विक्रय मूल्य स्थिर रहता है। प्रतिस्पर्धा, माँग और पूर्ति के कारकों का विक्रय मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं होगा।
5. विक्रय को रेखाचित्र पर अंकित करने से एक सीधी रेखा बनेगी।
6. उत्पादन और विक्रय में अन्तर नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, आरम्भिक रहतिया और अन्तिम रहतिये का प्रभाव उत्पादन और विक्रय मात्रा पर नहीं पड़ेगा।
7. उत्पादन क्षमता अपरिवर्तित रहेगी।
8. उत्पादन प्रक्रिया में कोई परिवर्तन नहीं होगा।
9. एक से अधिक वस्तुओं का उत्पादन एवं विक्रय होने पर मिश्रण में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

3.4.2 सम-विच्छेद चार्ट बनाने की विधियाँ

सम-विच्छेद चार्ट कई रूपों में बनाये जा सकते हैं। रोकड़ प्रवाह सम-विच्छेद चार्ट, पूँजी सम-विच्छेद चार्ट, विश्लेषण सम-विच्छेद चार्ट और बहु उत्पादन सम-विच्छेद चार्ट का निर्माण विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होता है। एक सामान्य सम-विच्छेद चार्ट निम्नलिखित तीन रूपों में बनाया जाता है :

अ. परम्परागत सम-विच्छेद चार्ट

ब. अंशदान चार्ट

स. लाभ मात्रा चार्ट

अ. परम्परागत सम-विच्छेद चार्ट (Traditional Break-Even Chart) : इस चार्ट को तैयार करने में निम्नलिखित कदम उठाने पड़ते हैं :

1. इस चार्ट के लिए सबसे पहले सम-विच्छेद तालिका बनाई जाती है जिसमें उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर स्थायी लागत, प्रति इकाई परिवर्तनशील लागत, कुल लागत तथा कुल विक्रय मूल्य प्रदर्शित किया जाता है। इसका प्रारूप निम्नांकित है :

उत्पादन स्तर	स्थिर लागत	परिवर्तनशील लागत	कुल लागत	प्रति इकाई विक्रय मूल्य	विक्रय

यह तालिका निम्नतम् उत्पादन स्तर से आरम्भ करके अधिकतम उत्पादन क्षमता तक के विभिन्न उत्पादन स्तरों का विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत करती है।

2. इसके पश्चात् एक आरेख पत्र (Graph Paper) पर दो रेखाएँ खींची जाती हैं- एक पड़ी रेखा (Horizontal Line) तथा एक खड़ी रेखा (Vertical Line)। बायीं तरफ की खड़ी रेखा को कोटि अक्ष और पड़ी रेखा को भुजाक्ष कहते हैं। कोटि Y अक्ष को और भुजाक्ष को X के रूप में दिखाया जाता है। अक्ष पर साधारणतया लागत (cost) तथा आय (Recenue) को दिखाया जाता है। X अक्ष पर निम्न में एक या अधिक तथ्यों को प्रदर्शित किया जाता है। बिक्री की मात्रा (रूपये में) उत्पादन की मात्रा (इकाईयों में अथवा रूपयों में), क्षमता प्रतिशत के रूप में (विक्रय अथवा उत्पादन)। X और Y दोनों अक्षों के लिए उचित पैमाना भी निश्चित किया जाता है।

3. पड़ी रेखा के समानान्तर एक अन्य रेखा खींची जाती है दो स्थिर लागत को प्रदर्शित करेगी। यह रेखा इस बात को स्पष्ट करती है कि उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर कुल स्थिर लागत समान रहती है। यदि सम-विच्छेद तालिका बनाई गई है तो दूसरा स्तम्भ इस लागत को प्रदर्शित करेगा।

4. उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर प्राप्त विक्रय मूल्य को ग्राफ पेपर पर अंकित करके विक्रय रेखा खींची जाती है।

जिस बिन्दु पर कुल लागत रेखा (Total Cost Line) विक्रय रेखा (Sales Line) को काटती है वही बिन्दु सम-विच्छेद बिन्दु (Break-Even Point) है। इस बिन्दु से अक्ष पर लम्ब डालने से सम-विच्छेद मात्रा (Break-Even Quantity) का निश्चयन होगा। सम-विच्छेद का विक्रय मूल्य ज्ञात करने के लिए सम-विच्छेद बिन्दु Y अक्ष पर लम्ब डाला जायेगा। इस बिन्दु के बायीं कुल लागत रेखा और कुल विक्रय लेखा के बीच की जगह हानि क्षेत्र (Loss Area) तथा ओर की जगह लाभ क्षेत्र (Profit Area) कहलाती है। कुल विक्रय और सम-विच्छेद बिन्दु पर स्थित विक्रय अन्तर सुरक्षा सीमा (Margin of Safety) कहलाता है। सम-विच्छेद बिन्दु के बाद कुल लागत रेखा व विक्रय रेखा आपस में जो कोण बनाती है। उसे प्रभाव क्षेत्र का कोण (Angle of

Incidence) कहते हैं। इस कोण के बड़ा होने पर लाभ की ऊँची दर का तथा छोटा होने पर लाभ की नीची दर का आभास होता है। निम्नलिखित उदाहरण से सम-विच्छेद चार्ट बनाने की विधि समझाई गई है-

उदाहरण-निम्नलिखित आँकड़ों से सम-विच्छेद रेखा चित्र खींचिये

Production in Units	Fixed Expenses in Rs.	Variable Cost Per Unit	Selling Price Per Unit	Total Cost	Total Sales
		Rs.	Rs.	Rs.	Rs.
0	1,50,000	10	15	1,50,000	0
10,000	1,50,000	10	15	2,50,000	1,50,000
20,000	1,50,000	10	15	3,50,000	3,00,000
30,000	1,50,000	10	15	4,50,000	4,50,000
40,000	1,50,000	10	15	5,50,000	6,00,000
50,000	1,50,000	10	15	6,50,000	7,50,000
60,000	1,50,000	10	15	7,50,000	9,00,000

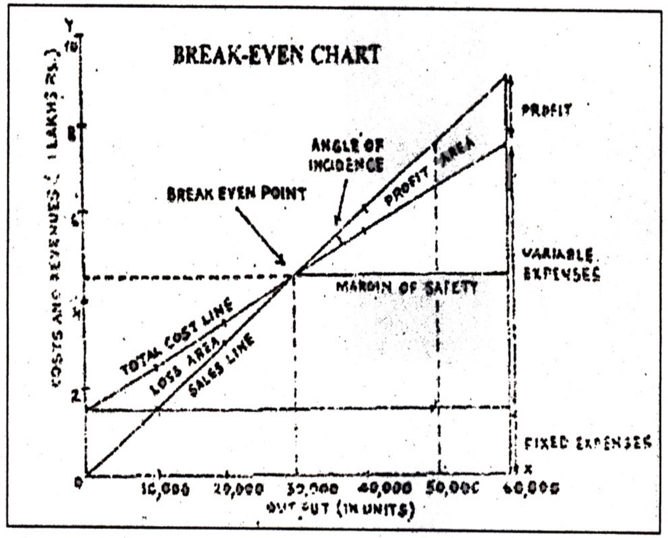

X अक्ष पर बेची गई इकाईयों की संख्या और आगम (लाख रुपयों) में दर्शाया गया है। स्थायी लागत रेखा को 1.5 लाख पर X अक्ष के समानान्तर खींचा गया है। कुल लागत रेखा को स्थिर लागत रेखा से आरम्भ करके 60,000 इकाईयों

के उत्पादन तक 7,50,000 रु0 दर्शाता गया है। उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर 0 से 9 लाख तक विक्रय रेखा खींची गयी है। विक्रय रेखा और लागत रेखा एक दूसरे को जिस बिन्दु पर काटती हैं उससे X अक्ष पर डाला गया लम्ब 30,000 इकाईयों पर सम-विच्छेद मात्रा बतलाता है। विक्रय रेखा और कुल लागत रेखा का अन्तर लाभ क्षेत्र और हानि क्षेत्र से दिखा रहा है। सम-विच्छेद मात्रा से ज्यादा विक्रय सुरक्षा सीमा और सम-विच्छेद बिन्दु से कुल लागत और विक्रय का कोण प्रभाव क्षेत्र का कोण होगा।

3.4.3 सम-विच्छेद चार्ट के लाभ :

सम-विच्छेद चार्ट या रेखाचित्रीय विधियों का महत्व पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ उनके विशिष्ट लाभों को बताया गया है :

1. प्रबन्ध को इनके द्वारा प्रस्तुत की गई सूचना आसानी से समझ में आ जाती है।
2. सम-विच्छेद चार्ट नियोजन और नियंत्रण के क्षेत्र में भी प्रबन्धक का मार्ग दर्शन करता है।
3. विभिन्न प्रकार के सम-विच्छेद चार्ट प्रबन्ध को विभिन्न क्षेत्रों में प्रबन्धकीय क्रियाओं के सम्पादन में सहायता पहुँचाते हैं। नियन्त्रण सम-विच्छेद चार्ट नियन्त्रण के क्षेत्र में पूँजी सम-विच्छेद चार्ट पूँजी विनियोग के क्षेत्र में, बहु उत्पाद सम-विच्छेद चार्ट उत्पादन निर्णयन के क्षेत्र में और रोकड़ प्रवाह सम-विच्छेद चार्ट रोकड़ प्रबन्ध के क्षेत्र में प्रबन्धकीय कार्यों के प्रभावपूर्ण सम्पादन में सहायता पहुँचाते हैं।
4. सम-विच्छेद चार्ट से व्यवसाय की लाभोपार्जन क्षमता के बारे में भी जानकारी प्राप्त हो जाती है। सुरक्षा सीमा तथा प्रभाव क्षेत्र के कोण इस क्षेत्र में सही जानकारी प्रदान करते हैं।
5. सम-विच्छेद चार्ट प्रबन्ध को निर्णयन प्रक्रिया में सहायता पहुँचाते हैं। उत्पादन की मात्रा, उत्पादन-मिश्रण, मूल्य निर्धारण, उत्पादन क्षमता में वृद्धि, अतिरिक्त बिक्री आदि के निर्णयों में सम-विच्छेद चार्ट अपना एक विशेष स्थान रखते हैं।
6. यह चार्ट लागतों तथा लाभ राशियों का पूर्वानुमान लगाने में सहायक होता है।

3.4.4 सम-विच्छेद चार्ट की सीमायें

सम-विच्छेद चार्ट में लागत और आय को दिखाने के लिए जिन सीधी रेखाओं का प्रयोग किया जाता है उनके प्रति अनेक आलोचनाएं की जाती हैं। वास्तव में ये

आलोचनाएँ मुख्यतया चार्ट की अवास्तविक मान्यताओं के कारण हैं। चार्ट के उपयोगकर्ता को चार्ट की सीमाओं से पूर्वपरिचित होना चाहिए। प्रमुख सीमायें निम्नलिखित हैं :

1. विभिन्न उत्पाद मिश्रणों का लाभ पर पड़ने वाला प्रभाव एक ही सम-विच्छेद बिन्दु से निश्चित नहीं हो पाता है। इसके लिए अलग-अलग सम-विच्छेद बिन्दु ज्ञात करने पड़ते हैं।
2. इस चार्ट के निर्माण में नियोजित पूँजी की मात्रा के लाभ पर प्रभाव को ध्यान में नहीं रखा जाता है, केवल बिक्री के आधार पर इस चार्ट को बनाया जाता है जिससे प्रबन्धकीय निर्णय ज्यादा विश्वसनीय नहीं रह पाते हैं।
3. सम-विच्छेद चार्टों से सीमित मात्रा में ही जानकारी प्राप्त होती है। सम-विच्छेद मात्रा, सुरक्षा उपरान्त लाभ-हानि और प्रभाव क्षेत्र के कोण के अतिरिक्त अन्य जानकारियाँ इस चार्ट से प्राप्त नहीं होती है।
4. यह चार्ट निम्नलिखित अवास्तविक मान्यताओं से प्रभावित होता हैः-

(1) व्यवहार में कुल लागत, उत्पादन के समान अनुपात में परिवर्तित नहीं होता है। अस्थिर लागत और स्थिर लागत को जोड़कर खींची जाने वाली सीधी रेखा व्यावसायिक जगत के धरातल पर पाया जाना सम्भव नहीं है।

(2) सम-विच्छेद चार्ट एक स्थैतिक स्थिति (Static Position) को दर्शाता है। वास्तव में व्यावसायिक जगत की घटनायें प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है, अतः चार्ट व्यवसाय की वस्तु-स्थिति का सही प्रदर्शन नहीं करते हैं।

(3) सम-विच्छेद चार्ट में दिखायी गयी बिक्री की सीधी रेखा इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पादन की मात्रा पर वस्तु की माँग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है परन्तु वास्तव में माँग मूल्यों में परिवर्तन, उत्पादन की मात्रा में परिवर्तनों से बहुत ज्यादा प्रभावित होता है। अतः बिक्री की सीधी रेखा होना व्यवहार में सम्भव नहीं है।

(4) **''अधिक उत्पादन से लाभ भी बढ़ेगा''**यह बात सत्य नहीं हो सकती है। लागत और बिक्री की रेखायें बहुत से घटकों से प्रभावित होती है जिससे व्यवहार में यह स्थिति नहीं होती है।

3.5 लागत का महत्व एवं प्रकार (Importance and types of Costs)

वस्तुओं के उत्पादन की लागत पर ध्यान देना तथा उसका उचित प्रबन्धन अत्यन्त आवश्यक है। लागत जितनी कम होगी, लाभ उतना ही अधिक होगा। लघु उद्योग के समक्ष घरेलू उत्पादकों तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जा रही है। इस दृष्टि से भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन लागतों को न्यूनतम करने का प्रयास किया जाता है। इन लागतों का कुशल प्रबन्धन करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि लागत के विभिन्न तत्वों की जानकारी हो उसके वर्गीकरण एवं उसके अनुश्रवण की समुचित व्यवस्था हो। वैसे भी स्थिर लागतों पर तो कुछ ही सीमा तक नियंत्रण रखा जा सकता है। अतः परिवर्तनीय लागतों पर ही ध्यान देने की आवश्यकता होती है क्योंकि इन पर नियंत्रण संभव होता है। सबसे पहले यह आवश्यक है कि लागतों के विभिन्न प्रकार की समुचित जानकारी हो।

3.5.1 लागतों का वर्गीकरण (Classification of Costs)

लागत वर्गीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें लागतों को उनके सामान्य लक्षण अथवा प्रकृति के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है। लागत के विभिन्न तत्वों से सम्बन्धित मदों को समान लक्षणों के आधार पर समूहीकृत किया जाता है। व्यवहार में लागतों का निम्नलिखित आधार पर वर्गीकरण किया जाता हैः

1. प्रकृति अथवा तत्वों के अनुसार (According to Elements)
2. कार्यों के अनुसार (According to Functions)
3. परिवर्तनशीलता के अनुसार (According to Variability)
4. नियन्त्रणशीलता के अनुसार (According to Controllability)
5. प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लागत (Direct and Indirect Cost)
6. पूँजीगत एवं आयगत लागत (Capital and Revenue Cost)
7. सामान्य एवं असामान्य लागत (Normal and abnormal Cost)
8. प्रबन्धकीय निर्णयन के अनुसार (According to Managerial Decisions)
9. समयानुसार (According to Time)

उपर्युक्त वर्णित वर्गीकरणों का विस्तृत विवेचन निम्नलिखित हैः

1. **प्रकृति अथवा तत्वों के अनुसार - (According to Elemnets)** : इस वर्गीकरण के अन्तर्गत लागतों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जाता है

(1) **सामग्री लागत (Material Cost)** : सामग्री के बिना वस्तु निर्मित नहीं की जा सकती है। यह उत्पादित वस्तु का मुख्य अंग होती है क्योंकि सामग्री का रूप परिवर्तन करके या उसमें सुधार करके या उसमें परिवर्तन वृद्धि करके ही उत्पादित वस्तु तैयार की जाती है। सामग्री कच्चा माल, पुर्जे, औजार, भण्डार, पैकिंग, पदार्थ आदि में वितरित की जा सकती है।

(2) **श्रम लागत (Labour Cost)** श्रम उत्पादन का एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। श्रम के सक्रिय योगदान द्वारा ही सामग्री से उत्पादन सम्भव बनाया जाता है।

(3) **अन्य लागत (Other Cost)** : सामग्री एवं श्रम को जुटाने के साथ-साथ उत्पादक को उत्पादन संभव बनाने के लिए कुछ अतिरिक्त व्यय भी करना होता है जिससे सामग्री और श्रम मिलकर उत्पादन कर सकें। ये व्यय उत्पादन क्रियाओं को सम्भव बनाने के लिए आवश्यक होते हैं।

2. **कार्यानुसार (According to Function)** : इस प्रकार का वर्गीकरण लागतों के उद्देश्यों पर आधारित होता है। दूसरे शब्दों में उद्देश्यों के अनुसार व्ययों का विभाजन किया जाता है। इसके अन्तर्गत लागतों के निम्नलिखित प्रकार हैं :

(1) **मूल लागत (Prime cost)** : मूल लागत वह लागत होती है जिसमें प्रत्यक्ष सामग्री प्रत्यक्ष श्रम और प्रत्यक्ष व्यय सम्मिलित किये जाते हैं।

(2) **कारखाना लागत (Factory cost)** : कार्यालय अथवा प्रशासन सम्बन्धी व्ययों को कारखाना लागत में जोड़कर कार्यालय लागत अथवा प्रशासनिक लागत मालूम की जाती है।

(4) **कुल लागत (Total cost)** : यदि कार्यालय लागत में विक्रय तथा वितरण उपरिव्यय को जोड़ दिया जाय तो कुल लागत मालूम हो जाती है।

(5) विक्रय मूल्य (Selling Price) : यदि वस्तु के कुल लागत में लाभ के लिए एक निश्चित या लागत का प्रतिशत जोड़ दिया जाय तो उसे विक्रय मूल्य कहते हैं।

3. परिवर्तनशीलता के अनुसार (According to Variability) :- इसके अनुसार लागतों को कार्य के स्तर में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप लागत में आने वाले बदलाव के आधार पर विभाजित किया जाता है। इस प्रकार का वर्गीकरण निम्नलिखित है :-

1. स्थायी या सामायिक लागतें (Fixed or Periodic Costs) - इस प्रकार की लागतें एक निश्चित अवधि में उत्पादन के स्तर में परिवर्तन होने के बावजूद अपरिवर्तित रहती हैं। यदि उत्पादन स्तर में वृद्धि होती है तो स्थायी लागत प्रति इकाई के रूप में घटती है लेकिन उत्पादन स्तर में कमी होने पर स्थायी लागत में प्रति इकाई के रूप में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। कारखाना भवन का किराया, बीमा तथा प्रबन्धक का वेतन स्थिर लागतों के प्रमुख उदाहरण हैं। ऐसी लागतें व्यवहार में कुल मात्रा में परिवर्तित रहती हैं लेकिन उत्पादन स्तर में परिवर्तन के कारण प्रति इकाई परिवर्तित होती है।

(2) परिवर्तनशील या वस्तुगत लागतें (Variable or Product Cost) इस प्रकार की लागत की मात्रा उत्पादन के स्तर के अनुरूप अनुपातिक रूप में बदलती रहती है। लेकिन उत्पादन स्तर में परिवर्तन के बावजूद ये लागतें प्रति इकाई समान एवं यथास्थिर रहती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि परिवर्तनशील लागतें उत्पादन स्तर में परिवर्तन होने के साथ-साथ कुल मात्रा में परिवर्तित होती है, लेकिन उनमें प्रति इकाई समान होने की प्रवृत्ति रहती है। उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष, सामग्री, प्रत्यक्ष श्रम, प्रत्यक्ष व्यय, शक्ति एवं मरम्मत आदि।

(3) अर्द्ध परिवर्तनशील लागतें (Semi-variable Costs) : ऐसी लागतें अंशतः परिवर्तनशील होती हैं। जैसे टेलीफोन व्यय में स्थायी वार्षिक शुल्क तथा कॉलों (Calls) के अनुसार आवश्यक शुल्क दोनों जुड़ा रहता है। इस प्रकार टेलीफोन से सम्बन्धित व्यय अर्द्ध-परिवर्तनशील लागत होती है।

2. नियन्त्रणशीलता के अनुसार (According to controllability) : इस व्यवस्था के अन्तर्गत लागतों का विभाजन संस्था के

निर्दिष्ट अधिशासियों के कार्यों से प्रभावित स्थिति के अनुसार किया जाता है। इस वर्गीकरण के आधार पर लागतों को दो भागों में बाँटा जाता है :-

(1) नियन्त्रणीय लागतें (Controllable Costs) : इस प्रकार की लागतों को अधिशासी (executive) विशेष के कार्यों से प्रभावित किया जा सकता है। दूसरें शब्दों में ऐसी लागतों को कुछ सीमा तक प्रबन्ध द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। प्रत्येक संगठन का स्वरूप कुछ उत्तरदायी केन्द्रों (responsibility centres) में बँटा होता है और लागत केन्द्र विशेष से सम्बन्धित नियन्त्रणीय लागतें सम्बन्धित अधिशासी द्वारा निर्देशित की जा सकती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से सभी प्रत्यक्ष लागतें एवं कुछ उपरिव्यय विभागीय अधिशासियों द्वारा नियन्त्रणीय होते हैं।

1. अनियन्त्रणीय लागतें (Uncontrollable Costs) : ऐसी लागतें संस्था के किसी अधिशासी विशेष के क्रिया-कलापों द्वारा प्रभावित नहीं की जा सकतीं। व्यवहार में स्थायी लागतें अनियन्त्रणीय होती हैं। जैसे प्रबन्धक का वेतन, भवन का किराया आदि। ऐसे उपरिव्यय जो किसी एक सेवा विभाग द्वारा किये गये हैं लेकिन उस सेवा का लाभ अन्य विभाग भी ले रहे हैं तो अन्य विभागों पर डाला गया उपरिव्यय भार उनके नियंत्रण से बाहर होता है। वैसे कौन सी लागत नियन्त्रणीय है अथवा अनियन्त्रणीय है इसका निर्णय प्रबन्धकीय स्तर के नियंत्रण क्षेत्र अथवा दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किया जा सकता है। फिर भी स्थायी लागतों के सम्बन्ध में ऐसा निर्णय लेना अपेक्षाकृत अधिक सहज होता है।

3. प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लागत (Direct and indirect costs) : उत्पादन प्रक्रिया के परिणामस्वरूप समस्त लागतों को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लागतों के रूप में विभाजित किया जाता है। प्रत्यक्ष लागतों वे लागतें होती हैं जिनकी किसी लागत केन्द्र या लागत इकाई विशेष को सुविधापूर्वक भारित किया जा सकता है। प्रत्यक्ष सामग्री प्रत्यक्ष श्रम तथा प्रत्यक्ष व्यय, प्रत्यक्ष लागत के उदाहरण हैं।

अप्रत्यक्ष लागतों में उन लागतों को सम्मिलित किया जाता है जिनका लाभ अनेक लागत केन्द्रों अथवा लागत इकाईयों को उपलब्ध होता है। लेकिन

इनका विभाजन किसी लागत केन्द्र अथवा इकाई विशेष पर सुगमतापूर्वक नहीं किया जा सकता। केवल अनुमान के आधार पर ऐसी लागतें भारित की जाती हैं। ऐसी लागतों के उदाहरण के रूप में भवन का किराया, प्रबन्धकीय वेतन, मशीनों की घिसाव आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

6. **पूँजीगत एवं आयगत लीगतें (Capital and revenue Costs):-** पूँजीगत लागत वह लागत होती है जो किसी सम्पत्ति को प्राप्त करने में व्यय की जाती है। इससे संस्था की लाभोपार्जन क्षमता में वृद्धि होती है। जैसे किसी कारखाने में एक नई मशीन का संस्थापन। ऐसा कोई व्यय जिसको करने में संस्था की लाभोपार्जन क्षमता को केवल बनाये रखा जा सकता है, बढ़ाया नहीं जा सकता है, आयगत लागतों के रूप में जाना जाता है। मशीनों के अनुरक्षण तथा व्यवसाय के दैनिक परिचालन से सम्बन्धित व्ययों को आयगत लागत कहा जाता है।

7. **सामान्य एवं असामान्य लागत (Normal and Abnormal Costs)-** सामान्य लागत वह लागत होती है जिसको एक निश्चित उत्पादन स्तर पर एक सामान्य परिस्थिति में आवश्यकतानुसार व्यय किया जाता है। यह लागत उत्पादन लागत का भाग होती है।

   असामान्य लागत के अन्तर्गत उन लागतों को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें एक निश्चित उत्पादन स्तर को प्राप्त करने के लिए असामान्य परिस्थितियों के कारण अतिरिक्त रूप में व्यय करना होता है। इन लागतों को उत्पादन लागत के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया जाता बल्कि उनको लागत लाभ-हानि खातों में भारित कर दिया जाता है।

8. **प्रबन्धकीय निर्णयन के अनुसार (According to Managerial Decisions) :**लागतों को इस व्यवस्था के अनुसार निम्नलिखित रूप में विभाजित किया जाता हैः-

   (1) **सीमान्त लागत (Marginal Cost)-** सीमान्त लागत से आशय उत्पादन की किसी निश्चित मात्रा के लिए उस राशि से है जिसके द्वारा उत्पादन की मात्रा एक इकाई से कम या अधिक होने पर कुल लागत में परिवर्तन होता है। इसको मालूम करने के लिए स्थायी लागतों पर ध्यान नहीं दिया जाता बल्कि केवल परिवर्तनशील लागत को ही उत्पादन की लागत चालू कार्य तथा निर्मित माल की लागत आंकलन करते समय ध्यान में रखा जाता है।

(2) **नकद लागतें (Out of Pocket Costs) :-** इस प्रकार की लागत कुल लागत का वह भाग होती है जो कि बाह्य पक्षकारों को नगद रूप से भुगतान करनी होती है। लेकिन ह्रास आदि की स्थिति में किसी प्रकार का भुगतान निहित नहीं होता है। केवल उसका आन्तरिक समायोजन किया जाता है।

(3) **डूबत लागत (Sunk Costs):** यह लागत प्रायः संयत्रों के अप्रचलन के कारण उत्पन्न होती है। इसीलिए इसको अशोध्य लागत भी कहा जाता है। इसकी गणना के लिए लगे हुए अथवा अप्रचलित हुए संयंत्र के अपलिखित मूल्य (Written down value) में से अवशिष्ट मूल्य (Written doen value) को घटा दिया जाता है ऐसी लागतें उत्पादन स्तर में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होती।

(4) **विभेदात्मक लागत (Differential Cost) :** ऐसी लागत जो उत्पादन स्तर पर उत्पादन तकनीक में परिवर्तन के परिणामस्वरूप उपलब्ध होती है उसे विभेदात्मक लागत कहा जाता है। यदि परिवर्तन के कारण लागत में वृद्धि होती है तो वृद्धि सीमा तक यह वृद्धिगत लागत होती। लेकिन यदि उत्पादन स्तर में कमी के कारण उत्पादन लागत में कमी होती है तो कम होने वाली मात्रा ह्रासित लागत के नाम से जानी जाती है।

(5) **गुणित लागतें (Imputed Costs)-** इस प्रकार की लागतें अनुमान मात्र होती हैं और इन्हें केवल लागत खातों में ही दिखाया जाता है। उदाहरणार्थ संस्था के स्वामित्व में होने वाले भवन का अनुमानित किराया तथा आन्तरिक संसाधनों द्वारा सृजित कोषों के माध्यम से उपलब्ध इन लागतों की पर्याप्त जानकारी उनके प्रबधंन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। नियोजन के लिये तथा निर्वचन के लिये लागतों की जानकारी आवश्यक है। उसी प्रकार से उत्पादिन वस्तुओं के मूल्य निर्धारण के लिये भी विभिन्न लागत तत्वों की जानकारी आवश्यक है। पूँजी पर ब्याज का अनुमान इस प्रकार के अनुमान की स्थितियाँ तब उत्पन्न होती हैं। जब वैकल्पिक पूंजी निवेश योजनाओं का मूल्यांकन करना होता है और सर्वोत्तम लाभकारी योजना चुनते समय पूँजी पर अनुमानित ब्याज का प्रावधान करना पड़ता है।

(6) **प्रतिस्थापन लागत (Replacement Cost) :** यह लागत चालू

बाजार मूल्य की कल्पना पर आधारित हैं। ऐसी लागत वह लागत होती है जिस पर विद्यमान सम्पत्ति पर सामग्री को उसी रूप में प्रतिस्थापित किया जाता है। इस प्रकार की लागत सम्पत्ति के चालू बाजार मूल्य के बराबर होती है।

(7) त्याज्य तथा आवश्यक लागत (Avoidable and Unavideable Cost) - त्याज्य लागत वह लागत होती है जिसका किसी उत्पादन या व्यावसायिक क्रियाकलाप अथवा विभाग विशेष से सीधा सम्बन्ध होता है। जैसे यदि किसी संस्था के जन-सम्पर्क विभाग को बन्द किया जाता है तो उस विभाग विशेष के कर्मचारियों को सेवा मुक्त किया जा सकता है और लागत के रूप में कुछ भी व्यय नहीं करना होगा।

लेकिन आवश्यक लागत वह लागत है कि जिसका किसी उत्पादन क्रियाकलाप या विभाग के बन्द होने के बावजूद भी व्यय करना पड़ता है। जैसे कारखाने के सामान्य प्रबन्धक का वेतन तथा किराया, विभाग विशेष के उत्पादन बन्द होने पर भी संस्था को व्यय करना ही पड़ता है।

(8) अवसर लागत (Opportunity Cost) - यह वह लागत अथवा अतिरेक (Surplus) है जो मौलिक रूप से नियोजित साधनों के प्रयोग को त्यागने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। व्यवहार में यह उस अधिकतम सम्भाव्य वैकल्पिक आय को इंगित करती है जो उपलब्ध साधन के वैकल्पिक प्रयोग से अर्जित की जा सकती है। जैसे, यदि कोई संस्था अपने किसी भवन का उपयोग किसी उत्पादन विभाग के लिए करती है तो उस भवन का सम्भावित किराया वह धनराशि होगी जो एक अन्य किसी वैकल्पिक उपयोग से मिल सकती हो। संस्था की लाभदायकता की गणना करते समय ऐसी लागतों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक होता है।

2. समयानुसार लागत (According to Time) : लागत को समयानुसार निम्नलिखित रूप में विभाजित किया जा सकता हैः

(1) ऐतिहासिक लागत (Historical Cost) : ऐसी लागत पूर्व समय से सम्बद्ध होती है और लागत नियंत्रण के क्षेत्र में इसकी कोई भूमिका नहीं होती। इस प्रकार की लागत का आंकलन व्यय होने के बाद ही किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, ऐसी लागत उत्पादन विशेष के

पूरा होने पर ही मालूम ही जा सकती है।

(2) पूर्व-निर्धारित लागत (Predetermined Cost) - यह लागत के लिए अनुमान प्रस्तुत करती है। भविष्य में सम्भावित उत्पादन की मात्रा तथा अन्य घटकों को ध्यान मे रखकर ऐसी लागतों का अनुमान लगाया जाता है। उपयुक्त आधार पर आकलित पूर्व निर्धारित लागत ही प्रमाणित लागत (Standard cost) होती है। पूर्व निर्धारित लागत की वास्तविक लागत से तुलना कर विचरणों (variances) को प्राप्त किया जा सकता है। फिर उसके कारणों का पता लगाकर प्रबन्धकीय उत्तरदायित्व सरलता से निश्चित किया जा सकता है। इसके आधार पर भविष्य में सुधारात्मक कदम भी उठाये जा सकते हैं।

3.6 उत्पाद की गुणवत्ता (Quality of Product)

आज के प्रतिस्पर्द्धात्मक युग में, उत्पाद की किस्म या गुणवत्ता पर अधिकाधिक ध्यान देना आवश्यक हो गया है, किसी भी संस्था के लिए विशेष रूप से लघु इकाईयों के लिये, वस्तु की गुणवत्ता में सुधार लाना ग्राहकों की संतुष्टि की दृष्टि से परमावश्यक हो गया है। ग्राहकों द्वारा माँग पर दी बिक्री तथा लाभ दोनों ही निर्भर हैं और माँग तभी बढ़ेगी जब वस्तुओं की गुणवत्ता ग्राहकों को प्रभावित करें। वहीं इकाई अधिक सफल होगी जो ग्राहकों को अधिकतम संतुष्टि प्रदान कर सके। व्यवहार में यह देखा गया है कि ग्राहकों की संतुष्टि तथा वस्तुओं या सेवाओं की गुणवत्ता में गहन सम्बन्ध है।

उत्पाद की किस्म या गुणवत्ता में सुधार लाना आवश्यक होता है परन्तु इस सम्बन्ध में जो भी प्रयास किया जाता है उसकी भी लागत होती है। लघु इकाइयों के लिये इन लागतों का भार उठाने में कठिनाई होती है। गुणवत्ता की लागत को न्यूनतम रखना भी, इस दृष्टि से आवश्यक है।

3.6.1 गुणवत्ता लागत के प्रकार (Types of Quality Cost)

गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए जो भी प्रयास किया जाता है उसके लिये कुछ न कुथ लागत लगानी पड़ती हैं। गुणवत्ता सम्बन्धी लागतों का निम्नलिखित प्रकार हो सकता हैः

1. निरीक्षण लागत
2. रोक-थाम लागत

3. मूल्यांकन लागत

4. आन्तरिक असफलता गुणवत्ता लागत

5. बाह्य असफलता गुणवत्ता लागत

इन लागतों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :

(1) निरीक्षण लागत (Inspection Cost) :

प्रायः निर्माता कम्पनियाँ गुणवत्ता पर नियंत्रण रखने के लिये, एक निरीक्षक की नियुक्ति करती हैं जो निर्मित वस्तुओं की जाँच करता है। जाँच करने के उपरान्त यदि गुणवत्ता सही पाई जाती है तो उसे स्वीकार कर लिया जाता है, यदि गुणवत्ता सही नहीं होती तो उसे अस्वीकृत कर दिया जाता है। इसके लिये निरीक्षक कुछ चुनी हुई वस्तुओं की ही जाँच करता है, परन्तु यह इस विधि की कमी भी है। व्यवहार में प्रायः ग्राहकों के पास वे वस्तुयें पहुँच जाती हैं जिनकी कोई जाँच न की गई हो। इससे कम्पनी की ख्याति को क्षति पहुँचती है।

(2) रोकथाम लागत (Prevention Cost) :

इसके अनुसार निर्माण करते समय ही यह प्रयास किया जाना चाहिए कि कम गुणवत्ता वाली वस्तुओं का निर्माण ही न हो। इसके लिये उत्पादन डिजाइन, उत्पाद प्रक्रिया में सुधार, कच्चे माल की अच्छी किस्म आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है जिसकी अपनी एक लागत होती है। प्रायः यह लागत अधिक आ जाती है जिस पर नियंत्रण आवश्यक है।

(3) मूल्यांकन लागत (Appraisal Cost) :

गुणवत्ता के मूल्यांकन के लिये अनेक प्रयास करने पड़ते हैं। इस लागत मे जाँच की लागत, कच्चे माल का निरीक्षण तथा जाँच उत्पाद गुणवत्ता अंकेक्षण, उपकरणों का रखरखाव आदि की लागत सम्मिलित होती है। इस प्रकार विद्यमान गुणवत्ता बनाये रखने तथा उसमें सुधार के लिए कई प्रयासों को खर्च करना पड़ता है।

(4) आन्तरिक असफलता गुणवत्ता लागत (Internal failure Quality Cost) :

गुणवत्ता को बनाये रखने या उसमें सुधार के लिए दोषपूर्ण उत्पाद या दोषपूर्ण संघटकों (Component) भी पता लगाना पड़ता है। इसके फलस्वरूप क्षेप्य (Scrap) की मात्रा बढ़ जाती है इसके कारण उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है इसके कारण

उत्पादन में देरी भी हो सकती है। क्षेप्य में भी सुधार करने की आवश्यकता हो सकती है। इन सबकी जाँच के लिये जो लागत चुकानी पड़ती है वे सब आन्तरिक असफलता के परिणामस्वरूप होती है।

(5) बाह्य असफलता गुणवत्ता लागत (External failure Quality Cost):

प्रायः ग्राहकों को दोषपूर्ण या कम गुणवत्ता वाला माल मिल जाता है। इसके लिये ग्राहकों से तथा बाजार में जाँच-पड़ताल करनी पड़ती है तथा उसकी रिपोर्ट तैयार करनी पड़ती है।

3.6.2 गुणवत्ता लागत रिपोर्ट (Quality Cost Report)

गुणवत्ता लागत को न्यूनतम रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसको न्यूनतम रखने की प्रक्रिया में गुणवत्ता लागत रिपोर्ट तैयार करना अधिक उपयोगी है। इस रिपोर्ट को तैयार करने में विशेष सावधानी रखनी चाहिए जिससे कि प्रबंधक के समक्ष एक सही रिपोर्ट ही प्रस्तुत हो। इस रिपोर्ट के दो भाग हो सकते हैं संक्षिप्त विवरणात्मक तथा विस्तृत भाग। प्रथम भाग में, दिया जा सकता है:

अ. गुणवत्ता सुधार के लिये उपयुक्त विचार या योजना,

ब. उसमें सुधार के लिए अपनाये गये उपाय,

स. वे सभी क्षेत्र जिन पर विशेष ध्यान देना है, तथा

द. गुणवत्ता लागत में कमी लाने के लिए व्यावहारिक उपाय व सुझाव आदि।

दूसरे भाग में आवश्यक आंकड़े, चार्ट आदि दिया जाना चाहिए। ये सभी तथ्य विस्तार से किन्तु बिन्दुवार दिया जाना चाहिए। सभी बिन्दु स्पष्ट होना चाहिए। यदि रिपोर्ट उचित ढंग से लिखी गई है तो उससे प्रबन्धकों को गुणवत्ता में सुधार लाने में तथा उसके लागत को कम करने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। व्यावहारिक बिन्दुवार तथा संक्षिप्त रिपोर्ट प्रबन्धकों के लिए अत्यन्त उपयोगी होती है।

3.7 सारांश (Summary)

सामान्यतया, निर्माणी लघु इकाइयाँ श्रम सघन उत्पादन की तकनीक अपनाती है। बड़ी इकाइयों की तरह, इन इकाईयों में भी वस्तु का उत्पादन किया जाता है, किन्तु प्रायः इन निर्मित वस्तुओं की लागत अधिक होती है तथा क्षय व बर्बादी की भी संभावना रहती है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि उत्पादन प्रबंध पर समुचित ध्यान दिया जाय।

इस सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण बिन्दु हैं, जो विचारणीय हैं। उत्पादन नियोजन एवं उसका विकास भी उनमें से एक है। उत्पादन नियोजन के अन्तर्गत उत्पाद के बारे में खोजबीन करना, उसकी व्यावहारिकता का पता लगाना, वर्तमान उत्पाद में आवश्यक परिवर्तन लाना तथा उन उत्पादों का परित्याग करना जो सम्मिलित तो हैं, पर अब उपयोगी नहीं रह गये हैं। उसी प्रकार, उत्पाद विकास के अन्तर्गत, उत्पाद के विषय में यह पता लगाना होता है कि उसका उत्पादन तकनीकों तथा वाणिज्यिकी आधार पर हो सकता है या नहीं, इसमें नये उत्पादन रेखा में जोड़ने, चालू उत्पादों की डिजाइन,आकार, उपयोग, पैकीजिंग आदि के बारे में विचार करके निर्णय लेने होते हैं। नवीन उत्पाद के विकास की छः अवस्थायें होती हैं यथा- नये विचारों की छान-बीन, उनका व्यावसायिक विश्लेषण, उत्पाद विकास, उनका परीक्षात्मक विपणन, तथा उत्पाद का वाणिज्यीकरण आदि। उत्पादक प्रबंध का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू स्टाँक का उचित प्रबंधन है। वास्तव में स्टॉक, न कम होना चाहिए न ही अधिक। सबसे महत्वपूर्ण चल सम्पत्ति होने के कारण, इसके कुशल प्रबंधन का प्रभाव लाभोपार्जन पर होता है। स्टॉक में कच्चा माल, अर्द्ध-निर्मित माल तथा निर्मित माल सम्मिलित होता है। स्टॉक नियंत्रण की कई विधियाँ प्रचलित हैं। अपनी संस्था की आवश्यकतानुसार, किसी एक उचित विधि को अपनाकर स्टॉक पर समुचित नियंत्रण किया जाना चाहिए। स्टॉक नियंत्रण की विधियाँ हैं आर्थिक आदेश मात्रा, पुनः आदेश बिन्दु, रहतिया स्तरों का निर्धारण, ए0बी0सी0 विश्लेषण, वेड विश्लेषण आदि।

सम-विच्छेद बिन्दु वह बिन्दु होता है जिस पर कुल आगम तथा कुल लागत बराबर होती है, जिससे न तो लाभ होता है न हानि। इसे बीजगणितीय सूत्र तथा चार्ट की सहायता से ज्ञात किया जाता है। सम-विच्छेद बिन्दु का उपयोग अनेक प्रकार के निर्णयों के लिये किया जाता है।

लागत विभिन्न प्रकार के होती हैं, और उनकी प्रकृति के अनुसार उन पर समुचित नियंत्रण करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि लागत अधिक होगी तो हानि हो सकती है और यदि लागत आगम की अपेक्षाकृत कम होगा, तभी लाभ होगा।

उत्पाद प्रबंधन के अन्तर्गत, उत्पाद की गुणवत्ता को बनाये रखने तथा उसमें निरन्तर सुधार लाने की आवश्कता है। आज के प्रतियोगी युग में, ग्राहकों को अधिकतम संतुष्टि प्रदान करना आवश्यक है तभी उनकी माँग बनी रहेगी। गुणवत्ता सम्बन्धी रिपोर्ट भी प्रबन्धकों को मिलती रहनी चाहिए जिससे वे गुणवत्ता पर आवश्यक नियंत्रण करते रहें।

3.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न (Self Assessment Question)

1. उत्पाद नियोजन तथा उत्पाद विकास का अर्थ समझाइये तथा उनकी महत्ता का वर्णन कीजिये।
2. उत्पाद विकास की अवस्थाओं का वर्णन कीजिये।
3. स्टॉक प्रबंधन क्यों आवश्यक हैं? इसके उद्देश्यों की व्याख्या कीजिये।
4. स्टॉक प्रबंधन की विधियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।
5. ए0बी0सी0 विश्लेषण तथा वेड विश्लेषण पर टिप्पणी लिखिये।
6. सम-विच्छेद बिन्दु से आप क्या समझते हैं? सम-विच्छेद बिन्दु की गणना कैसे की जाती है?
7. लागत के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिये।
8. उत्पाद की गुणवत्ता की विवेचना कीजिये। उत्पाद गुणवत्ता लागत के विभिन्न प्रकारों को समझाइये।
9. गुणवत्ता लागत रिपोर्ट पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. एस0 के गुप्ता, उत्पादन की विधियाँ, विशाल प्रकाशन मन्दिर, मेरठ, 1996।
2. पाण्डेय एवं सिह, उत्पादन प्रबन्ध, एपसाइलन पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0 कानपुर, 1995
3. Bedi and Bedi, Modern Production Management, Virendra Publication, New Delhi.
4. Nair, Production and operation Management, Tata McGraw Hill India, 2003.

इकाई - 4 : विपणन प्रबन्ध (Marketing Management)

इकाई की रूपरेखा-

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 विपणन का अर्थ एवं परिभाषा

4.3 विपणन प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषा

4.4 विपणन प्रबन्ध के उद्देश्य

4.5 विपणन प्रबन्ध के कार्य

4.6 उत्पाद प्रबन्ध से सम्बन्धित विभिन्न मुद्दे

  4.6.1 उत्पाद मिश्रण

  4.6.2 उत्पाद का मूल्य निर्धारण

  4.6.3 मूल्य निर्धारण की विधियाँ

4.7 वितरण शृंखला

  4.7.1 वितरण के विभिन्न माध्यम

  4.7.2 मध्यस्थों का उन्मूलन

4.8 ब्राण्ड

4.9 विज्ञापन

  4.9.1 विज्ञापन की परिभाषा

  4.9.2 विज्ञापन के उद्देश्य

  4.9.3 विज्ञापन की विधियाँ

  4.9.4 विज्ञापन के लाभ

  4.9.5 विज्ञापन के दोष

4.10 विक्रय संवर्द्धन

  4.10.1 विक्रय संवर्द्धन के उद्देश्य

  4.10.2 विक्रय संवर्द्धन की विधियाँ

4.11 सारांश

4.12 स्वमूल्यांकन प्रश्न

4.13 संदर्भ ग्रन्थ

4.0 : उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको -

- विपणन का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट हो जायेगा।
- विपणन प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषा ज्ञात हो जायेगा।
- विपणन प्रबन्ध के उद्देश्यों की जानकारी होगी।
- विपणन के विविध पहलुओं की जानकारी होगी।
- वितरण श्रृंखला, ब्राण्ड आदि स्पष्ट होगा।
- विज्ञापन, विज्ञापन के उद्देश्य, विधियों एवं लभा व दोष ज्ञात होगा।
- विक्रय संवर्द्धन के उद्देश्य एवं विधियाँ स्पष्ट होंगी।

4.1 प्रस्तावना

वस्तुओं के उत्पादन के पश्चात उनके विपणन की समस्या का प्रायः लघु इकाइयों को सामना करना पड़ता है। ये निर्मित माल का न तो उचित ढंग से विज्ञापन कर पाती है और न ही विपणन सम्बन्धी समस्याओं को हल कर पाती हैं। छोटे आकार के होने के फलस्वरूप उन्हें माल की बिक्री के लिये स्थानीय व्यापारियों तथा मध्यस्थों पर निर्भर रहना पड़ता है। उन्हें, इस कारण से अपनी वस्तुओं का उचित मूल्य नहीं प्राप्त हो पाता है। साथ ही, उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के फलस्वरूप उन्हें बड़ी इकाइयों तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है। अपने स्टॉक का समुचित नियंत्रण भी वे नहीं कर पाते। अतः यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि वे सुचारू रूप से विपणन का प्रबन्ध करें।

4.2 विपणन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and defini tion of marketing)

विपणन प्रबंध के विषय में जानकारी लेने से पूर्व हमें बाजार, जो अधिक प्रचलित शब्द है, के विषय में जान लेना चाहिए।

बाजार या विपणन की दो मुख्य विचारधारायें हैं ।

(अ) परम्परागत विचारधारा, तथा (ब) आधुनिक विचारधारा

4.2.1 परम्परागत विचारधारा (Traditional Concept)

इसके अनुसार विपणन का तात्पर्य केवल क्रय-विक्रय से ही मुख्यतया माना जाता है।

अमेरिकन मार्केटिंग एसोशियेसन के अनुसार ''व्यावसायिक क्रियाओं का वह कार्य जिसमें वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रवाह सीधे उत्पादक से उपभोक्ता तक होता है।'' को विपणन कहा जाता है।

पाइले के अनुसार ''विपणन में वे सभी प्रयत्न सम्मिलित किये जाते है, जो वस्तुओं एवं सेवाओं के स्वामित्व हस्तान्तरण एवं उनके भौतिक वितरण में सहायता प्रदान करते हैं।''

विपणन की उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि विपणन के अन्तर्गत क्रय-विक्रय तथा उत्पादन से उपभोक्ता तक माल या सेवाओं को पहुँचाने तक की क्रियायें सम्मिलित हैं।

यह पुरानी विचारधारा अपेक्षाकृत संकीर्ण है। इसमें न तो उपभोक्ताओं की संतुष्टि पर न ही सामाजिक उत्तरदायित्व की बात कही गई है और इसमें विक्रय के पश्चात ग्राहकों को दी जाने वाली सेवाओं की बात भी नहीं की गई हैं। वास्तव में, इस विचारधारा के अन्तर्गत क्रय-विक्रय तथा विक्रय संवर्धन के द्वारा अधिकाधिक बिक्री करके लाभ कमाना था।

विपणन की आधुनिक विचारधारा (Modern concept of Marketing)

यह विचारधारा विशेषरूप से ग्राहकों को अधिकतम संतुष्टि प्रदान करने पर जोर देती है। आज वस्तुओं के साथ-साथ सेवाओं के विपणन पर भी ध्यान दिया जाता है। यह वर्तमान तथा भावी दोनों ही प्रकार के ग्राहकों की संतुष्टि पर ध्यान देती है। इसीलिये ग्राहकों की आवश्यकताओं का पता लगा कर ही उत्पादन करने की योजना बनाई जाती हैं।

विलियम जे. स्टाण्टन के विचार में, ''विपणन पारस्परिक व्यावसायिक क्रियाओं की वह सम्पूर्ण प्रणाली है जो वर्तमान एवं संभावित भावी ग्राहकों को उनकी आवश्यकता एवं संतुष्टि की वस्तुओं तथा सेवाओं के विषय में, नियोजन मूल्य निर्धारित करने, संवर्द्धन एवं वितरण के लिये की जाती है।''

हेन्सन के अनुसार, ''विपणन उपभोक्ता की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की खोज कर उसे वस्तुओं एवं सेवाओं में बदलने की प्रक्रिया है। जिसमें इन वस्तुओं, सेवाओं की माँग का सृजन करके उसमें वृद्धि की जाती है।''

इस प्रकार, विपणन की आधुनिक विचारधारा, अधिक व्यापक व विस्तृत है। इसमें उत्पादन के स्थान पर ग्राहकों या उपभोक्ताओं पर विशेष जोर दिया गया है। इसमें पहले उपभोक्ताओं की माँग का पता लगाया जाता है, तदुपरॉंत उसी के अनुरूप उत्पादन किया जाता है। इसका उद्देश्य, ग्राहकों को अधिकतम संतुष्टि प्रदान करना एवं उनका कल्याण करना है।

4.3 विपणन प्रबंध का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of Marketing management)

पहले, विपणन प्रबंध पर कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता था क्योंकि उत्पादन का बाजार या विक्रेता बाजार था। फलस्वरूप विपणन में, प्रबन्ध की विशेष आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। आज उसके स्थान पर क्रेता बाजार का उद्भव हुआ है और 'ग्राहक राजा है।' (Customer is king) माना जाता है। इसके परिणामस्वरूप अब विपणन प्रबंध पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

कण्डिफ एवं स्टिल के अनुसार ''विपणन प्रबंध, प्रबंध के विस्तृत क्षेत्र के एक शाखा के रूप में है जो विपणन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये, उद्देश्यपूर्ण क्रियाओं के निर्देशन से सम्बन्धित है।''

फिलिप कोटलर के विचार में, ''विपणन प्रबन्ध में विश्लेषण, नियोजन, क्रियान्वयन एवं नियंत्रण सम्मिलित है जो इच्छित विनिमय, व्यक्तिगत एवं पारस्परिक लाभ हेतु लक्ष्य ग्राहकों से करना है प्रभावकारी-अनुक्रिया प्राप्त करने हेतु, उत्पाद, मूल्य, संवर्द्धन तथा स्थान के अपनाने तथा समन्वय करने पर अत्यधिक ध्यान देती है।''

वास्तव में विपणन प्रबंध ''उपभोक्ता की आवश्यकताओं को ज्ञात कर उन्हें वस्तुओं तथा सेवाओं में परिवर्तित कर अन्तिम उपभोक्ता तथा प्रयोग करने वाले तक पहुँचाने की प्रक्रिया है, जो विशिष्ट ग्राहक वर्ग या वर्गों की आवश्यकताओं एवं इच्छाओं को संतुष्टि प्रदान करता है तथा संगठन को उपलब्ध संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग द्वारा लाभोत्पादकता पर ध्यान देता है।''

4.4 लघु उद्यमों के संदर्भ में विपणन प्रबन्ध के उद्देश्य (Objec tives of Marketig Management with Reference to Small Scale Industries)

विपणन प्रबन्ध के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं -

(1) यह निर्धारित करना कि ग्राहकों की आवश्यकतायें क्या हैं? इसकी जाँच करके ही वस्तु विशेष का निर्माण करना।

(2) यह देखना कि जिस वस्तु का उत्पादन किया जा रहा है उसके ग्राहकों की संतुष्टि हो रही है अथवा नहीं।

(3) उत्पादन नियोजन व विकास के कार्यक्रम तैयार करके तदनुरूप वस्तु का उत्पादन करना।

(4) अधिकतम बिक्री हेतु विपणन-कार्यक्रम तैयार करना तथा बाजार का विभक्तिकरण भौगोलिक क्षेत्र, शिक्षा, आयु, लिंग आदि के आधार पर करना।

(5) उपभोक्ता के कल्याण में अधिकतम वृद्धि करना और इसके लिये, आवश्यकतानुसार विक्रयोपरान्त मुफ्त सेवायें, ग्राहकों के घर पर मुफ्त सुपुर्दगी, आदि के द्वारा उनको संतुष्टि प्रदान करना।

(6) ग्राहकों को अधिकतम संतुष्टि प्रदान करते हुए, बिक्री में वृद्धि करके लाभ कमाना।

4.5 विपणन प्रबन्ध के कार्य (Functions of marketing man agement)

लघु इकाई के विपणन के उद्देश्य निर्धारित करके विपणन प्रबन्ध के कार्य, लघु उद्योगों के लिये निम्नलिखित हैं -

1. विपणन के लिए उचित कार्यक्रम तैयार करना तथा उसी के आधार पर बिक्री करना। वास्तव में, उद्देश्य का निर्धारण ही विपणन की आधारशिला है। इस संदर्भ में दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन दोनों प्रकार के उद्देश्य निर्धारित करना चाहिए।

2. विपणन सम्बन्धी नियोजन करना। यह भी अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन हो सकता है। बिना उचित नियोजन के विपणन में पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकती है।

3. विपणन के लिए, सम्बन्धित व्यक्तियों का सुदृढ़ संगठन तैयार करना। उनका गठन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि उत्पादन तथा वितरण दोनों में अधिकतम सफलता प्राप्त हो सके।

4. इसके लिए आवश्यक, किन्तु कुशल, कर्मचारियों की नियुक्ति करना भी विपणन प्रबंध का कार्य है। उनकी नियुक्ति करके उन्हें उचित प्रशिक्षण देना चाहिए। उनकी मजदूरी व वेतन का उचित प्रशासन भी करना चाहिए। जिससे वे संतुष्ट रहें और अपना कार्य उचित ढंग से कर सकें।

5. कर्मचारियों का निर्देशन करना भी इसका कार्य है। इसके अन्तर्गत कर्मचारियों का अभिप्रेरण, नेतृत्व प्रदान करना तथा उनका मनोबल बढ़ाना है। बिना उचित निर्देशन के कर्मचारियों के लिये योजनाबद्ध ढंग से कार्य करना कठिन हो जाता है।

6. सुचारू रूप से क्रियान्वयन सफलता के साथ तभी संभव होगा जबकि सभी प्रक्रियाओं तथा क्रियाओं पर प्रभावी नियंत्रण किया जाय। कोई भी योजना सुचारू नियंत्रण के अभाव में पूरी नहीं की जा सकती। लघु उद्यमियों को, नियंत्रण के सम्बन्ध में प्रभावों का निर्धारण कर, वास्तविक निष्पादन ज्ञात करना चाहिए। उसके पश्चात, वास्तविक निष्पादन की तुलना निर्धारित प्रमाप से करनी चाहिए। यथावश्यक निष्पादक के लिये सुधारात्मक कार्यवाही की जानी चाहिए।

इस प्रकार से लघु उद्यमियों को विपणन प्रबन्ध के उपर्युक्त कार्य करना चाहिए।

4.6 उत्पाद प्रबंधन से सम्बन्धित विभिन्न मुद्दे

उत्पाद प्रबन्धन से सम्बन्धित निम्नलिखित मुद्दों का हम अध्ययन करेंगे -

1. उत्पाद मिश्रण
2. उत्पाद का मूल्य-निर्धारण
3. वितरण श्रृखला
4. विक्रय संवर्द्धन एवं विज्ञापन

हम इनका अध्ययन एक-एक करके करेंगे।

4.6.1 उत्पाद मिश्रण (Product Mix)

उत्पाद का तात्पर्य, उन वस्तुओं एवं सेवाओं से है जो उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को संतुष्टि प्रदान करते हैं। वस्तुयें या भौतिक उत्पाद में कपड़ा, सौंदर्य प्रसाधन, खाद्य पदार्थ आदि सम्मिलित हैं जबकि सेवाओं के अन्तर्गत बैंकिंग, बीमा, होटल, संचार व परिवहन आदि आते हैं।

उत्पाद मिश्रण का तात्पर्य, विभिन्न प्रकार के उत्पादित वस्तुओं के समूह से है जैसे यदि कोई फर्म कई प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधन, कपड़ा धोने या नहाने का साबुन, शैम्पू आदि का निर्माण करके बिक्री के लिए प्रस्तुत करता है तो इन वस्तुओं के समूह को ही उत्पाद मिश्रण कहते हैं ।

यहाँ पर उत्पाद मद, उत्पाद रेखा तथा उत्पाद मिश्रण में अन्तर, समझ लेना आवश्यक है। उत्पाद मद (Product item) का तात्पर्य उत्पाद विशेष से है जिसको अलग-अलग नाम दिया जाता है जैसे लक्स साबुन, रिन साबुन, टाइड वाशिंग पाउडर, कालगेट टूथपेस्ट आदि। उत्पाद रेखा (Product line) का तात्पर्य उन वस्तुओं के समूह से हैं जिनका आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। वास्तव में ये उत्पाद एक-दूसरे के साथ उपयोग में लाये जाते हैं। जैसे विभिन्न प्रकार के वाशिंग पाउडर, नहाने के साबुन, मंजन आदि। जबकि उत्पाद मिश्रण इन सबसे भिन्न हैं। वास्तव में, विभिन्न उत्पादों के समूह को उत्पाद मिश्रण कहते हैं।

4.6.2 उत्पाद का मूल्य (Price determination of Product)

सभी व्यावसायिक संस्थाओं के समक्ष मूल्य निर्धारण करना एक महत्वपूर्ण कार्य है। लघु उद्यमियों के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इन्हें प्रतिस्पर्द्धात्मक मूल्य निर्धारित करना पड़ता है जिससे कि यह व्यवसाय में चलते रहें। वस्तुओं को बेचकर जो मुद्रा में मूल्य मिलता है वही उनके लाभ का निर्धारण करता है। उन्हें मूल्य इस प्रकार से निर्धारित करना चाहिए कि वह ग्राहकों को उचित संतुष्टि प्रदान करें, प्रतिस्पर्द्धा का सामना किया जा सके तथा उसके फलस्वरूप लाभ भी अर्जित किया जा सके। वास्तव में मूल्य मे ंसे लागतों को घटाने पर ही लाभ होता है।

मूल्य निर्धारण के उद्देश्य (Objectives of Price determination)

मूल्य निर्धारण के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं -

(अ) मूल्य के निर्धारण का उद्देश्य दीर्घकाल में लाभ को अधिकतम करना होना चाहिए। अल्पकाल में, मूल्यों में यथावश्यक परिवर्तन किये जा सकते हैं।

(ब) इसका उद्देश्य ग्राहकों को अधिकतम संतुष्टि प्रदान करना होना चाहिए क्योंकि उनकी माँग भी इसी पर निर्भर रहती है।

(स) इसका उद्देश्य मूल्यों के उच्चावचन को रोक कर स्थिरता लाना होना चाहिए।

(द) बाजार में स्थापित रहने के लिये, प्रतियोगी मूल्य का ही निर्धारण किया जाना चाहिए।

(य) इसका उद्देश्य रोकड़ के प्रवाह को बनाये रखना होना चाहिए।

(र) मूल्य निर्धारण का उद्देश्य संस्था में किये गये विनियोग पर उचित प्रत्याय दर प्राप्त करना भी होना चाहिए।

(ल) मूल्य निर्धारण का उद्देश्य सामाजिक कल्याण प्रदान करना, बाजार का विस्तार करना आदि भी होना चाहिए।

मूल्य निर्धारण को प्रभावित करने वाले घटक (Factors affecting price determination)

लघु इकाइयों में मूल्य निर्धारण को निम्नलिखित प्रमुख घटक प्रभावित करते हैं-

1. उपभोक्ता की प्रकृति व स्थिति
2. संस्था के उद्देश्य
3. उत्पाद की लागत
4. वितरण की लागत
5. मध्यस्थों की संख्या
6. उत्पाद की माँग
7. विपणन उत्पाद का मिश्रण
8. प्रतिस्थापित वस्तुओं का मूल्य

9. विक्रयोपरान्त सेवायें
10. सरकारी नीति
11. सामान्य आर्थिक दशायें

4.6.3 मूल्य निर्धारण की विधियाँ (Methods of Price Determination)

लघु उद्यमी मूल्य निर्धारण की अनेक विधियाँ प्रयोग में लाते हैं । कुछ प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित हैं -

1. **लागत धन विधि (Cost -Plus Methods)** - इस विधि के अन्तर्गत पहले वस्तु के उत्पादन के लागत का पता लगाया जाता है फिर उस पर लाभ की निर्धारित राशि, जो प्रतिशत में हो सकती है, जोड़कर मूल्य का निर्धारण किया जाता है।

2. **बाजार दर विधि (Market method)** - इस विधि के अन्तर्गत संस्था बाजार में प्रचलित दर को ध्यान में रखकर मूल्य निर्धारण करती है।

3. **आधार मूल्य तथा छूट विधि (Base price and Discount Method)** - इस विधि के अन्तर्गत आधार मूल्य या सूची मूल्य को आधार बना कर मूल्य निर्धारित किया जाता है। बाजार की स्थिति के अनुसार उसमें कुछ छूट भी दी जा सकती हैं ।

4. **मलाई उतारने की विधि (Skimming method)** - इस विधि को तब अपनाया जाता है जब उत्पाद नया है तथा उसकी प्रतियोगिता में अन्य कोई वस्तु न हो। उस स्थिति में, मूल्य को सामान्य से अधिक रखा जाता है जिससे कि आरम्भिक अवधि में अधिकतम लाभ अर्जित किया जा सके।

5. **प्रवेशक मूल्य विधि (Penetrating Price Method)** - इस विधि को नई संस्थायें अपनाती हैं। वे बाजार पर अपना अंश बढ़ाने के लिये कम मूल्य निर्धारित करके, बाजार में प्रवेश कर लेती हैं।

6. **लोचदार कीमत विधि (Flexible price Method)** - इस विधि के अनुसार फर्म विभिन्न प्रकार के क्रेताओं से अलग-अलग मूल्य वसूल करती हैं। वास्तव में इसे मूल्य विभेद भी कहते हैं।

7. **नेता कीमत विधि (Price Leader Method)** इस विधि के अन्तर्गत जब फर्म अपने आप को मूल्य नेता के रूप में स्थापित करना चाहती है तो उत्पाद का कम मूल्य निर्धारित करती है। इससे ग्राहकों को यह विश्वास हो जाता है कि उन्हें उचित मूल्य पर ही माल मिल रहा है।

8. **सीमान्त लागत मूल्य निर्धारण विधि (Marginal Cost Pricing Method)** इस विधि के अन्तर्गत, मूल्य को सीमान्त लागत के बराबर किया जाता है। एक अतिरिक्त इकाई की लागत को ही सीमान्त लागत कहते हैं। इस लागत में केवल परिवर्तनशील लागत पर ध्यान दिया जाता है, स्थिर लागत तथा लाभ पर ध्यान नहीं दिया जाता है।

4.7 वितरण माध्यम (Channel of Distribution)

वस्तुओं के उत्पादन के पश्चात लघु इकाइयों को उनके वितरण की व्यवस्था करनी होती है जिससे कि वस्तुयें उपभोक्ताओं तक कम से कम लागत में पहुँच सकें। उपभोक्ताओं को माल पहुँचाने के कई माध्यम हो सकते है। अतः वितरण के माध्यम से चुनाव का निर्णय सावधानी से किया जाना चाहिए। वास्तव में, वितरण माध्यम का सही चुनाव करके, उपभोक्ताओं तक सही मात्रा में, सही स्थान तथा सही समय पर माल पहुँचाने की व्यवस्था की जाती है।

वितरण माध्यम की परिभाषा (Definition of Channel of Distribution)

विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषायें निम्नलिखित हैं -

विलियम जे स्टण्टन के अनुसार, ''वस्तुओं को स्वामित्व को अन्तिम उपभोक्ता या औद्योगिक क्रेता तक पहुँचाने में जो माध्यम अपनाया जाता है, वह वितरण माध्यम कहलाता है।''

फिलिप कोटलर के विचार में, ''प्रत्येक उत्पादक विभिन्न वितरण मध्यस्थों को, जो फर्म के लक्ष्यों को सर्वोत्तम ढंग से पूरा करते हैं, परस्पर जोड़ने का प्रयास करते हैं। वितरण मध्यस्थों का यह सेट ही विपणन माध्यम कहलाता है। इसे व्यापारिक माध्यम तथा वितरण माध्यम भी कहते हैं।

कण्डिफ एवं स्टिल के अनुसार, ''वितरण माध्यम वह वितरण नेटवर्क है जिनके माध्यम से वस्तुओं को बाजार की ओर प्रभावित करते हैं।''

मैकार्थी के अनुसार, ''उत्पादक से उपभोक्ता तक संस्थाओं का कोई भी क्रम, जिसमें कोई एक या उनकी कोई भी संख्या हो सकती है, वितरण माध्यम कहलाता है।''

इस प्रकार से किसी भी माध्यम से, माल को उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुँचाना वितरण माध्यम कहलाता है। इसमें सेवा प्रदान करने वाला व्यक्ति कोई संस्था, जैसे बीमा या परिवहन सम्बन्धी संस्थायें सम्मिलित नहीं होती। साथ ही, वितरण माध्यम से माल के स्वामित्व में भी परिवर्तन होता है।

4.7.1 वितरण के विभिन्न माध्यम (Different Channels of Distribu tion)

वितरण के कई माध्यम हो सकते हैं। मुख्य रूप से, ये निम्नलिखित छः प्रकार के हो सकते हैं :-

1. निर्माता-एजेन्ट - अन्तिम उपभोक्ता

2. निर्माता-एजेण्ट - फुटकर व्यापारी - अन्तिम उपभोक्ता
3. निर्माता-एजेण्ट - थोक व्यापारी - फुटकर व्यापारी-अन्तिम उपभोक्ता
4. निर्माता-थोक व्यापारी- फुटकर व्यापारी - अन्तिम उपभोक्ता
5. निर्माता - फुटकर व्यापारी - अन्तिम उपभोक्ता
6. निर्माता - अन्तिम उपभोक्ता

इस प्रकार, लघु उद्यमी को उपर्युक्त छः प्रकार के वितरण माध्यम में से कोई एक चुनकर अपनी वस्तुओं को अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाने का प्रयास करना चाहिए।

4.7.2 मध्यस्थों का उन्मूलन (Elimination of middlemen)

विपणन के क्षेत्र में मध्यस्थों की उपयोगिता हाल के वर्षों में अनेक प्रकार की चर्चा एवं विवाद का विषय रहा है। यह भी प्रयास किया जा रहा है कि उपभोक्ताओं को सीधी बिक्री की जाय। विभागीय भण्डार, माल, शृंखलाबद्ध दुकानें, डाक द्वारा व्यापार आदि इस दिशा में किये गये प्रयासों के फल हैं।

मध्यस्थों के उन्मूलन के पक्ष में तर्क (Arguments for Elimination of Middlemen)

जो लोग मध्यस्थों के उन्मूलन के सम्बन्ध में सुझाव देते रहे हैं वे इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क देते हैं :

(1) मूल्यों में वृद्धि - वस्तुओं के मूल्यों के वृद्धि के लिए मध्यस्थगण अनेक प्रकार से उत्तरदायी हैं। वे अपनी सेवाओं के उपलक्ष में बहुत अधिक कमीशन वसूल करते हैं तथा अधिक लाभ कमाने के लिए मूल्य में उलटफेर भी करते हैं। मूल्य इसलिए भी बढ़ता है कि उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में मध्यस्थों की कई कड़ी जुड़ जाती हैं और उनमें से हर एक मूल्य की वृद्धि के लिए उत्तरदायी होता है।

(2) बिना जोखिम उठाये अधिक लाभ कमाना - विभिन्न उद्योगों को अनेक प्रकार के जोखिमों का सामना करना पड़ता है, जैसे हड़ताल, तालाबन्दी, व्यापारिक मन्दी, फैशन और स्टाइल में परिवर्तन आदि। इन जोखिमों से होने वाली हानि को मध्यस्थ बिल्कुल भी नहीं सहता। वास्तव में ऐसी परिस्थितियों का लाभ उठाकर वह और अधिक लाभ कमाने का प्रयास करता है। इस प्रकार बिना किसी प्रकार का जोखिम उठाये वह अधिक से अधिक लाभ कमाता है।

(3) वस्तुओं के निर्बाध प्रवाह पर रोक - निर्माताओं से उपभोक्ताओं तक माल मध्यस्थों के कारण अबाध गति से नहीं पहुँचता। इनकी उपस्थिति के कारण इसमें काफा

समय लग जाता है। प्रायः मध्यस्थगण जानबूझ कर लाभ कमाने के लिए स्टॉक रोक लेते हैं। इससे वस्तुओं का प्रवाह और भी रूक जाता है।

(4) अनावश्यक वस्तुओं का प्रचलन - प्रायः मध्यस्थगण अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से ऐसी अनेक वस्तुओं का प्रचार करते हैं और समाज में उनकी माँग बढ़ाते हैं जो समाज के लिए हितकर नहीं हैं। दूसरी ओर ऐसी अनेक नवनिर्मित व उपयोगी वस्तुओं में अधिक रूचि नहीं लेते क्योंकि उनमें लाभ कम प्राप्त होने की सम्भावना रहती है।

(5) संग्रहण पर समुचित ध्यान नहीं - ये लोग वस्तुओं के संग्रहण पर आवश्यक ध्यान नहीं देते हैं जिससे उनकी बरबादी होती है।यद्यपि वस्तुओं का उचित ढंग से संग्रहण करना इनका प्रमुख कार्य है और इनकी विद्यमानता का प्रमुख कारण भी है।

(6) नवीन प्रवृत्तियों का जन्म - विपणन के क्षेत्र में अनेक प्रकार की नवीन प्रवृत्तियों उत्पन्न हो चुकी है। जिनके फलस्वरूप निर्माता अपनी वस्तुओं को आसानी से और सीधे ग्राहकों को बेचने में समर्थ है। ऐसी स्थिति में मध्यस्थों पर निर्भर रहना आवश्यक नहीं रह गया है। अतः उनका उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए।

मध्यस्थों के उन्मूलन के विपक्ष में तर्क (Arguments against elimination of Middlemen)

कुछ लोगों का यह कहना है कि विपणन के क्षेत्र में मध्यस्थ अपना महत्वपूर्ण योगदान देते रहे हैं, साथ ही साथ अपनी बहुमूल्य सेवाएं भी अर्पित करते रहे हैं अतः उनका विचार है कि मध्यस्थों का उन्मूलन नहीं किया जाना चाहिए। उनके उन्मूलन के विपक्ष में वे निम्नलिखित तर्क देते हैं:

(1) बहुमूल्य सेवाएँ - विपणन के क्षेत्र में मध्यस्थगण अनेक प्रकार की बहुमूल्य सेवायें प्रदान करते रहे हैं जिन्हें उतनी ही अधिक मितव्ययिता तथा कुशलता के साथ कोई भी नहीं कर सकता। मध्यस्थगण साख प्रदान करते हैं, विपणन से सम्बन्धित जोखिम उठाते हैं, उत्पादन तथा उपभोग में सन्तुलन स्थापित करते हैं, वस्तुओं के क्रय तथा वितरण के सम्बन्ध में वित्त की व्यवस्था करते हैं, विक्रय सम्बन्धी अनेक प्रकार की सेवाएं प्रदान करते हैं तथा निर्माताओं और फुटकर व्यापारियों की विभिन्न प्रकार से सहायता करते है। इनका उन्मूलन कर देने पर कठिनाइयाँ ही उत्पन्न होंगी।

(2) निर्माता की विपणन से निश्चिन्तता - वस्तुओं का विपणन भार अपने ऊपर लेकर वे निर्माताओं को इसकी समस्याओं से मुक्त करते हैं जिसके फलस्वरूप निर्मातागण अपना सारा ध्यान आसानी से उत्पादन पर केन्द्रित कर पाते हैं।

(3) विशिष्टिकरण को प्रोत्साहन - आज का व्यावसायिक युग हर क्षेत्र में

विशिष्टिकरण तथा श्रम विभाजन की मांग करता है। ये मध्यस्थगण विपणन के क्षेत्र में इस मांग की पूर्ति करते है। इनका उन्मूलन नहीं करना चाहिए क्योंकि वे वस्तुओं की बिक्री का विशिष्ट ज्ञान रखते हैं।

(4) उपभोक्ताओं की कठिनाइयाँ - मध्यस्थों का उन्मूलन कर देने पर उपभोक्ताओं को अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को प्राप्त करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। आजकल निर्माता अनेक प्रकार की तथा अनेक गुण वाली वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, ऐसी स्थिति में विभिन्न निर्माताओं से सीधा सम्पर्क स्थापित करके अपनी आवश्यकतानुसार वस्तु प्राप्त करने में उपभोक्ताओं को निश्चित रूप से कठिनाई होगी।

(5) कृषि सम्बन्धी वस्तुओं के वितरण की समस्या - भारत में विशेष रूप से मध्यस्थों का उन्मूलन हो जाने पर कृषि सम्बन्धी वस्तुओं की बिक्री में कठिनाइयाँ होंगी। छोटे-छोटे किसानों के पास विपणन योग्य थोड़ा-थोड़ा अनाज रहता है और ये मध्यस्थ ही इनको एकत्र करके बाजार में बिक्री के लिए लाते हैं।

(6) लागत की कमी में सम्भावना नहीं - यह कहना बहुत उचित नहीं है कि यदि मध्यस्थों का उन्मूलन कर दिया जायेगा तो लागत में कमी आयेगी और वस्तुओं का मूल्य कम हो जायेगा। व्यवहार में ऐसा नहीं पाया गया। क्लार्क ने ठीक ही कहा है कि मध्यस्थों के उन्मूलन के लिये दिये जाने वाले तर्क इस गलत धारणा पर आधारित हैं कि उनके उन्मूलन कर उपभोक्ताओं को अधिक शीघ्रता, कुशलता तथा सस्ती दर पर वस्तुएं प्राप्त हो सकेंगी।

इस प्रकार मध्यस्थों के उन्मूलन के सम्बन्ध में पक्ष एवं विपक्ष में दिये गये तर्कों पर विचार करने पर यह स्पष्ट है कि उनके प्रयासों के बाद आज भी मध्यस्थों की उपयोगिता है।

4.8 ब्राण्ड (Brand)

निर्माता अपनी वस्तु की अलग पहचान बनाये रखने के लिए ब्राण्ड का प्रायोग करता है। ब्राण्ड के द्वारा ही अपनी वस्तु की श्रेष्ठता बताता है। इसके माध्यम से अन्य वस्तुओं से अलग दिखाने का प्रयास भी करता है।

अमेरिकन मार्केटिंग एसोसिएशन के अनुसार, ''ब्राण्ड एक नाम, चिन्ह, डिजाइन या उनका सम्मिश्रण है जिसका उद्देश्य एक विक्रेता या एक समूह के विक्रेताओं को उत्पादों या सेवाओं को पहचानना है और उन्हें प्रतियोगियों से भेद करना है।''

इस प्रकार ब्राण्ड के अन्तर्गत कोई चिन्ह, नाम या डिजाइन हो सकते हैं।

निर्माता अपने प्रतियोगियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं से अपने वस्तु की अलग पहचान रख पाते हैं वास्तव में ब्राण्ड से उत्पाद के गुणों की पहचान भी होती है।

ब्राण्ड पारिवारिक तथा व्यक्तिगत भी हो सकता है। पारिवारिक ब्राण्ड के अन्तर्गत निर्माता अपने सभी उत्पादों पर एक ही ब्राण्ड का प्रयोग करता है। जैसे टाटा अपने सभी उत्पादिक वस्तुओं पर टाटा शब्द का प्रयोग करते हैं। व्यक्तिगत ब्राण्ड के अन्तर्गत निर्माता अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर अलग-अलग ब्राण्ड का प्रयोग करता है जैसे, हिन्दुस्तान यूनिलीवर लि. अपनी सभी वस्तुओं पर अलग-अलग ब्राण्ड का प्रयोग करता है।

उपभोक्ता यह चाहता है कि ब्राण्ड वाली वस्तुओं के प्रयोग से उन्हें अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो। वह एक ब्राण्ड में एक निश्चित गुण होने की आशा करता है। वास्तव में ब्राण्ड से उपभोक्ताओं को निम्नलिखित लाभ प्राप्त होता है :-

अ. गुणों में स्थिरता तथा समानता पाई जाती है।

ब. मूल्यों के निश्चित होने की संभावना रहती है।

स. वस्तु की पहचान करने में सुविधा होती है।

द. आकर्षक पैकिंग जो वस्तु के गुणों को सुरक्षित रखता है।

य. गारण्टी की सम्भावना रहती है।

र. विक्रयोपरान्त सेवायें प्राप्त होती हैं।

च. वस्तु का चुनाव करने में सुविधा होती है।

छ. उसे मानसिक संतुष्टि प्राप्त होती है।

ज. किसी प्रकार के धोखेबाजी की संभावना कम होती है।

4.9 विज्ञापन (Adversising)

यदि यह कहा जाये कि आज विज्ञापन का युग है तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। घर के अन्दर रेडियो, टीवी, समाचार पत्र के द्वारा विज्ञापन होता रहता है और बाहर निकलते ही किसी न किसी विज्ञापन का सामना करना पड़ता है। आज के प्रतियोगी युग में विज्ञापन का महत्व अत्यधिक है। लघु इकाइयों के लिये भी, विज्ञापन आज परिहार्य बन गया है। विज्ञापन के किसी उपयुक्त साधन का चुनाव करके,जो अपनी आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार हो, लघु इकाइयों को भी अपनी बिक्री को बढ़ाने के लिये विज्ञापन का सहारा लेना चाहिए।

4.9.1 विज्ञापन की परिभाषा

अमेरिकन मार्केटिंग एसोसियेशन के अनुसार, ''विज्ञापन से तात्पर्य एक परिचय प्राप्त प्रायोजक द्वारा विचारों, वस्तुओं या सेवाओं का अवैयक्तिक प्रस्तुतीकरण एवं प्रवर्तन करने के ढंग से है जिसका भुगतान किया जाता है।''

विलियम जे. स्टाण्टन के विचार से, ''विज्ञापन में ऐसी सब क्रियायें आती हैं जो कि एक वस्तु या सेवा या विचार के विषय में किसी समूह का कोई अवैयक्तिक मौखिक या दृष्टिगत एवं खुले रूप से प्रायोजित संदेश प्रस्तुत करने से सम्बन्धित है।''

वास्तव में, विज्ञापन किसी वस्तु, सेवा या विचार का अवैयक्तिक प्रस्तुतीकरण है जिसके लिये भुगतान किया जाता है। विज्ञापन के लिए भुगतान करना इसका आवश्यक तत्व है। विज्ञापन सार्वजनिक होता है तथा किसी व्यक्ति विशेष के लिये नहीं किया जाता है। विज्ञापन या तो मौखिक होता है या दृश्यमान होता है । इसका प्रमुख उद्देश्य ग्राहकों को उस वस्तु के क्रय करने के लिये प्रेरित करना होता है।

4.9.2 विज्ञापन के उद्देश्य (Objectives of Advertising)

विज्ञापन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं -

1. इसके द्वारा वस्तु विशेष का ग्राहकों में प्रचार कर विक्रय की वृद्धि करना होता है।
2. ग्राहकों को वस्तु विशेष के विषय में जानकारी देना।
3. किसी नये उत्पाद के विषय में ग्राहकों को अवगत करना।
4. बार-बार विज्ञापन करके ग्राहकों को उस वस्तु के विषय में याद दिलाते रहना।
5. मांग में स्थायित्व लाने के लिये ब्राण्ड की वरीयता बनाना।
6. नये बाजार में प्रवेश करना भी इसका उद्देश्य हो सकता है।
7. प्रतियोगियों की वस्तुओं के माँग को अपनी ओर आकर्षित करके अपनी बिक्री बढ़ाना।
8. बाजार में संस्था को अपनी ख्याति को स्थापित करना।
9. मध्यस्थों तथा विक्रयकर्ताओं का नैतिक स्तर उठाना।

4.9.3 विज्ञापन की विधियाँ (Advertising media)

प्रत्येक लघु उद्यमी को उपलब्ध विज्ञापन की विभिन्न विधियों की समुचित जानकारी होनी चाहिए। उसे एक उचित विधि का चुनाव करना चाहिए जो कि उसके

सामर्थ्य में हो। विज्ञापन की उचित विधि को अपनाकर वह अपनी बिक्री व लाभ बढ़ा सकता है तथा व्यापार जगत में अपनी ख्याति बढ़ा सकता है।

विज्ञापन की विभिन्न विधियाँ निम्नलिखित हैं -

1. प्रेस द्वारा, समाचार पत्र तथा पत्रिकाओं एवं जर्नल के द्वारा विज्ञापन।
2. डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन - इसमें निम्नलिखित साधन उपलब्ध हैं।
   - परिपत्र
   - व्यापारिक जवाबी लिफाफे या कार्ड
   - मूल्य सूची
   - सूची पत्र
   - लीफलेट्स या फोल्डर्स
   - पुस्तिकायें
   - अभिनव व भेंट
   - व्यक्तिगत पत्र
3. बाह्य विज्ञापन - इसके अन्तर्गत निम्नलिखित माध्यम अपनाये जा सकते हैं-
   - विज्ञापन पत्र
   - विज्ञापन बोर्ड
   - बिजली द्वारा सजावट
   - सैंडविच बोर्ड सजावट
   - बस, ट्राम व गाड़ी विज्ञापन
   - आकाश लेख विज्ञापन
   - स्टीकर विज्ञापन
4. चलचित्र द्वारा विज्ञापन
5. रेडियो तथा दूरदर्शन द्वारा विज्ञापन
6. प्रदर्शनी तथा मेले द्वारा विज्ञापन
7. अन्य - मेले एवं प्रदर्शनियां, ड्रामा एवं संगीत कार्यक्रम, लाउडस्पीकर, प्रदर्शन वस्तुओं का मुफ्त वितरण, घटे हुये मूल्य पर बिक्री द्वारा, इनामी योजनाओं के द्वारा।

4.9.4 विज्ञापन के लाभ एवं दोष (Advantages and Disadvantages of Advertising)

वस्तुओं के विक्रय के क्षेत्र में विज्ञापन से आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त हुए हैं। इसने निर्माताओं 'मध्यस्थों तथा उपभोक्ताओं' सभी को लाभ पहुँचाया है। यह जनसाधारण को शिक्षित करता है और मंहगी वस्तुओं के स्थान पर सस्ती वस्तुओं के प्रयोग तथा खराब व अशुद्ध वस्तुओं के स्थान पर अच्छी व विशुद्ध वस्तुओं के प्रयोग करने में उन्हें सहायता पहुँचाता है। इस प्रकार वस्तुओं के वितरण के क्षेत्र में इसने अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है, व्यवसाय जगत में अब यह पूर्णतया अपरिहार्य है।

विज्ञापन से इस प्रकार निम्नलिखित प्रमुख लाभ एवं दोष हैं -

(1) विक्रय में वृद्धि - विज्ञापन के बिना आजकल कोई भी निर्माता अथवा व्यापारी बिक्री बढ़ाने के बारे में सोच भी नहीं सकता। उत्तम से उत्तम गुण वाली वस्तुओं की बिक्री आजकल बिना विज्ञापन के सम्भव ही नहीं है। यही नहीं कि विज्ञापन के द्वारा बिक्री बढ़ती है अपितु उसमें तेजी भी आती है। यह व्यापारियों को स्टॉक रखने की समस्या से भी मुक्त रखता है।

(2) वस्तुओं की अधिक गुणवत्ता - विज्ञापन के माध्यम से निर्माताओं की ख्याति स्थापित हो जाती है तथा उनके द्वारा स्थापित ब्राण्ड भी प्रचलित हो जाता है। एक बार निर्माता की ख्याति वस्तु विशेष के गुण के कारण स्थापित हो जाती है, तो वे उस ख्याति को बनाये रखने के लिए उसके गुण व उत्तमता को गिरने नहीं देते । इस प्रकार वे ग्राहकों को सन्तुष्ट करने के लिए सदैव इस प्रयास में रहते हैं कि वस्तु विशेष की गुणवत्ता में सुधार होता रहे। इससे ग्राहकों को, समाज को तथा राष्ट्र को लाभ होता है। इसी के फलस्वरूप उत्पादकता में भी वृद्धि होती है ।

(3) लागत एवं वृद्धि में कमी - विज्ञापन के माध्यम से वस्तुओं की मांग बढ़ती है जिसके फलस्वरूप उनकी बिक्री व उत्पादन भी बढ़ता है उत्पादन के बढ़ने के साथ-साथ एक निश्चित सीमा तक, प्रति इकाई लागत में कमी आती है क्योंकि बड़े पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययिताओं का लाभ अधिक से अधिक प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त तेजी से बिक्री होने के फलस्वरूप स्टॉक बनाये रखने की लागत तथा उसके संग्रहण की लागत भी घटती है। विज्ञापन के माध्यम से निर्माताओं तथा ग्राहकों के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे मध्यस्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती है। मध्यस्थों के समापन को उनके द्वारा कराये गये लाभ या कमीशन की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है। इन सब कारणों से वस्तु की लागत कम पड़ती है जिसके फलस्वरूप उसके मूल्य में कमी भी आ सकती है। वैसे लागत में अधिक कमी तभी आयेगी जब विज्ञापन की स्वयं

की लागत भी बहुत कम हो। लागत में कमी के कारण मूल्य में कमी तभी आयेगी जबकि निर्माता या व्यापारी उपभोक्ताओं को अपने लाभ का कुछ हिस्सा देने को तैयार हों।

(4) रोजगार में वृद्धि - विज्ञापन से रोजगार में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों ही प्रकार से वृद्धि होती है। प्रत्यक्ष रूप से ऐसे लोगों को रोजगार मिलता है जैसे कि विज्ञापन प्रति लेखक,कलाकार, ब्लाक बनाने वाले, फोटोग्राफर तथा प्रेस तथा माडलिंग में लगे हुए लोग। दैनिक समाचार-पत्र तथा पत्रिकाएं तो बिना विज्ञापन के चल ही नहीं सकती। विज्ञापन के कारण ही उनका मूल्य इतना कम होता है कि लोगों को उसे क्रय करने में कठिनाई नहीं होती। परोक्ष रूप से भी विज्ञापन के कारण अनेक लोगों को रोजगार प्राप्त होता है। विज्ञापन के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होती है तथा उससे रोजगार के अवसर में भी वृद्धि होती है। विज्ञापन के न होने पर उपभोग की प्रवृत्ति में कमी आयेगी जिससे रोजगार के अवसर में भी कमी आयेगी।

(5) रहन-सहन के स्तर में वृद्धि - विज्ञापन लोगों के रहन-सहन के स्तर में भी वृद्धि के लिये उत्तरदायी है। यह लोगों को नयी वस्तुओं तथा उनके उपयोगों की जानकारी देता है। यह लोगों को विभिन्न वस्तुओं के बारे में शिक्षित करता है। इसके अतिरिक्त अच्छी वस्तुओं के चुनाव में लोगों की सहायता करता है। यदि इसके फलस्वरूप मूल्य में कमी आती है तो उससे भी लोगों की उपभोग करने की क्षमता बढ़ती है। इस प्रकार विज्ञापन के फलस्वरूप लोगों के रहन-सहन के स्तर में कई तरह से वृद्धि होती है।

(6) अनावश्यक मध्यस्थों का समापन - यह निर्माता को उपभोक्ताओं से सीधे सम्पर्क स्थापित करने में सहायता प्रदान करता है, जिसके फलस्वरूप वितरण के क्षेत्र में अनावश्यक मध्यस्थों को समाप्त करने में सहायता मिलती है। इससे निर्माताओं तथा उपभोक्ताओं दोनों को ही लाभ होता हैं ।

(7) कला तथा पहल करने की क्षमता को प्रोत्साहन - विज्ञापन के लिये सुन्दर तथा आकर्षक प्रतिलिपियों को बनाने की आवश्यकता होती है जिसके फलस्वरूप कलाकारों, लेखकों तथा उद्घोषकों आदि को अपनी प्रतिभा तथा योग्यता दिखाने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होता है। इससे उन्हें जीविका ही प्राप्त नहीं होती अपितु आत्माभिव्यक्ति का सन्तोष मिलता है। इस प्रकार कला को संरक्षण तथा प्रोत्साहन दोनों ही प्राप्त होता है।

(8) उपभोक्ताओं के ज्ञान में वृद्धि - विज्ञापन की शैक्षणिक उपयोगिता भी है। यह समय-समय पर लोगों को कई प्रकार से शिक्षित करता रहता है। यह लोगों के विचार व स्वभाव में परिवर्तन लाता है। उनमें कलात्मक प्रवृत्तियों का प्रोत्साहन करता है। यह उन्हें नये ढंग से जीवन बिताने की शिक्षा देता है। यह लोगों को अपने रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने की दिशा बताता है। यह लोगों को व्यवसायियों के दर्शन से अवगत

कराता है। यह समाज में विद्यमान लोगों की रूचि एवं संस्कृति बताता है। यह कई क्षेत्रों में विशेष रूप से, विपणन के क्षेत्र में शोध एवं अनुसन्धान को भी प्रोत्साहन देता है तथा उपभोक्ता की आदत में जल्दी-जल्दी परिवर्तन लाता है जिससे वस्तु के साधारण प्रयोग के पहले ही उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। यदि एक प्रकार की वस्तु का प्रयोग सामान्यतया उपभोक्ताओं द्वारा एक साल तक किया जा सकता है तो विज्ञापन के कारण नये प्रकार की वस्तु का प्रचार होने पर 2 या 3 माह तक ही उसका प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार निश्चय ही, पहले बनी हुई वस्तु की बरबादी होती है। प्रायः इसका सहारा लेकर निर्मातागण वस्तुओं की किस्म को भी गिराते जाते हैं जो कि उपभोक्ताओं तथा समाज के हित में नहीं होता। वैसे भी यदि विज्ञापन पर आवश्यकता से कहीं अधिक व्यय किया जाता है तथा उसका अपेक्षित फल प्राप्त नहीं होता तो उस पर किया गया धन का व्यय भी व्यर्थ हो जाता है। इस सम्बन्ध में मार्शल ने 'रचनात्मक तथा संघर्षात्मक' (Creative and Combative) विज्ञापन में अन्तर किया है। उनके अनुसार संघर्षात्मक विज्ञापन एक सामाजिक बरबादी है। उसी प्रकार चैम्बरलेन ने भी 'सृजनात्मक' 'विश्वासोत्पादक' (Persuasitve) तथा 'कपटयुक्त' (Manipulative) विज्ञापन में भेद किया है। उनका कथन है कपटयुक्त विज्ञापन क्रेताओं की धारणाओं को बदलता है और इससे बरबादी होती है।

(9) प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन - अत्यधिक विज्ञापन के फलस्वरूप प्रायः अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि सभी उत्पादक अपनी वस्तुओं की अधिकतम बिक्री करने का प्रयास करते हैं। इसके लिए वे और अधिक विज्ञापन करते हैं ।इस प्रकार और अधिक प्रतिस्पर्द्धा बढ़ जाती है जो उनके हित में नहीं होती ।

(10) नैतिक पतन - आजकल ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए लोगों की कमजोरियों का सहारा लेकर उत्तेजक तथा अश्लील चित्रों अथवा कृतियों को प्रयोग में लाया जाता है। इससे लोगों का, विशेष रूप से युवा वर्ग का नैतिक पतन होता है। कुछ ऐसी वस्तुओं का भी जैसे सिगरेट, शराब, अश्लील साहित्य आदि का प्रचार विज्ञापन के माध्यम से किया जाता है जो लोगों को उनके सेवन के लिए प्रेरित करता है। समाज में लोगों का इससे नैतिक पतन होता हैं।

4.10 विक्रय संवर्द्धन (Sales Promotion)

प्रत्येक लघु उद्यमी अपनी बिक्री को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहता है। किन्तु वह मँहगे विज्ञापन का सहारा नहीं ले पाता है। अतः वह इसके लिये विक्रय संवर्द्धन के विभिन्न साधनों को प्रयोग में लाता है ।

अमेरिकन मार्केटिंग एसोसियेशन के अनुसार, ''विक्रय संवर्द्धन में ''वैयक्तिक

विक्रय, विज्ञापन तथा प्रचार के अतिरिक्त वे सभी क्रियायें आती हैं जो उपभोक्ता के क्रय एवं विक्रेता की तत्परता को प्रेरित करती है। जैसे सजावट, तमाशा एवं नुमायशी प्रदर्शन तथा विभिन्न अनियमितता विक्रय प्रयत्न जो साधारण जीवन में नहीं किये जाते हैं।

इसी प्रकार, एल. के. जॉसन के विचार में, ''विक्रय संवर्द्धन में वे सभी क्रियायें सम्मिलित होती हैं जिनका उद्देश्य विक्रेताओं, विज्ञापन विभाग एवं वितरकों के कार्यों को समन्वित करना व सहयोग देना व अधिक प्रभावी बनाना है। जिससे विक्रय बढ़ सके व उपभोक्ताओं को क्रय में अधिक रूचि लेने के लिये प्रेरित किया जा सके।''

इस प्रकार विज्ञापन, वैयक्तिक विक्रय तथा प्रचार को विक्रय संवर्द्धन में सम्मिलित नहीं किया जाता है। इनके अतिरिक्त वे सभी प्रयास इसमें सम्मिलित होते हैं जो व्यापारियों व उपभोक्ताओं को क्रय करने के लिए प्रेरित करते हैं। वास्तव में, इसके माध्यम से ग्राहकों का अधिक से अधिक ध्यान आकर्षित क्रिया जाता है। जिससे उनका झुकाव वस्तु विशेष की ओर बढ़े तथा वे उसे क्रय करने के लिए तत्पर हो जायें।

4.10.1 विक्रय संवर्द्धन के उद्देश्य (Objectives of Sales Promotion)

विक्रय संवर्द्धन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं -

1- वर्तमान ग्राहकों की वस्तु - विशेष में रूचि को बनाये रखना।

2. नये ग्राहकों को आकर्षित करना।

3. नयी वस्तुओं का परिचय कराने के लिए।

4. विक्रयकर्ताओं को बिक्री में सहयोग देना।

5. प्रतियोगियों के विक्रय संवर्द्धन के प्रभाव को कम करना।

6. मध्यस्थों को वस्तु विशेष के अधिक क्रय के लिये प्रेरित करना।

7. विज्ञापन तथा वैयक्तिक विक्रय को अधिक से अधिक सहयोग देने के लिये।

4.10.2 विक्रय संवर्द्धन की विधियाँ (Methods of Sales Promotion)

उपभोक्ता, मध्यस्थ तथा विक्रयकर्ता के लिये, विक्रय संवर्द्धन की विधियाँ निम्नलिखित हो सकती हैं :-

उपभोक्ता के लिये -

1. मुफ्त नमूने व मुफ्त परीक्षण

2. कूपन

3. प्रीमियम

4. धन वापसी प्रस्ताव

5. मूल्य में कमी

6. टिकट

7. प्रदर्शन

8. पुनः खरीद भत्ता

9. प्रतियोगितायें

मध्यस्थों के लिए

1. क्रय भत्ता

2. मुफ्त माल

3. व्यापारिक भत्ता

4. डीलर-सूची संवर्द्धन

5. पुनः खरीद भत्ता

6. प्रीमियम

7. गणना एवं पुनः गणना

विक्रयकर्ता के लिए

1. अधिक कमीशन

2. बोनस

3. प्रतियोगितायें

इस प्रकार उपयुक्त विभिन्न माध्यमों या विधियों को अपना कर, लघु उद्यमी अपनी बिक्री को बढ़ाकर लाभ में वृद्धि कर सकता है।

4.11 सारांश

लघु इकाइयों के समक्ष उत्पाद के पश्चात उनके विपणन की समस्यायें गंभीर होती हैं। अतः विपणन के कुशल प्रबन्धन की आवश्यकता होती है जिससे वे बड़ी इकाइयों तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनी से प्रतिस्पर्द्धा में सामना कर सकें। विपणन प्रबन्ध में विश्लेषण, नियोजन, क्रियान्वयन तथा नियंत्रण सम्मिलित है जिससे निश्चित लक्ष्यों की

प्रगति हो सके।

विपणन प्रबन्ध का उद्देश्य ग्राहकों को अधिकतम संतुष्टि प्रदान करना है। अधिकतम बिक्री हेतु विपणन कार्यक्रम तैयार करना तथा बाजार का विभक्तिकरण करना है। आवश्यकतानुसार विक्रयोपरान्त मुफ्त सेवायें, ग्राहकों के घर पर मुफ्त सुपुर्दगी करके उनका कल्याण अधिकतम करना है। विभिन्न विक्रय साधनों का उपयोग करके बिक्री में वृद्धि करना तथा लाभ कमाना है।

उत्पाद मद, उत्पाद रेखा तथा उत्पाद मिश्रण पर ध्यान करके आवश्यक उत्पादन करना चाहिए। आवश्यकतानुसार उत्पाद विकास करना चाहिए।

लघु इकाइयों को उत्पादित वस्तुओं का उचित मूल्य निर्धारित करना चाहिए जिससे कि वस्तुओं की बिक्री बिना किसी बाधा के हो सके, प्रतिस्पर्द्धा का सामना किया जा सके, तथा बिक्री में अधिक वृद्धि हो सके। अधिक वृद्धि होने पर ही लाभ भी अधिक होगा। मूल्य निर्धारण की अनेक विधियाँ हैं - जैसे- लागत धन विधि, बाजार दर विधि, आधार मूल्य विधि, मलाई उतारने की विधि, मूल्य विधि, लोचदार कीमत विधि, नेता कीमत विधि, सीमान्त लागत मूल्य निर्धारण विधि आदि। उपयुक्त विधि का चुनाव करके ही वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करना चाहिए।

उपभोक्ताओं को कम से कम माल को पहुँचाने की व्यवस्था भी करनी चाहिए। इसके लिए उपयुक्त वितरण के माध्यम का चुनाव करना चाहिए। इसे सीधे उपभोक्ताओं तक पहुँचाया जा सकता है या मध्यस्थों के माध्यम से पहुँचाया जा सकता है। यद्यपि मध्यस्थों के उन्मूलन के सम्बन्ध में कुछ लोग इसी के पक्ष में तर्क देते हैं और कुछ विपक्ष में। अनेक कारणों से, मध्यस्थों का उन्मूलन पूर्णतया किया जाना संभव है क्योंकि आज भी उनकी आवश्यकता हैं

माल की विशेष पहचान के लिए उसके ब्राण्ड का निर्धारण किया जाना चाहिए। ब्राण्ड वास्तव में एक नाम, चिन्ह, डिजाइन का सम्मिश्रण है। ब्राण्ड व्यक्तिगत तथा पारिवारिक हो सकता है।

आज विज्ञापन का युग है और लघु इकाइयों को भी अपने सामर्थ्य के अनुसार विज्ञापन का सहारा लेना चाहिए। विज्ञापन किसी वस्तु सेवा या विचार का अवैयक्तिक प्रस्तुतीकरण है जिसके लिये भुगतान किया जा सकता है। विज्ञापन के अनेक माध्यम हैं जो आन्तरिक व बाह्य होते हैं। लघु इकाइयों को उचित विज्ञापन का चुनाव करना चाहिये।

विज्ञापन के अतिरिक्त विक्रय संवर्द्धन के माध्यम से भी बिक्री बढ़ाई जा सकती है। इससे उपभोक्ताओं को क्रय करने के लिए प्रेरित किया जाता है। नये ग्राहकों को

आकर्षित करने के लिए तथा वर्तमान ग्राहकों को बनाये रखने के लिये विक्रय संवर्द्धन उपयुक्त है। यह विक्रेताओं, विज्ञापन विभाग एवं वितरकों के कार्यों को समन्वित कर उन्हें बिक्री बढ़ाने में सहयोग प्रदान करता है ।

4.12 स्वमूल्यांकन प्रश्न

1. बाजार से आप क्या समझते हैं? इसके परम्परागत तथा आधुनिक विचार की समीक्षा कीजिए।
2. विपणन प्रबन्धन का अर्थ एवं परिभाषा समझाइये। इसकी क्या महत्ता है?
3. विपणन प्रबन्ध के कार्यों तथा उद्देश्यों का वर्णन कीजिये।
4. उत्पाद, उत्पाद रेखा, उत्पाद मिश्रण से आप क्या समझते हैं?
5. उत्पाद के मूल्य निर्धारण की विधियों का उल्लेख कीजिये।
6. वितरण शृंखला क्या है? वितरण शृंखला के विभिन्न माध्यमों का वर्णन कीजिये।
7. विज्ञापन के उद्देश्य तथा विधियों का वर्णन कीजिये।
8. विज्ञापन के लाभ तथा दोषों की विवेचना कीजिये।
9. विक्रय संवर्द्धन से आप क्या समझते हैं? विक्रय संवर्द्धन की विधियाँ बताइये।

4.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. C.S. Venkata Ratnam & B.K. Srivastava, Personnel Management and Human Resources, Tata McGraw Hill, New Delhi, 1999.
2. Edwin B. Flippo, Personnel Management, Mc Graw Hill, Int. Edition, 1984.
3. Ian Beavdwell & Leu Holden, Human Resource Management, Macmillan India Ltd., 1996.
4. अंजनि कुमार मालवीय, मानव संसाधन प्रबन्ध, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009

इकाई - 5 : लघु स्तरीय इकाइयों का वित्त प्रबन्धन

इकाई की रूपरेखा-

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 लघु इकाइयों के लिये पूँजी की आवश्यकता

5.3 वित्त के स्रोत

5.3.1 दीर्घकालीन वित्त

5.3.2 भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक

5.4 कार्यशील पूँजी वित्त

5.4.1 कार्यशील पूँजी चक्र

5.4.2 कार्यशील पूँजी के स्रोत

5.5 पट्टे द्वारा वित्त व्यवस्था

5.6 किराया क्रय वित्त व्यवस्था

5.6.1 किराया क्रय पद्धति की परिभाषा

5.6.2 किराया क्रय पद्धति की विशेषतायें

5.6.3 पट्टा द्वारा तथा किराया क्रय प्रणाली द्वारा वित्त व्यवस्था में अन्तर

5.7 सारांश

5.8 स्वमूल्यांकन प्रश्न

5.9 संदर्भ ग्रन्थ

5.0 : उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करके आप -

- लघु इकाइयों के लिये पूँजी की आवश्यकता जान सकेंगे,
- वित्त के स्रोतों की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- कार्यशील पूँजी का अर्थ जान सकेंगे,
- कार्यशील पूँजी चक्र के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे,

- कार्यशील पूँजी के विभिन्न स्रोतों को जान सकेंगे, तथा
- पट्टे द्वारा वित्त तथा किराया क्रय द्वारा वित्त व्यवस्था जान सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

किसी भी व्यावसायिक इकाई की स्थापना तथा सफल संचालन के लिये, उचित समय पर, पर्याप्त वित्त की आवश्यकता होती है। वित्त के अभाव में, अनेक व्यावसायिक इकाइयाँ, विशेष रूप से लघु क्षेत्र की इकाइयाँ, अनेक समस्याओं से ग्रस्त होकर रूग्ण हो जाती है, अन्ततोगत्वा उन्हें बन्द करना पड़ता है । अनेक कारणों से लघु इकाइयों में वित्तीय प्रबन्धन सुचारू रूप से तथा सफलता के साथ नहीं हो पाता है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि लघु इकाइयों के स्वामी तथा प्रबन्धक, वित्तीय प्रबन्धन पर विशेष ध्यान दें जिससे वे उनका सफल संचालन कर सकें। इन लघु इकाइयों में विशेष रूप से, अल्पकालीन वित्त या कार्यशील पूँजी की समस्या अधिक पाई जाती है। अतः यह आवश्यक है कि लघु इकाइयों में कार्यशील पूँजी का कुशल प्रबन्धन किया जाय।भारत सरकार, इन लघु इकाइयों की वित्तीय समस्याओं का निवारण करने के लिए समय-समय पर विशेष नीति बनाती रही है तथा इसके लिये विशेष वित्तीय संस्थाओं की स्थापना किया है। इन लघु इकाइयों के प्रबन्धकों को आधुनिक तकनीकों को अपनाकर, कुशल वित्तीय प्रबन्धन करना चाहिए। वास्तव में, इन इकाइयों की आर्थिक स्थिति, वाणिज्यिक सफलता, लाभोत्पादकता तथा प्रतियोगिता का सामना करने की क्षमता, बहुत कुछ सुदृढ़ वित्तीय प्रबन्धन पर निर्भर करती है।

5.2 लघु इकाइयों के लिये पूँजी की आवश्यकता (Need for Capital for small scale units)

लघु इकाइयों की स्थापना तथा सफल संचालन के लिये कई प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती हैं। इन इकाइयों की पूँजी सम्बन्धी आवश्यकता निम्नलिखित प्रकार की होती हैः-

(1) अल्पकालीन पूँजी (Short Term capital)

इस प्रकार पूँजी कम समय के लिये होती है। अल्प काल का तात्पर्य एक वर्ष से कम होता है। इस प्रकार की पूँजी की आवश्यकता कच्चे माल, मजदूरी, वेतन आदि के लिये होती है।

(2) मध्यकालीन पूँजी (Medium Term Capital)

एक वर्ष से पाँच वर्ष तक के लिये जिस पूँजी की आवयकता होती है, उसे मध्यकालीन पूँजी कहते हैं। मध्यकालीन पूँजी की आवश्यकता स्थायी पूँजी, अल्पकालीन

विस्तार, प्रतिस्थापना विद्यमान स्थिति में परिवर्तन आदि के लिये होती है।

(3) दीर्घकालीन पूँजी (Long Term Capital)

पाँच से अधिक वर्षों के लिये जिस पूँजी की आवश्यकता होती है उसे दीर्घकालीन पूँजी कहते हैं। इस प्रकार के पूँजी की आवश्यकता नये व्यवसाय की स्थापना, विद्यमान व्यवसाय में अधिक विस्तार, आधुनिकीकरण आदि के लिये होती है।

5.3 वित्त के स्रोत (Sources of finance)

पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हमें दो प्रकार के वित्त की आवश्यकता होती है -

(अ) दीर्घकालीन वित्त तथा

(ब) कार्यशील पूँजी सम्बन्धी वित्त।

इन दोनों प्रकार के वित्त व्यवस्था का विवरण अग्रलिखित है -

5.3.1 (अ) दीर्घकालीन वित्त (Long Term Finance)

दीर्घकालीन पूँजी को स्थायी पूँजी भी कहते हैं। वास्तव में स्थायी सम्पत्तियों को क्रय करने के लिये जिस पूँजी की आवश्यकता होती है, उसे स्थायी पूँजी कहते हैं। स्थायी पूँजी दीर्घकालीन वित्त से ही प्राप्त होती है। दीर्घकालीन वित्त की मात्रा, संस्था की प्रकृति, उसका आकार, उत्पादन की तकनीक, बाजार की स्थिति आदि पर निर्भर होती है। नये लघु उद्यम की स्थापना के लिये जो प्रोजेक्ट रिपोर्ट तैयार की जाती है उसमें पहले से ही स्थायी पूँजी का अनुमान लगाया जाता हैं ।

स्थायी पूँजी के प्रमुख स्रोत

इसके प्रमुख स्रोत स्वामित्व पूँजी (Owners' equity) तथा दीर्घकालीन ऋण हैं। इनके अतिरिक्त सार्वजनिक जमा (Public Deposit) तथा विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं से लिया गया ऋण भी है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैः-

(1) स्वामित्व पूँजी (Owner's equity) - लघु इकाइयों के लिये स्वामित्व पूँजी उनके स्वामी की व्यक्तिगत धन सम्पत्ति तथा इष्टमित्रों से प्राप्त पूँजी होती है। एकल व्यापारी तथा साझेदारी में इसी प्रकार से स्वामित्व पूँजी प्राप्त की जाती है। कम्पनियों की दशा में अंशों का निर्गमन करके अंश पूँजी प्राप्त की जाती है। सार्वजनिक कम्पनी अपने अंशों का निर्गमन जनता में करती है।निजी कम्पनी की दशा में अंश जनता में निर्गमित नहीं किये जाते है। इस प्रकार से प्राप्त पूँजी संस्था के जीवनकाल तक उपलब्ध रहती है।

(2) दीर्घकालीन ऋण (Long Term debt) - एकल व्यापारी तथा साझेदारी की दशा में दीर्घकालीन ऋण वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त ऋण ही होती है। इसके अतिरिक्त बैंकों से लिया गया ऋण, बीमा पॉलिसी ऋण,तथा अपने इष्ट मित्रों से लिया गया असुरक्षित ऋण आदि भी है। कम्पनी की दशा में जनता में ऋणपत्र का निर्गमन करके दीर्घकालीन वित्त प्राप्त किया जा सकता है। ऋण पत्र क्रय करने वाले ऋणपत्रधारी कहलाते हैं और वे कम्पनी के केवल लेनदार होते हैं। अंशधारी की तरह वे कम्पनी के स्वामी नहीं होते हैं। इन ऋणपत्रधारियों को ऋण पर ब्याज मिलता है जबकि अंशधारियों को अंश पर लाभांश मिलता है। यह ब्याज हानि की स्थिति में भी देय होता है। ऋणपत्र, सामान्यतया 10 से 15 वर्षों के लिये निर्गमित किये जाते हैं। उस निश्चित अवधि के उपरान्त, ऋणपत्रधारियों को पुनः भुगतान करना आवश्यक होता है।

आजकल परिवर्तनीय ऋणपत्र (Convertible debenture) का चलन बढ़ गया है। इसको एक निश्चित अवधि के पश्चात अंशों में परिवर्तित कर दिया जाता है। इसके फलस्वरूप, इसमें ऋणपत्र तथा अंश दोनों का ही लाभ मिल जाता है।

(3) सार्वजनिक जमा (Public deposit): कम्पनी की दशा में, सार्वजनिक जमा से भी पूँजी प्राप्त की जाती है। कम्पनी के लिये यह सुविधाजनक है तथा कम्पनी अधिनियम 1956 में इसके लिये आवश्यक प्रावधान भी किया गया है। किन्तु लघु इकाइयों के लिये जो एकल व्यापार या साझेदारी के रूप में कार्यरत है। सामान्यतया, सार्वजनिक जमा की सुविधा प्राप्त नहीं है। वैसे सार्वजनिक जमा के माध्यम से पर्याप्त जमा आसानी से प्राप्त हो जाती है जिसकी लागत भी कम होती है तथा किसी प्रतिभूति की आवश्यकता नहीं होती। कम्पनियों की दशा में, पूँजी प्राप्त करने का यह भी एक लोकप्रिय माध्यम है।

(4) वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त ऋण (Loans from Financial Institutions):

देश में उद्यमियों की वित्त सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनेक वित्तीय संस्थायें स्थापित की गई हैं जो दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। ये संस्थायें केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा स्थापित की गई हैं। शीर्ष स्तर पर, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) की स्थापना की गई है। भारतीय औद्योगिक वित्तीय निगम (IFCI) तथा वाणिज्यिक बैंक आदि भी लघु एवं मध्यम इकाइयों को वित्तीय सहायता प्रदान कर रही है। राज्य स्तर पर, राज्य वित्तीय निगम (SFC) इन इकाइयों को वित्तीय सहायता प्रदान करती है। इनके द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता में ऋण अभिगोपन, प्रत्यक्ष, निवेश तथा गारण्टी आदि सम्मिलित हैं।

इस सम्बन्ध में, निम्नलिखित चित्र से इन संस्थाओं के बारे में जानकारी हो जायेगी।

शीर्ष पर (APEX)

SIDBI

बैंक

(1) वाणिज्यिक बैंक

(2) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक (RRB'S)

(3) सहकारी बैंक

राज्य स्तरीय संस्थायें

(i) SFC,

(ii) SIDC,

(iii) SIICS

(iv) SSIDCS

अन्य

(i) NABARD

(ii) MISCS

इस प्रकार उपरोक्त विभिन्न संस्थायें इन लघु इकाइयों को मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन वित्तीय सहायता प्रदान कर रही हैं।

इन वित्तीय संस्थाओं में, सिडबी की भूमिका शीर्ष स्तर पर इन सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्यम क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं, इसलिये इसका विस्तृत वर्णन किया जा रहा है।

5.3.2 भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (Small Industries Development Bank of India, SIDBI)

सिडबी का ध्येय, मुख्यतया आर्थिक संवृद्धि, रोजगार सृजन तथा संतुलित क्षेत्रीय विकास की प्रक्रिया में योगदान करके अल्प, लघु एवं मध्यम उद्यम क्षेत्र को सशक्त बनाना है। इसका लक्ष्य है, ''अल्प, लघु एवं मध्यम क्षेत्र को सुदृढ़, ऊर्जावान तथा वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्द्धा बनाने योग्य के उद्देश्य से उसकी वित्तीय एवं विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का एकल केन्द्र बनाना, सिडबी की छवि वरीय और ग्राहक

अनुकूल संस्था के रूप में स्थापित करना तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी का उपयोग करते हुए शेयर धारकों के धन तथा सर्वोच्च निगमित मूल्यों की वृद्धि करना है।'' सिडबी वित्त व्यवस्था करने के अतिरिक्त इन इकाइयों के प्रवर्तन,विकासत्व सम्बन्धी अनेक प्रकार की सेवायें प्रदान करता है। यह नई-नई प्रायोजनाओं के माध्यम से सहायता प्रदान करना, इन इकाइयों के पुनर्स्थापन आधुनिकीकरण की व्यवस्था करने आदि में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाती है।

सिडबी, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रकार की आर्थिक सहायता इन इकाइयों को प्रदान करती है। सिडबी के द्वारा स्वीकृत तथा संवितरित धनराशि का विवरण निम्निलिखित तालिकाओं से स्पष्ट हो जायेगा :-

सिडबी द्वारा स्वीकृत धनराशि (Amount sanctioned by SIDBI)

वर्ष	धनराशि (करोड़ रू.में)
1991	2,410
2005	9,091
2006	11,975
2007	11,102
2008	16,164

1991 की अपेक्षा 31 मार्च को समाप्त वर्ष के दौरान 2008 में स्वीकृत धनराशि में लगभग सात गुने की वृद्धि हुई है । 2007 को छोड़ कर अन्य वर्षों में इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है। 1991 में स्वीकृत धनराशि केवल 2,410 करोड़ रू. थी जो 2008 में बढ़ कर 16,164 करोड़ रू. हो गयी। 2007 में यह स्वीकृत धनराशि 11,102 करोड़ रू. थी जो 2008 में बढ़कर 16,164 करोड़ रू. हो गयी।

धनराशि की स्वीकृत के पश्चात, सिडबी उसका संवितरण करती है। संवितरण की राशि स्वीकृति राशि से सामान्यतया कम होती है और समय से 31 मार्च तक उसका संवितरण नहीं हो पाता है। सिडबी द्वारा की गयी धनराशि का विवरण निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होगा :-

सिडबी द्वारा संवितरण धनराशि (Amount disbursed by SIDBI)

रू. करोड़ में

वर्ष	संवितरण
1991	1,839
2005	6,188
2006	9,100
2007	10,225
2008	15,087

31 मार्च को समाप्त वर्ष के दौरान उपर्युक्त धनराशि दी गई हैं। 1991 में संवितरण धनराशि केवल 1,839 करोड़ रू. थी जो कि 2008 में लगभग आठ गुना बढ़कर 15,087 करोड़ रूपया हो गई । 2007 में यह धनराशि 10,225 करोड़ रू.थी जो बढ़कर 2008 में 15,087 करोड़ रूपया हो गई जो कि लगभग डेढ़ गुना अधिक थी। यद्यपि स्वीकृत धनराशि की अपेक्षाकृत संवितरण धनराशि सभी वर्षों में कम रही है।

सिडबी पुनर्वित्त सहायता भी प्रदान करती है। 2008 में इस सहायता में 76.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई । सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्यम हेतु प्रत्यक्ष ऋण की उपलब्धता में 2008 में 18 प्रतिशत की वृद्धि हुई । पहली बार 2008 में बैंक का कुल बकाया संविभाग (Aggregate outstanding portfolio) 20,000 करोड़ रूपया पार कर गया और 31 मार्च 2008 तक यह 26.2 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज करते हुये 20,226 करोड़ रूपया हो गया।

सिडबी अल्पवित्त (Microfinance) पर भी ध्यान देती रही है जिससे निर्धन , विशेष रूप से महिलाओं को आवश्यक वित्तीय सहायता प्राप्त हो सके। सिडबी द्वारा अल्पवित्त के अन्तर्गत 2008 में कुल ऋण स्वीकृतियों में 93.8 प्रतिशत की वृद्धि हुई और ये 745.95 करोड़ रूपया हो गई जबकि संवितरण बढ़ कर 695.80 करोड़ रूपया हो गई। इसमें लगभग 100 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

2008 में, सिडबी में सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्यमों के लिये इक्विटी सहायता के रूप में एक नई योजना आरम्भ की जिससे उन्हें अपनी गतिविधियों का विस्तार करने तथा मूल उपकरण विनिर्माताओं के साथ एकीकरण करने में सहायता मिल सके। इस वर्ष के दौरान सिडबी ने एक व्यापक गारण्टी योजना आरम्भ की जिसका उद्देश्य इस उद्यम क्षेत्र के अपने ग्राहकों को वित्तीय, कार्य निष्पादन तथा आस्थगित भुगतान की गारण्टी

प्रदान करना है।

सिडबी राज्य वित्तीय निगमों के पुनरूद्धार की चुनौती का सामना भी कर रहा है क्योंकि ये राजय वित्तीय निगम भी लघु उद्यमों को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। 2008-09 के बजट में 2000 करोड़ रू. प्रतिनिधि की दर से दो निधियों के निर्माण का प्रस्ताव रखा है, जिनमें एक पूँजी के वित्तीयन हेतु तथा दूसरा इस उद्यम क्षेत्र के पुनर्वित्त क्षमता में वृद्धि कर सकेगा।

सूक्ष्म, लघु तथा मध्यम उद्यमों के कई उत्पादों को अनारक्षित कर दिया गया है। इसके फलस्वरूप इस क्षेत्र के समक्ष अब प्रतिस्पर्द्धा प्रौद्योगिक उन्नयन की आवश्यकता बढ़ गई है। साथ ही, पर्यावरण संरक्षण से जुड़े मुद्दे विनिमय दर में उतार-चढ़ाव और मार्जिनों में वृद्धि के दबाव की चुनौतियाँ इनके समक्ष आ गई हैं। इसके साथ ही वैश्विक बाजार के खुलने तथा बड़ी इकाइयों द्वारा आउट सोर्सिंग किये जाने के फलस्वरूप इन सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम क्षेत्र को अपने परिचालनों का विस्तार करने का पर्याप्त अवसर मिल रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में सिडबी द्वारा अपनाये गये उपायों से इस क्षेत्र के उद्यमों को पर्याप्त लाभ होगा।

5.4 कार्यशील पूँजी वित्त (Working capital finance)

प्रत्येक व्यावसायिक संस्था में दिन-प्रतिदिन के कार्य-कलापों के संचालन के लिये वित्त की आवश्यकता होती है। वास्तव में, लघु इकाइयों को भी कार्यशील पूंजी के लिये वित्त की आवश्यकता होती है जिससे वे अपने व्यवसाय का संचालन सुचारू रूप से कर सकें। यह पूँजी अल्पकालीन होती है। कार्यशील पूँजी का कुशल प्रबन्धन, लघु इकाइयों के लिये अत्यन्त आवश्यक है।व्यवहार में यह पाया गया है कि कार्यशील पूँजी उपलब्ध न होने से ये इकाइयाँ रूग्ण हो जाती हैं। यदि कार्यशील पूँजी का समुचित प्रबन्धन किया जाता है तो उत्पादकता तथा लाभ अधिकतम हो सकता है। कार्यशील पूँजी के कुशल प्रबन्धन से नकद प्राप्ति एवं नकद भुगतान में सामंजस्य रहता है और नकदी की कमी नहीं हो पाती है।

प्रबंधक की दृष्टि से कार्यशील पूँजी के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं -

(1) पूँजी का प्रयोग इस ढंग से करना कि अधिकतम उत्पादकता तथा लाभ प्राप्त हो सके। इसके लिये स्थायी पूँजी तथा कार्यशील पूँजी का अनुपात समुचित होना चाहिए।

(2) इसका उद्देश्य, यह भी देखना है कि आवश्यक धन निर्बाध रूप से उपलब्ध होता रहे।

(3) रोकड़ प्राप्ति तथा रोकड़ भुगतान में सामंजस्य बनाये रखना।

(4) चल सम्पत्तियों में लगायी पूँजी को न्यूनतम रखना, तथा

(5) चल सम्पत्ति तथा चालू दायित्वों में सन्तुलन बनाये रखना।

कार्यशील पूँजी के प्रकार (Types of working capital)

कार्यशील पूंजी दो प्रकार की होती है- (अ) सकल कार्यशील पूँजी तथा (ब) शुद्ध कार्यशील पूँजी।

(अ) सकल कार्यशील पूँजी (Gross Working Capital) - सभी चल सम्पत्तियों के योग को सकल कार्यशील पूँजी कहते हैं। यह एक वित्तीय प्रत्यय है। इसमें नगद राशि, अल्पकालीन निवेश, बिल, स्टॉक तथा देनदार आदि चल सम्पत्तियों की राशि सम्मिलित होती हैं ।

(ब) शुद्ध कार्यशील पूँजी (Net working capital) - सामान्यतया, चल सम्पत्तियों की राशि, चालू दायित्वों की राशि से अधिक होती है। चालू दायित्वों पर चल सम्पत्तियों का आधिक्य शुद्ध कार्यशील पूँजी कहलाता है। दूसरे शब्दों में -

चल सम्पत्ति - चालू दायित्व = शुद्ध कार्यशील पूँजी ।

शुद्ध कार्यशील पूँजी एक लेखांकन सम्बन्धी प्रत्यय है। शुद्ध कार्यशील पूँजी एकल व्यापारी साझेदारी के लिये अधिक उपयुक्त है, जहाँ पर स्वामित्व, प्रबंध तथा नियंत्रण संयुक्त होता है। यह पूँजी, संस्था के वित्त के विषय में परिमाणात्मक सूचना देती है और संस्था की तरलता को इंगित करती है।

5.4 कार्यशील पूँजी चक्र (Working Capital Cycle)

लघु उद्यमों में, कार्यशील पूँजी के कुशल प्रबंधन के लिये, कार्यशील पूँजी चक्र को जानना आवश्यक है। कार्यशील पूँजी का चक्र आरम्भ होता है कच्चे माल के क्रय से और उसका अन्त होता है निर्मित वस्तु की बिक्री द्वारा नकद राशि प्राप्त करने पर। कच्चे माल के क्रय के लिये आदेश दिया जाता है। माल प्राप्त होने के साथ ही उसका बीजक भी प्राप्त होता है। कच्चे माल को निर्मित माल में बदलने की प्रक्रिया चलती है और फिर निर्मित माल प्राप्त हो जाता है। निर्मित माल को बेचकर नकद राशि प्राप्त होती है। इस प्रकार से यह कार्यशील पूँजी का चक्र कच्चे माल के क्रय से लेकर निर्मित माल की बिक्री द्वारा नकद प्राप्ति तक निरन्तर चलता रहता है। इसे निम्नलिखित चित्र द्वारा दर्शाया गया है :-

6 - 7 कच्चे माल का क्रय

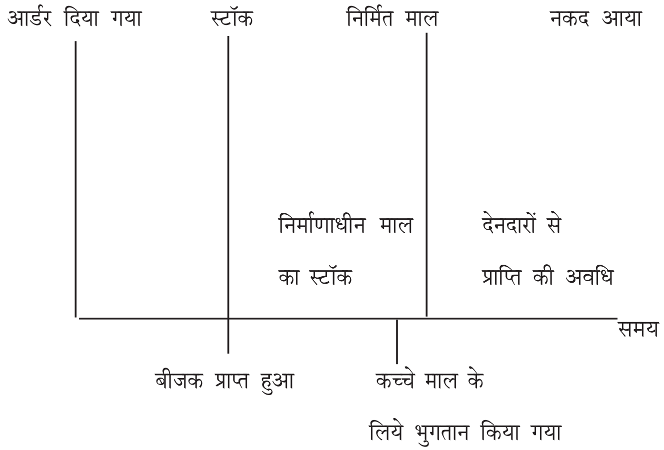

Source V. Desai, Small Scale Industries and Entrepreneurship (Himalaya pub- house.) Mumbai 2008 p. 195.

जितनी तेजी के साथ यह कार्यशील पूँजी चक्र समाप्त होगा, उतना ही संस्था के लिये अच्छा होगा। यदि इस चक्र के पूरे होने की अवधि अधिक होगी तो कार्यशील पूँजी की आवश्यकता भी अधिक होगी।

5.4.2 कार्यशील या अल्पकालीन पूँजी के स्रोत (Sources of working or short term capital)

कार्यशील या अल्पकालीन पूँजी के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैं :-

(1) बैंक से ऋण (Bank Loan) - कार्यशील पूँजी का प्रमुख स्रोत वाणिज्यिक बैंकों से प्राप्त ऋण है। इस सम्बन्ध में बैंक ऋण देते समय लघु इकाई की ख्याति व ऋण भुगतान की क्षमता देखती है। जितनी अधिक ख्याति व ऋण भुगतान की क्षमता होगी उतना ही अधिक ऋण प्राप्त हो सकेगा। प्रायः बैंक अधिविकर्ष के रूप में यह सुविधा प्रदान करती है।

(2) व्यापारिक लेनदार (Trade Creditors) - जिन संस्थानों से उधार माल क्रय किया जाता है वे व्यापारिक लेनदार होते हैं । माल क्रय करने तथा उनको भुगतान देने की अवधि में अन्तराल होता है। जितना यह अन्तराल होगा उतनी ही कम कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी। व्यवहार में, यह कार्यशील पूँजी का एक महत्वपूर्ण स्रोत है।

(3) वाणिज्यिक पेपर (Commercial Paper) - वाणिज्यिक पेपर द्वारा भी, कार्यशील पूँजी प्राप्त होती है। यह एक अल्पकालीन प्रतिज्ञा-पत्र की तरह होता है जिसकी

एक निश्चित अवधि होती हैं । यह अवधि 90 से 180 दिन तक होती है। इस अवधि के उपरान्त उसका भुगतान आवश्यक हो जाता है । वास्तव में यह पूर्णतया असुरक्षित प्रपत्र होता है।

(4) ह्रास (Depreciation) - प्रायः प्रत्येक संस्था अपनी स्थायी सम्पत्तियों पर ह्रास की व्यवस्था करती है। ह्रास की धनराशि लाभ-हानि खाते के डेबिट पक्ष में दिखाया जाता है, पर यह धनराशि संस्था में ही विनियोजित रहती है। इस प्रकार यह धनराशि कार्यशील पूँजी के लिये प्रयोग में लाई जाती है।

(5) कर सम्बन्धी दायित्व - लाभ पर निश्चित दर से सरकार को कर देना पड़ता है। लघु इकाइयाँ भी अपना लाभ-हानि खाता तैयार करते समय कर का प्रावधान करती है। व्यवहार में, कर का प्रावधान करने तथा कर के भुगतान करने की अवधि में कुछ समय का अन्तराल रहता है। इस अन्तराल में प्रावधान की वह धनराशि कार्यशील पूँजी के रूप में कार्य करती है।

इस प्रकार से अल्पकालीन वित्त या कार्यशील पूँजी को लघु इकाइयाँ विभिन्न स्रोतों से प्राप्त कर सकती हैं। कुछ कार्यशील पूँजी, स्थायी प्रकार की हो सकती है जिनकी आवश्यकता एक वर्ष से अधिक के लिये होती है। ऐसी स्थायी कार्यशील पूँजी की व्यवस्था, दीर्घकालीन स्रोतों से की जाती है, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

5.5 पट्टे द्वारा वित्त व्यवस्था (Lease Financing)

लघुस्तरीय उद्यमों के लिये, प्रायः यह कठिनाई होती है कि उनके पास दीर्घकालीन स्थायी पूँजी नहीं होती और उत्पादन के लिये मँहगी मशीनें क्रय नहीं कर पाते हैं। पट्टे पर मशीन लेने के अन्तर्गत यह व्यवस्था होती है कि एक निश्चित अवधि के लिए मशीन पट्टे पर ले ली जाती है जिसके लिये एक मुश्त मूल्य का भुगतान नहीं करना पड़ता है। पट्टा दाता (Lessor) मशीन या अन्य महँगा उपकरण इस शर्त पर देता है कि लघु इकाई उसका उपयोग उत्पादन के लिये करे और इसके बदले पट्टेदार (Lessee) को निश्चित किराया देना होता है। उसका स्वामित्व पट्टादाता के पास ही रहता है। यह सुविधा एक निश्चित अवधि के लिए ही पट्टादाता द्वारा की जाती है। उस अवधि के उपरान्त, वह मशीन या उपकरण वापस ले लेता है। इस प्रकार से, पट्टेदार बिना एक मुश्त भुगतान किये मशीन से उत्पादन कर पाता है। वास्तव में यह वित्तीयन

का एक उत्तम स्रोत है और पट्टेदार के लिये अत्यन्त सुविधाजनक है। लघु इकाइयों में यह वित्त व्यवस्था अत्यधिक प्रचलित है। इससे पट्टेदाता तथा पट्टेदार दोनों को लाभ होता है।पट्टादाता बिना स्वामित्व खोये किराया अर्जित करता है जबकि पट्टेदार बिना एक मुश्त भुगतान किये बिना ऋण लिये मशीन से उत्पादन कर पाने में सक्षम होता हैं।

पट्टे पर सम्पत्ति के लिए पट्टेदार तथा पट्टादाता में एक संविदा किया जाता है। इस संविदा में पट्टा संबंधी सभी शर्तें दी जाती हैं, यथा पट्टा की अवधि, किराया की राशि, नवीनीकरण सम्बन्धी शर्तें, पट्टा रद्द करने सम्बन्धी व्यवस्था, उस सम्पत्ति के रख-रखाव सम्बन्धी प्रावधान आदि।

पट्टा दो प्रकार का हो सकता है परिचालन पट्टा (Operating lease) तथा वित्तीय पट्टा। परिचालन पट्टा अल्प अवधि का होता है, जबकि वित्तीय पट्टा दीर्घकालीन अवधि का होता है। परिचालन पट्टा पट्टे पर दी गयी सम्पत्ति का निर्माता होता है जबकि वित्तीय पट्टा बैंकों, वित्तीय संस्थाओं तथा पट्टा देने वाली कम्पनी द्वारा अपनाया जाता है।

पट्टा में, यह प्रावधान भी रहता है कि सम्पत्ति का रख-रखाव कौन करेगा। पट्टादाता ही यह दायित्व अपनाता है। यदि वह नहीं अपनाता तो इस का भार पट्टेदार पर पड़ता है।

सामान्यतया, पट्टा एक निश्चित अवधि के लिये ही दिया जाता है परन्तु संविदा में इसके नवीनीकरण की भी व्यवस्था की जा सकती है। संविदा में ही, पट्टे के नवीनीकरण का प्रावधान किया जाता है।

अनेक कम्पनियाँ, बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थायें पट्टे के लिये वित्त व्यवस्था प्रदान करती हैं। इसीलिये सम्पत्तियों के लिये यह वित्त व्यवस्था अत्यन्त प्रचलित है।

5.6 किराया क्रय वित्त व्यवस्था (Hire Purchase Financing)

लघु उद्यम, अपनी स्थायी सम्पत्तियों के क्रय के लिये किराया क्रय प्रणाली को भी अपनाती रही हैं। यह वित्त व्यवस्था का एक प्रचलित माध्यम रहा है। इस प्रणाली के अन्तर्गत भी, स्थायी सम्पत्ति के क्रय के लिये एकमुश्त धनराशि का भुगतान नहीं करना पड़ता अपितु एक निश्चित अवधि -अन्तराल पर आसान किश्तों में देना होता है। लघु उद्यमों के लिये, यह व्यवस्था अधिक उत्तम है क्योंकि उन्हें स्थायी सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये एक मुश्त धनराशि देने की आवश्यकता नहीं होती और धीरे-धीरे उनका भुगतान करके सम्पत्ति विशेष का स्वामित्व भी ग्रहण कर लेती है।

इसके लिये, किराया क्रय अधिनियम (Hire Purchase Act)1972 भी पारित किया गया है।

5.6.1 किराया-क्रय पद्धति की परिभाषा (Definition of Hire Purchase System)

किराया-क्रय पद्धति की निम्नलिखित परिभाषायें उल्लेखनीय हैं -

एल.सी.क्रापर के अनुसार, ''किराया क्रय पद्धति अनुबंध की विशेषता यह है कि माल का स्वामित्व विक्रेता के पास रहता है, लेकिन किरायेदार बहुत से स्वीकृत भुगतान में से प्रथम भुगतान देने पर उसको प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। अंतिम किश्त का भुगतान करने के बाद किरायेदार माल का कानूनी अधिकारी बन जाता है और फिर पहले वाले मालिक का इसमें कोई हित नहीं रहता है।''

उसी प्रकार **कार्टर** के शब्दों में, ''किराया क्रय पद्धति एक ऐसी पद्धति है जिसमें माल की कीमत सामयिक किश्तों द्वारा माल को क्रय करने के उद्देश्य से भुगतान की जाती है। अंतिम किश्त के भुगतान के समय तक प्रत्येक भुगतान को किराया माना जाता है और माल का स्वामित्व क्रेता को तभी मिलता है जबकि उसके द्वारा सब किश्तों का भुगतान कर दिया जाता है।''

5.6.2 किराया क्रय-पद्धति की विशेषताएं (Characteristics of Hire Purchase System)

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर इस पद्धति की संक्षेप में निम्नलिखित विशेषताएं हैं -

(1) उधार बिक्री का रूप - इसके अन्तर्गत क्रेता को माल की पूरी कीमत का भुगतान तुरंत नहीं करना होता है। इस प्रकार से यह उधार बिक्री का ही परिवर्तित स्वरूप है।

(2) किश्तों में भुगतान - इस प्रणाली के अन्तर्गत क्रेता माल की कीमत का भुगतान किश्तों के करता है। प्रायः प्रथम किश्त का भुगतान माल लेने के साथ ही करना होता है, उसके पश्चात तिमाही, छमाही या वार्षिक किश्तों का भुगतान समझौते के आधार पर करना होता है। यदि प्रथम किश्त का भुगतान तुरंत कर दिया जाता है तो उसमें ब्याज सम्मिलित नहीं रहता, परन्तु अन्य सभी किश्तों में रोकड़ मूल्य तथा ब्याज सम्मिलित रहता है।

(3) क्रेता द्वारा माल के प्रयोग का अधिकार - माल की सुपुर्दगी पाने के पश्चात क्रेता को उसे प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है यद्यपि उसका स्वामित्व उसे नहीं मिलता।

(4) अन्तिम किश्त के भुगतान पर स्वामित्व प्राप्त होना - क्रेता माल का कानूनी तौर पर स्वामी तभी बनता है जब कि वह अन्तिम किश्त का भुगतान कर देता है। तब तक यह माना जाता है कि वह उसका किराया दे रहा है।

(5) भुगतान न होने पर विक्रेता द्वारा हरण (Forfeiture) का अधिकार - यदि क्रेता किसी किश्त का भुगतान नहीं करता है तो विक्रेता को यह अधिकार होता है कि वह माल को वापस ले ले और उस समय तक के प्राप्त धन को भी जब्त कर ले। ऐसा इसलिए किया जाता है कि जिससे क्रेता किश्तों का भुगतान निश्चित समय के अन्तराल पर करता रहे।

(6) बिक्री पर स्वत्वाधिकार - अन्तिम किश्त के भुगतान होने से पूर्व, यदि क्रेता माल को किसी अन्य व्यक्ति को बेच देता है तो वह 'अन्य व्यक्ति' उस माल पर श्रेष्ठ स्वत्वाधिकार नहीं प्राप्त करता है।

(7) मरम्मत तथा हानि का उत्तरदायित्व - अन्तिम किश्त के भुगतान होने तक विक्रेता ही उस माल का मालिक रहता है अतः उसका टूट-फूट के मरम्मत का व्यय उसे ही करना होता है। उसी प्रकार यदि कोई हानि होती है तो उसे भी विक्रेता को ही वहन करना पड़ता है।

(8) क्रेता द्वारा सावधानी बरतना - अन्तिम किश्त के भुगतान होने तक, क्रेता का यह दायित्व है कि वह माल को सावधानी से और उचित ढंग से ही प्रयोग में लाये। यह उल्लेखनीय है कि किराया क्रय प्रणाली में जो भी किश्त की राशि दी जाती है उसमें दो भाग होते हैं। एक भाग नकद मूल्य का होता है और दूसरा भाग ब्याज का होता है। ब्याज की गणना अदत्त नकद मूल्य पर निश्चित अवधि के लिये निश्चित ब्याज दर पर की जाती है। प्रायः प्रथम किश्त का भुगतान माल की सुपुर्दगी पर किया जाता है और उस स्थिति में ब्याज देय न होने के कारण प्रथम किश्त की राशि में ब्याज सम्मिलित नहीं होता है। अगर क्रेता किसी किश्त का भुगतान नहीं करता तो विक्रेता बेचे गये माल को क्रेता से जब्त कर सकता है। अन्तिम किश्त के भुगतान के पश्चात क्रेता को क्रय की गयी वस्तु या सम्पत्ति पर स्वामित्व प्राप्त हो जाता है।

5.6.3 पट्टा द्वारा तथा किराया -क्रय प्रणाली द्वारा वित्त व्यवस्था में अन्तर (Difference between lease and HIre purchase financing)

पट्टा तथा किराया क्रय दोनों ही प्रणालियों में कई महत्वपूर्ण अन्तर हैं। ये अन्तर

निम्नलिखित हैं -

(1) पट्टे पर सामान्यतया, स्थायी सम्पत्ति के क्रय करने की ही व्यवस्था की जाती है जबकि किराया क्रय प्रणाली के अन्तर्गत, स्थायी सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का भी क्रय किया जा सकता है।

(2) पट्टे के अन्तर्गत, सम्पत्ति विशेष पर पट्टादाता का अधिकार ही नहीं स्वामित्व भी अन्त तक रहता है। पट्टेदार को उसका स्वामित्व कभी भी नहीं मिलता। पट्टे की अवधि की समाप्ति के पश्चात पट्टादाता अपनी सम्पत्ति वापस ले लेता है। किराया क्रय प्रणाली के अन्तर्गत ऐसा नहीं होता है इसके अन्तर्गत क्रेता को अन्तिम किश्त के भुगतान के बाद सम्पत्ति या अन्य वस्तु का स्वामित्व प्राप्त हो जाता है।

(3) पट्टे के अन्तर्गत पट्टादाता ह्रास आदि के लिये कर के सम्बन्ध में किसी कटौती का दावा नहीं कर सकता है। जबकि किराया क्रय प्रणाली के अन्तर्गत क्रेता ह्रास के सम्बन्ध में कटौती का दावा कर सकता है।

(4) पट्टे के अन्तर्गत, पट्टादाता पट्टेदार से किराया वसूल करता है और इस किराये की राशि को कर के सम्बन्ध में कटौती कर सकता है। किराया क्रय के अन्तर्गत क्रेता किश्तों का भुगतान करता है और किश्त में जो ब्याज का भाग होता है उसे ही, कर के सम्बन्ध में कटौती की माँग कर सकता है ।

(5) पट्टे की दशा में पट्टेदार को सम्पत्ति का क्षेप्य मूल्य प्राप्त नहीं होता जबकि किराया-क्रय की दशा में क्रेता का ही क्षेप्य मूल्य पर अधिकार होता है। किन्तु उसका अधिकार तभी होगा जब वह अन्तिम किश्त का भुगतान कर देगा। उसके पूर्व उसका कोई अधिकार नहीं होगा।

5.7 सारांश (Summary)

लघु इकाइयों के लिये उचित एवं सुदृढ़ वित्त प्रबंधन अत्यन्त आवश्यक है। वित्त के अभाव में अनेक इकाइयों का संचालन बाधित होता है तथा वे रूग्ण हो जाती हैं अन्ततोगत्वा उन्हें बन्द कर देने की स्थिति आ जाती है। इन इकाइयों की स्थापना के लिये तो आवश्यक पूँजी चाहिए ही, साथ में कार्यशील या अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकता भी होती है। कार्यशील पूँजी के अभाव में, उनका सुचारू ढंग से संचालन संभव नहीं हो पाता है। सरकार ने भी, दीर्घकालीन पूँजी के लिये विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की स्थापना की है। शीर्ष पर सिडबी (SIDBI) की भी स्थापना, विशेष रूप से लघु इकाइयों को वित्त प्रदान करने के लिये की है। व्यापारिक बैंकों के माध्यम से सिडबी इन्हें ऋण प्रदान करती है। एक वर्ष तक के लिये आवश्यक पूँजी को अल्पकालीन पूँजी, एक से

पाँच वर्ष तक के लिये मध्यकालीन पूँजी तथा पाँच वर्ष से अधिक के लिये दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकता लघु इकाइयों को होती है।

अल्पकालीन पूँजी के तथा दीर्घकालीन पूँजी के स्रोत अलग-अलग हैं। दीर्घकालीन पूँजी स्वामित्व पूँजी, दीर्घकालीन ऋण तथा सार्वजनिक जमा से तथा विशेष वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त की जा सकती है। अल्पकालीन पूँजी बैकों से, व्यापारिक लेनदारों से, वाणिज्यिक पेपर से, ह्रास से तथा कर सम्बन्धी दायित्वों से प्राप्त हो जाती हैं।

कार्यशील पूँजी दो प्रकार की होती हैं - सकल कार्यशील पूँजी तथा शुद्ध कार्यशील पूँजी । सकल कार्यशील पूँजी सभी चल सम्पत्तियों के योग के बराबर होती है जबकि शुद्ध कार्यशील पूँजी चल सम्पत्तियों तथा चालू दायित्वों के अन्तर के बराबर होती हैं।

कार्यशील पूँजी का चक्र कच्चे माल क्रय से आरम्भ होता है तथा निर्मित माल की बिक्री करके नकद राशि प्राप्ति पर समाप्त होता है। जितनी तेजी के साथ, यह कार्यशील पूँजी चक्र समाप्त होगा उतना ही संस्था के लिये हितकर होगा।

पट्टे पर सम्पत्ति लेकर भी वित्त व्यवस्था की जाती है। इसके अन्तर्गत, किराया दे कर, सम्पत्ति ली जाती है। और निश्चित समय तक उसका उपयोग करके सम्पत्ति लौटा देनी होती है। सम्पत्ति पर स्वामित्व पट्टादाता का ही रहता है। उसी प्रकार से वित्त की व्यवस्था, किराया-क्रय प्रणाली के माध्यम से भी उपलब्ध होती है। किराया क्रय प्रणाली के अन्तर्गत प्रथम किश्त भुगतान पर, सम्पत्ति या वस्तु क्रेता को उपलब्ध हो जाती है। निश्चित ब्याज की दर पर निश्चित किश्त का भुगतान निश्चित अवधि में करना होता है। प्रत्येक किश्त में, नकद मूल्य की तथा ब्याज की राशि सम्मिलित रहती है। अन्तिम किश्त के भुगतान पर क्रेता को वस्तु या सम्पत्ति का स्वामित्व भी प्राप्त हो जाता है।

5.8 स्व-मूल्यांकन प्रश्न (Self Assessment Question)

1. पूँजी कितने प्रकार की होती है तथा लघु इकाइयों को पूँजी की आवश्यकता किन किन मदों के लिये होती है?
2. लघु इकाइयों के दीर्घकालीन पूँजी के स्रोत क्या हैं? उल्लेख कीजिये।
3. कार्यशील पूँजी किसे कहते हैं और वह कितने प्रकार की होती है?
4. लघु इकाइयों के लिये कार्यशील पूँजी के विभिन्न स्रोतों का वर्णन कीजिये।
5. पट्टे पर पूँजी व्यवस्था किस प्रकार से होती है? उल्लेख कीजिये।
6. किराया क्रय प्रणाली क्या है? इसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

7. सिडबी किस प्रकार से लघु इकाइयों को सहायता प्रदान करती है? इसकी कार्य प्रगति का वर्णन कीजिये।

5.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. Frantz, Forrest H., Successful Small Business Management, Prentice Hall New Jersey, 1978.

2. Siropoels Nicholos C., Small Business Management, Houghton Miffinco, Boston, 1990.

3. V. Desai, Small Scale Industries and Entrepreneurship, Himalaya Pub. House, Mumbai, 2008.

इकाई - 6 : कार्मिक प्रबन्ध

इकाई की रूपरेखा-

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 कार्मिक प्रबन्ध का अर्थ

6.3 कार्मिक प्रबन्ध के प्रमुख कार्य

6.4 नियुक्ति

- 6.4.1 नियुक्ति के स्रोत
- 6.4.2 कर्मचारियों का चुनाव
- 6.4.3 कार्य पर नियुक्ति

6.5 कर्मचारियों का प्रशिक्षण

- 6.5.1 प्रशिक्षण की विधियाँ
- 6.5.2 प्रशिक्षण का महत्व

6.6 मजदूरी भुगतान की पद्धतियाँ

- 6.6.1 मजदूरी भुगतान की प्रेरणात्मक योजनायें

6.7 श्रम कल्याण के प्रति दृष्टिकोण

- 6.7.1 श्रम कल्याण के भेद
- 6.7.2 श्रम कल्याण की महत्ता

6.8 सारांश

6.9 स्वमूल्यांकन प्रश्न

6.10 संदर्भ ग्रन्थ

6.0 : उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे -

- कार्मिक प्रबन्ध के अर्थ को,
- कार्मिक प्रबन्धक के कार्य के विषय में,

- कर्मचारियों की नियुक्ति के बारे में,
- कर्मचारियों के प्रशिक्षण की विधियाँ तथा उसके महत्व के बारे में,
- मजदूरी भुगतान की विभिन्न पद्धतियों के विषय में, तथा
- श्रम कल्याण के भेद तथा महत्ता के बारे में।

6.1 प्रस्तावना

प्रबन्ध के विभिन्न अंगों में अब कार्मिक प्रबन्ध की महत्ता अत्यधिक बढ़ गयी है। पहले इस पर अत्यधिक ध्यान नहीं दिया जाता था क्योंकि यह विश्वास था कि अधिकतम लाभ कमाने के लिये उत्पादन के अन्य साधनों - सामग्री, मशीन तथा पूँजी का ही समुचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए। 'मनुष्य' के प्रबन्ध के सम्बन्ध में लोगों का दृष्टिकोण सीमित था और उनका सारा ध्यान केवल इसी बात पर केन्द्रित था कि कैसे कम से कम मजदूरी देकर उनसे अधिक से अधिक काम लिया जाय। परिस्थितियों के बदलने के बाद, लोगों ने यह विचार करना प्रारम्भ किया कि यदि कर्मचारियों का प्रबन्ध समुचित ढंग और कुशलता से नहीं किया जायेगा तो अन्य साधन व्यर्थ पड़े रह जायेंगे। उत्पादन में 'मनुष्य' की महत्ता को स्वीकार करने के साथ-साथ प्रबन्ध के क्षेत्र में लोगों के दृष्टिकोण में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए और इसके साथ ही कार्मिक प्रबन्ध की महत्ता बढ़ी। आज तो यह कहा जाता है कि ''निस्सन्देह, आज के युग में प्रबन्धकों के मुख्य कार्यों में से एक अत्यन्त आवश्यक कार्य कर्मचारियों का प्रबन्ध करना है।'' यही नहीं, इसके लिए उन्हें विशेषज्ञों से परामर्श लेना भी आवश्यक हो गया है।

पीटर ड्रकर ने स्पष्ट ही कहा है कि प्रबन्ध का प्रमुख कार्य 'श्रमिकों तथा काम' का प्रबन्ध करना है। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है कि काम तो पूरा करना ही होता है और साधन, जिसका उपयोग इसको पूरा करने के लिये किया जाता है, वह श्रमिक ही है। ये श्रमिक या कर्मचारी सामान्य योग्यता वाले मजदूर से लेकर वाइस प्रेसीडेंट तक हो सकते हैं। सरकार भी, उनके हितों की रक्षा करने के लिए अनेक प्रकार के कानून बनाती है। उनके प्रावधानों का पालन करना आवश्यक हो गया है। इसके साथ-साथ यदि उत्पादन को अबाध गति से चलाना हो तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि श्रमिकों व अन्य कर्मचारियों के साथ अपने सह-सम्बन्धों को अधिक से अधिक मधुर बनाया जाय। इन सब कारणों से अब प्रबन्धक को कार्मिक प्रबन्ध की महत्ता स्वीकार करके उस पर अधिक से अधिक ध्यान देना अनिवार्य सा हो गया है।

लघु उद्यम के प्रबन्धकों को भी कार्मिक प्रबन्ध की महत्ता समझते हुए इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यथासम्भव, इसके लिये आधुनिक तकनीकों को प्रयोग में

लेना चाहिए।

6.2 कार्मिक प्रबन्ध का अर्थ (Meaning of Personnel Management)

कार्मिक प्रबन्ध के लिये अनेक शब्दों को प्रयोग में लाया जाता है। कुछ विद्वान इसे कार्मिक प्रशासन (Personnel administrataion) के नाम से तथा कुछ विद्वान जनशक्ति प्रबन्ध (Manpower Management) के नाम से सम्बोधित करते हैं।

डेल योडर (Dale Yoder) ने इसकी परिभाषा इन शब्दों में दी है - ''कार्मिक प्रबन्ध, प्रबन्ध का वह भाग है, जो श्रम शक्ति के प्रभावपूर्ण नियन्त्रण एवं उपयोग से सम्बन्धित है, जिसे अन्य शक्ति के साधनों से अलग माना गया है।'' उसी प्रकार **ई. एफ. ल. ब्रेच** के अनुसार, ''कार्मिक प्रबन्ध प्रगति का वह भाग है जो मुख्यतः किसी संगठन के मानवीय तत्वों से सम्बन्ध रखता है।''

टामस जी. स्पेट्स (Thomas G. Spates) के अनुसार ''कर्मचारी प्रशासन का अर्थ है : अलग-अलग व्यक्तियों को काम पर लगाना तथा उनकी देखभाल करना जिससे वे अपनी आन्तरिक योग्यताओं का अधिकतम उपयोग कर सकें, इस प्रकार अपनी तथा अपने दल की कुशलता को अधिकतम बना सकें और फलस्वरूप उस उपक्रम को, जिसके वे अंग हों, उसका निर्णयात्मक प्रतियोगिता - लाभ तथा अनुकूलतम परिणाम प्रदान कर सकें।''

संगठन में मानवीय सम्बन्धों पर अधिक बल देते हुये, **इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ पर्सनल मैनेजमेन्ट** ने निम्नलिखित परिभाषा दी है - ''कार्मिक प्रबन्ध, प्रबन्ध कार्य का वह भाग है जो किसी संगठन में मुख्यतः मानवीय सम्बन्धों से सम्बन्धित है। इसका मुख्य उद्देश्य उन सम्बन्धों को बनाये रखना है जो कि उपक्रम में लगे व्यक्तियों को इस योग्य बना सकें कि वे उपक्रम के प्रभावपूर्ण कार्य- संचालन में अपना अधिकतम योगदान दे सकें।''

फिलिप्पो के अनुसार, ''कार्मिक प्रबन्ध का तात्पर्य, संगठन के व्यक्तिगत तथा सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु लोगों के चुनाव, विकास, क्षतिपूर्ति एकीकरण तथा रख-रखाव के नियोजन, संगठन निदेशन तथा नियन्त्रण से है।''

इस प्रकार कार्मिक प्रबन्ध, प्रबन्ध का वह भाग है जो कर्मचारियों के प्रबन्ध से सम्बन्ध रखता है, जिसका उद्देश्य उन्हें सन्तुष्ट कर उनकी शक्तियों का अधिकतम उपयोग कर सकें।

6.3 कार्मिक प्रबन्धक के प्रमुख कार्य (Major Functions of Personnel Managemnet)

लघु उद्यम के कार्मिक प्रबन्ध को संस्था से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण कार्य करने होते हैं। उसे कर्मचारियों के सम्बन्ध में नीति-निर्माण में उच्च प्रबन्धकों को सलाह देनी होती है। उसके लिये उचित नियोजन करना पड़ता है । कर्मचारियों की नियुक्ति, प्रशिक्षण, मजदूरी, वेतन आदि से सम्बन्धित समस्याओं का निपटारा करना पड़ता है। उसे उचित औद्योगिक सह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिये प्रयास करना पड़ता है। श्रमिकों के कल्याण के लिये उचित व्यवस्था करनी होती है, उनकी योग्यता-अंकन (Merit rating) पदोन्नति आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है तथा उनके बारे में समुचित रिकार्ड रखना पड़ता है। संक्षेप में, उसे मानवीय संसाधनों से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का अध्ययन करके, उनके विकास की उचित व्यवस्था करके, काम करने का एक ऐसा उचित वातावरण तैयार करना पड़ता है जिससे कि मानवीय संसाधनों का अधिकतम उपयोग आसानी से हो सके ।

इस प्रकार इन उद्यमों के कार्मिक प्रबन्ध के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं-

(1) कर्मचारियों से सम्बन्धित नीति निर्माण (Policy formulation) - सेवावर्गीय प्रबन्धक संस्था की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रख कर, उसके अधिकतम हित में व्यावहारिक नीति तैयार करनी पड़ती है। इस सम्बन्ध में वास्तव में, वह अपने से उच्च प्रबन्धकों को समुचित सलाह देता है। इसके लिए उसे परिस्थिति-विशेष का समुचित अध्ययन करना चाहिए।

(2) मानवीय साधनों का नियोजन (Man Power planning) - कर्मचारियों से सम्बन्धित नीति के अनुसार उसे मानवीय संसाधनों के सम्बन्ध में उचित नियोजन करना होता है। इस सम्बन्ध में उसे विशेष सतर्कता की आवश्यकता होती है। यदि नियोजन का कार्य सही तथ्यों पर आधारित न होगा तो बाद में उससे कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इस नियोजन के अभाव में ही, प्रायः ऐसा देखा जाता है कि आवश्यकता से अधिक स्टॉफ की नियुक्ति (Over staffing) हो जाती है जिससें कि संस्था के साधनों की बर्बादी होती है ।

(3) कर्मचारियों की नियुक्ति एवं पद-निर्धारण (Employment and Placement) - योग्यता के अनुरूप ही, आवश्कतानुसार, विशेष निर्धारित योग्यता वाले व्यक्तियों का चुनाव करना एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसके साथ ही यह भी तय करना होता है कि योग्यता के अनुसार किस व्यक्ति को किस पद पर रखा जाय। इस सम्बन्ध में विशेष सतर्कता निभानी चाहिए क्योंकि संस्था के कर्मचारियों की कार्य कुशलता इसी बात

पर बहुत कुछ निर्भर करती है।

(4) प्रशिक्षण एवं विकास (Training and Development) - नियुक्ति के उपरान्त, कर्मचारियों की संस्था की आवश्यकता के अनुसार, समुचित प्रशिक्षण अति आवश्यक है। बिना समुचित प्रशिक्षण के नियुक्त कर्मचारी, धन व समय नष्ट कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त समय-समय पर, कर्मचारियों के विकास के लिये भी प्रयास किया जाना चाहिए जिससे कि वे भविष्य में संस्था के कार्य को और भी अधिक कुशलता के साथ कर सकें।

(5) मजदूरी एवं वेतन सम्बन्धी प्रशासन (Wage and salary administration) - कर्मचारियों को दी जाने वाली मजदूरी एवं वेतन के सम्बन्ध में उचित नीति निर्धारित करके उसका समुचित प्रशासन भी कार्मिक प्रबन्धक का प्रमुख कार्य है। प्रायः औद्योगिक संस्थाओं में श्रम सम्बन्धी विवाद, मजदूरी, बोनस तथा अन्य भत्तों को लेकर ही होता है। अतः इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक होता है।

(6) श्रम कल्याण एवं सेवायें (Labour Welfare and services) - आजकल प्रत्येक संस्था में, विशेष रूप से औद्योगिक संस्थाओं में, श्रमिकों के कल्याण सम्बन्धी बातों पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। इस सम्बन्ध में कानूनी प्रावधान भी है। इस सम्बन्ध में, संस्था के बजट को ध्यान में रखते हुए उसकी समुचित व्यवस्था करना भी कार्मिक प्रबन्धक का प्रमुख कार्य है।

(7) काम की दशायें, स्वास्थ्य तथा सुरक्षा (Working conditions, health and safety) - कर्मचारियों की कार्य-कुशलता बहुत कुछ काम करने की दशायें, उनके स्वास्थ्य तथा उनको प्रदान की जाने वाली सुरक्षा पर निर्भर करती है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि कार्मिक प्रबन्धक इस ओर विशेष ध्यान दें।

(8) श्रम सम्बन्ध (Labour relations) - आज प्रत्येक व्यावसायिक संस्था में प्रायः प्रबन्धकों व श्रमिकों के मध्य विवाद उठ खड़ा होता है और फलस्वरूप हड़ताल तालाबन्दी तथा घेराव होता रहता है। कार्मिक प्रबन्धकों को अपना अधिक समय मधुर श्रम सम्बन्ध बनाये रखने में व्यतीत करना पड़ता है। इसके लिये उसे पहले से ऐसे उपाय अपनाने पड़ते हैं जिससे विवाद उत्पन्न ही न हों । यदि विवाद हो जाये तो उसके सुलझाने के लिये प्रयास करना पड़ता है।

(9) योग्यता-अंकन, पदोन्नति आदि (Merit-rating, promotion etc.) - कर्मचारियों का योग्यता अंकन करना, कार्य सम्बन्धी मूल्यांकन करना (Job evlauation), उनकी पदोन्नति, पदावनति (demotion) तथा निकालने आदि के सम्बन्ध में भी कार्मिक

प्रबन्धक को उचित सलाह देनी पड़ती है।

(10) प्रबन्ध में सहभागिता (Participation in Management) - आजकल प्रबन्ध में श्रमिकों की सहभागिता पर विशेष बल दिया जा रहा है। इस सम्बन्ध में उचित वातावरण तैयार करना तथा उचित सलाह भी उसे देनी होती हैं ।

(11) श्रम संघों से सहयोग प्राप्त करना (Seek cooperation form trade union) - उसे श्रम संघों के नेताओं से सम्पर्क स्थापित करना, उनसे मधुर सम्बन्ध बनाये रखना तथा आवश्यकतानुसार उनसे आवश्यक सहयोग प्राप्त करना भी उसका आवश्यक कार्य है।

(12) कार्मिक व व्यवहार सम्बन्धी शोध (Personnel and behavioural research) - बड़े आकार की औद्योगिक संस्था में यह कार्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में अनेक दिशाओं में पर्याप्त शोध की व्यवस्था करनी पड़ती है। यह शोधकार्य, गुण मूल्यांकन, मजदूरी प्रशासन, नियोजन के तरीकों, कर्मचारियों के व्यवहार आदि से सम्बन्धित हो सकता है।

6.4 नियुक्ति (Recruitment)

लघु उद्यमियों को अपने उद्यम के सफल संचालन के लिये, कार्यचारियों तथा प्रबन्धकों की भर्ती करनी पड़ती है। इसके लिये, उसे कर्मचारियों की भर्ती या नियुक्ति उनका चुनाव, उनकी कार्य विशेष पर नियुक्ति आदि प्रमुख कार्य करने होते हैं। इन्हीं कार्यों का वर्णन आगे किया जा रहा है।

6.4.1 नियुक्ति के स्रोत (Sources of recruitment)

श्रमिकों तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति के लिये विभिन्न स्रोतों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। (अ) आन्तरिक (ब) बाह्य स्रोत।

(अ) आन्तरिक स्रोत (Internal Sources or recruitment form within) - अनेक संस्थाओं में संस्था के ही लोगों में से नियुक्ति करने की नीति अपनायी जाती है। यह विशेष रूप से ऊँचे पदों के लिये नियुक्ति होती है। इसके अनुसार जो लोग पहले से ही काम कर रहे हों उन्हें, यदि कोई स्थान रिक्त हो, पहले अवसर दिया जाना चाहिए। सामान्यतया, इसके लिये योग्यता या वरिष्ठता को ही आधार बनाया जाता है।

इस प्रकार संस्था के ही लोगों में से नियुक्ति करना निम्नलिखित तत्वों पर निर्भर करता है। (1) कर्मचारियों पर इसका प्रभाव जिससे उनमें सुरक्षा की भावना अधिक प्रोत्साहित हो। (2) रिक्त स्थान के लिये आवश्यक गुण, अनुभव, योग्यता व क्षमता क्या

है और ऐसे व्यक्ति संस्था में ही उपलब्ध हैं अथवा नहीं, (3) प्रबन्धकों की इस सम्बन्ध में क्या नीति है (4) यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि पदोन्नति में किस आधार को अपनाया जाता है।

(ब) बाह्य साधन (External Sources or Recruitment from outside) - श्रमिकों तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति के लिये सामान्यतया बाह्य साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। बाह्य साधन प्रत्यक्ष (direct) या परोक्ष (Indirect) दोनों ही हो सकता है। **प्रत्यक्ष बाह्य स्रोत** के अन्तर्गत कारखाने के फाटक पर ही नियुक्ति, विद्यमान कर्मचारियों की सिफारिश पर नियुक्ति, समाचारपत्रों में विज्ञापन के द्वारा नियुक्ति, कालेज या विश्वविद्यालय के माध्यम से नियुक्ति आदि आती हैं। **परोक्ष बाह्य स्रोत** के अन्तर्गत रोजगार कार्यालय, निजी रोजगार एजेसियों तथा ठेकेदारों या जाबर्स आदि के माध्यम से नियुक्ति आती है।

इस प्रकार नियुक्ति के विभिन्न बाह्य स्रोत निम्नलिखित हैं -

(1) कारखाने के फाटक पर ही नियुक्ति (Recruitment at the factory gate)- इस विधि को अकुशल (unskilled) श्रमिकों की नियुक्ति के लिए ही अपनाया जाता है। प्रायः अनेक श्रमिक काम पाने की आशा में कारखाने के फाटक पर एकत्र होते हैं और उनमें से आवश्यक व उपयुक्त लोगों को नियुक्त कर लिया जाता है। आकस्मिक श्रमिकों (Casual labour) की नियुक्ति भी प्रायः इसी प्रकार से की जाती है।

(2) विद्यमान कर्मचारियों की सिफारिश पर नियुक्ति (Recruitment on the basisof recommendations of existing employees) - कुछ संस्थाएं अपने कर्मचारियों को सन्तुष्ट करने के लिए उनके पुत्र अथवा सगे-सम्बन्धियों की नियुक्ति की नीति अपनाते हैं। इससे संस्था के प्रति वे निश्चित रूप से अधिक लगाव रखने लगते हैं। प्रायः विद्यमान कर्मचारियों से ही इस सम्बन्ध में सिफारिश ली जाती है।

(3) विज्ञापन के द्वारा नियुक्ति (Recruitment through advertisement) - कुशल श्रमिकों, क्लर्कों, तकनीकी योग्यता वाले व्यक्तियों तथा प्रबन्धकों आदि के लिए प्रायः समाचारपत्रों में विज्ञापन देकर ही नियुक्ति की जाती है। यह नियुक्ति करने की एक बहुत ही अधिक लोकप्रिय विधि है। इस विधि को वैसे अकुशल श्रमिकों की नियुक्ति के लिये नहीं अपनाया जाता है।

(4) कॉलेज, विश्वविद्यालय तथा इन्स्टीट्यूट से सीधे नियुक्ति (Recruit-ment directly from the College, University and Institute) - तकनीकी तथा पेशेवर योग्यता वाले अभ्यर्थियों की नियुक्ति के लिये कालेज, विश्वविद्यालय

अथवा सम्बन्धित इन्स्टीट्यूट जाकर उपयुक्त अभ्यर्थियों की नियुक्ति की जा सकती है - इन्जीनियर, व्यवसाय प्रबन्धक व प्रशासक आदि की नियुक्ति इस प्रकार सुविधा से की जा सकती है।

(5) रोजगार कार्यालय के माध्यम से (Through employment Exchange) - यह नियुक्ति का प्रमुख बाह्य साधन है। जो लोग नौकरी पाने के इच्छुक हैं वे अपना रजिस्ट्रेशन इस कार्यालय में करा लेते हैं। ये रोजगार कार्यालय विभिन्न नियोक्ताओं से अपना सम्पर्क बनाये रखते हैं और जब स्थान रिक्त होते हैं तो अपने यहाँ से उपयुक्त योग्तया वाले लोगों को उसकी सूचना देते हैं। सरकार कार्यालय में कोई भी नियुक्ति बिना इस कार्यालय के नहीं की जाती है। निजी संस्थाओं के लिये यह अनिवार्य नहीं है।

(6) ठेकेदार या जॉबर्स के माध्यम से (Through Contractors or jobbers) - कारखानों में श्रमिकों की नियुक्ति का यह सबसे लोकप्रिय साधन है । ये ठेकेदार जहाँ-जहाँ श्रमिक उपलब्ध हैं वहाँ जाकर उनसे सम्पर्क स्थापित करते हैं और जब कारखानों को आवश्यकता पड़ती है तो उनकी पर्याप्त व्यवस्था करते हैं। इसके लिये वे अपना कमीशन वसूल करते हैं। इस क्षेत्र में हमारे देश में उन्होंने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। विभिन्न क्षेत्रों में उन्हें भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। सरदार, मिस्त्री, मुकुद्दम, चौधरी, कंगनी आदि नाम से वे पुकारे जाते है।। कई स्थानों पर तो नियुक्ति के अतिरिक्त वे अन्य कार्य भी करते हैं। प्रायः वे श्रमिकों को ब्याज पर रूपया उधार देते हैं।

6.4.2 कर्मचारियों का चुनाव (Selection of employees)

चुनाव का तात्पर्य किसी कार्य विशेष के लिए उपयुक्त व्यक्ति के चुनने की प्रक्रिया से है। यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि चुनाव ढंग से व उचित व्यक्तियों का नहीं किया जायेगा तो उससे संस्था को ही हानि होगी। चुनावकर्ता को यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक कार्य के लिए धन का विनियोग करना पड़ता है और यदि उपयुक्त व्यक्ति का चुनाव नहीं होता तो उस पर किये गये विनियोग की हानि होगी। उसके साथ ही प्रत्येक चुना हुआ व्यक्ति संस्था के लिए अतिरिक्त समस्या उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति के चुनाव में पर्याप्त जोखिम भी निहित रहती है।

चुनाव की विधि (Selection procedure) - किसी कार्य विशेष के लिए व्यक्ति का चुनाव करने में कई कदम उठाने पड़ते हैं उसके लिए प्रार्थना पत्र आमंत्रित करना पड़ता है, उनका समुचित विश्लेषण करना पड़ता है, परीक्षा लेनी पड़ती है, उनके

साक्षात्कार की व्यवस्था करनी पड़ती है, उनके द्वारा दिये गये हवालों की जांच करनी पड़ती है, तथा आवश्यकतानुसार उनकी मेडिकल जाँच करानी पड़ सकती है। इन्हीं का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

6.4.3 कार्य पर नियुक्ति (Placement)

प्रार्थी जब चुनाव की सभी प्रक्रियाओं से गुजर चुका हो तो उसे उस कार्य को सौंप दिया जाता है जो उसके लिए सबसे उपयुक्त हो। कार्य पर उसकी नियुक्ति करते समय विशेष ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। उसे उसी कार्य के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए जिसके लिए वह सबसे उपयुक्त हो अन्यथा न ही वे ठीक से काम करके सन्तुष्ट हो पायेगा और न ही उसके विभाग के अध्यक्ष। वास्तव में कोई भी व्यक्ति अन्तिम रूप से नियुक्त तभी समझा जायेगा जब उसने कुछ दिन कार्य कर लिया हो और उसे तथा उसके नियोक्ता दोनों को सन्तुष्टि हो। इसलिए अन्तिम रूप से नियुक्त करने के पहले चुने हुए व्यक्ति को परिवीक्षा (Probation) पर कुछ समय के लिए रखा जाता है। उसे अन्तिम रूप से नियुक्त इस परिवीक्षा अवधि (Probation period) की समाप्ति पर, अथवा सन्तुष्ट होने पर उसके पहले की जाती है।

उसके कार्य पर नियुक्त होने पर उसके साथी कर्मचारियों की प्रतिक्रियाओं पर भी ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे नियमित काम सौंपने के उपरान्त उसे संस्था का एक अंग बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए। इसके लिए उसे संस्था के सभी अंगों, नीतियों, उद्देश्यों, नियमों तथा उपलब्धियों आदि की जानकारी दी जानी चाहिए तथा साथ ही संस्था के प्रमुख कर्मचारियों तथा अधिकारियों से परिचित कराना चाहिए। यह कार्य, जिसे प्रवेश की कार्यवाही (induction) कहते है, अत्यन्त आवश्यक है जिससे कर्मचारी संस्था में अपने को पूर्णतया अजनबी न समझे और शीघ्र ही उसका अभिन्न अंग बन जाये।

6.5 कर्मचारियों का प्रशिक्षण (Training of employees)

कर्मचारियों के चुनाव के उपरान्त, उनके प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करना चाहिए। प्रशिक्षण पर किया गया व्यय बर्बाद नहीं होता अपितु वह कर्मचारियों पर किया गया एक प्रकार का विनियोग होता है जो धीरे-धीरे अपना परिणाम दिखाता है। वास्तव में यदि वैज्ञानिक ढंग से उचित प्रशिक्षण नहीं दिया जाता तो भूल और चूक के आधार पर किया जाने वाला प्रशिक्षण अधिक व्ययपूर्ण व लम्बा होगा और उस अवधि में निश्चय ही संस्था को कई प्रकार से हानि उठानी पड़ सकती है। एक प्रशिक्षित कर्मचारी, निश्चय ही सभी उपकरणों का उचित प्रयोग करता है, उत्पादन में अधिक कुशलता

दिखाता है बर्बादियों को रोकता है तथा उत्पादन लागत में कमी लाता है।

6.5.1 प्रशिक्षण की विधियाँ (Training Methods)

कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए, कार्य के अनुसार, अनेक प्रकार की विधियों को व्यवहार में अपनाया जाता है। प्रशिक्षण की प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित हैं :

(1) प्रवेशात्मक प्रशिक्षण (Induction Training) - किसी भी कर्मचारी की नियुक्ति के उपरान्त उसे प्रवेशात्मक प्रशिक्षण देना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसका तात्पर्य कर्मचारी को संस्था उसकी नीतियों, उद्देश्यों आदि के बारे में जानकारी देना है जिससे कि वह संस्था का एक अंग बन सके। जो कार्य करना है उसकी पूरी जानकारी देना, साथ में काम करने वाले कर्मचारियों से परिचय कराना, काम के घण्टे, काम करने की दशाएं, उपलब्ध सुविधाएं, अवकाश तथा अनुशासन सम्बन्धी नियम आदि के बारे में इसके माध्यम से उसे अवगत कराया जाता है। यह उसे उत्पादित की जाने वाली वस्तुओं, उत्पाद विधि, वस्तु की किस्म आदि के बारे में जानने में सहायता पहुँचाता है। इस प्रकार के प्रशिक्षण से उसकी संस्था में रूचि बढ़ती है। वह अपने को संस्था में अजनबी नहीं समझ पाता । कार्य के सम्बन्ध में उसे सन्तुष्टि मिलती है। कर्मचारियों के बीच अपने आपको वह सन्तुष्ट व प्रसन्न रख सकता है।

(2) कार्य प्रशिक्षण (Job training) - इस प्रकार का प्रशिक्षण कर्मचारियों को इस उद्देश्य से दिया जाता है कि वे कार्य विशेष के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर सकें। उन्हें यह बताया जाता है कि उत्पादन की प्रक्रिया विधि क्या है। मशीनों तथा अन्य उपकरणों का तथा सामग्री का समुचित प्रयोग किस प्रकार से किया जाये। उन्हें यह भी बताया जाता है कि दुर्घटनाओं को कैसे कम किया जा सकता है। वस्तुओं या उपकरणों आदि की बरबादी को कम करने के लिए भी उन्हें बताया जाता है इस प्रकार कार्य प्रशिक्षण प्राप्त करके अपनी कार्य कुशलता में पर्याप्त सुधार किया जा सकता है।

(3) पदोन्नति के लिए प्रशिक्षण (Training for promotion) - कई संस्थाओं में वहाँ पहले से ही काम करने वाले लोगों की पदोन्नति करके रिक्त वरिष्ठ या उच्चतर पदों को भरा जाता है। ऐसे स्थिति में जिन कर्मचारियों की पदोन्नति की जानी हो उनके विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। जिससे कि वे अपना कार्यभार आसानी से सम्भाल सकें इसके लिए प्रशिक्षण की विधि व अवधि आदि पद विशेष की आवश्यकताओं पर निर्भर करेगा।

(4) सीधे काम पर लगा कर प्रशिक्षण (on the job training) - प्रशिक्षण की इस पद्धति के अन्तर्गत नव-नियुक्त कर्मचारी को किसी पर्यवेक्षक, प्रशिक्षक या

फोरमैन की देखरेख में सीधे काम पर लगाकर प्रशिक्षण दिया जाता है। उसे काम की प्रकृति, मशीन चलाना, उपकरणों का ढंग से प्रयोग करना बताया जाता है। उसके सामने मशीन चला कर दिखाया जाता है और उसे देखकर समझने के लिए कहा जाता है। फिर उससे स्वयं मशीन चलवायी जाती है। इस प्रकार धीरे-धीरे मशीन चलाने का अभ्यास कराया जाता है। ऐसा करते समय वह स्वयं काम ही नहीं सीखता, साथ-साथ उत्पादन भी करता रहता है यद्यपि उसकी मात्रा कम हो सकती है। यह प्रणाली व्ययपूर्ण नहीं है क्योंकि इसके अन्तर्गत प्रशिक्षण के अलग से कुछ भी नहीं व्यय करना पड़ता है। प्रशिक्षण की अलग से व्यापक स्तर पर व्यवस्था करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। सामान्यता, अकुशल श्रमिकों को प्रशिक्षण इसी प्रकार दिया जाता है। परन्तु इस पद्धति की निम्नलिखित सीमायें भी हैं :

(1) इसके अनुसार काम को पूरी तरह समझने में कर्मचारी को अपेक्षाकृत अधिक समय लग सकता है।

(2) उसे प्रायः काम अपने आप सीखना पड़ता है। अतः वह पूर्णतया कुशल नहीं हो पाता ।

(3) वह अपने साथियों की कमियों को भी ग्रहण कर लेता है।

(4) वह अपने साथियों से वैज्ञानिक ढंग से निर्देशन प्रायः नहीं प्राप्त कर पाता क्योंकि उन्हें स्वयं उसकी जानकारी नहीं होती। काम को जानना और सिखाना दोनों भिन्न भिन्न चीजे हैं।

(5) उसके साथी उसे सिखाने में रूचि न लें क्योंकि सिखाते समय उनका स्वयं समय नष्ट होता हैं ।

(6) उत्पादन में भी इससे बाधा होती है।

(7) यदि कर्मचारियों की संख्या अधिक हो तो इस विधि को नहीं अपनाया जा सकता।

(5) काम से पृथक प्रशिक्षण (Vestibule training) - इस पद्धति के अन्तर्गत श्रमिक का प्रशिक्षण कारखाने में ही अलग से स्थापित प्रशिक्षण केन्द्र में किया जाता है। प्रशिक्षण के लिए मशीन व सम्बन्धित उपकरणों व सामग्रियों की व्यवस्था अलग से की जाती है और प्रशिक्षण का कार्य कुशल प्रशिक्षक के माध्यम से होता है। प्रयास यह रहता है कि प्रशिक्षण केन्द्र में भी वही प्राकृतिक वातावरण हो जो कि वास्तविक उत्पादन के केन्द्र में हो। इस प्रकार सुविधा के अनुसार प्रशिक्षार्थी उत्पादन की सम्पूर्ण विधि का अध्ययन

वैज्ञानिक ढंग से करता है। यह कार्य प्रशिक्षण की असुविधाओं को दूर करता है और इसके माध्यम से प्रशिक्षार्थी अपेक्षाकृत कम समय में पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेता हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षण से प्रशिक्षार्थी को घबराहट व हिचकिचाहट भी कम होती है क्योंकि अन्य कर्मचारियों से दूर अलग से प्रशिक्षण प्राप्त करता है। इससे नियमित रूप से चल रहे उत्पदन में भी कोई बाधा नहीं पड़ती जैसा कि कार्य प्रशिक्षण के अन्तर्गत होता है। इस पद्वति की सीमा यही है कि यह अधिक व्ययपूर्ण सिद्ध हो सकता है क्योंकि इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिए पूर्ण व्यवस्था अलग से करनी पड़ती है परन्तु यदि प्रशिक्षण पाने वाले लोगों की संख्या अधिक है और वर्ष-पर्यन्त प्रशिक्षण की आवश्यकता हो, तो यह व्ययपूर्ण सिद्ध नहीं होगी।

(6) शिक्षार्थी या अप्रेंटिस प्रशिक्षण (Apprentice training)- इस प्रणाली को अपनाने का उद्देश्य प्रशिक्षार्थी को किसी विशेष कला, तकनीक या व्यावहारिक ज्ञान में पूर्ण दक्षता प्रदान करना है। यह सामान्यतया, कुशल श्रमिकों के लिए अपनाया जाता है, विशेष रूप से जबकि प्रशिक्षण का कार्य एक से तीन चार वर्ष तक चलना हो। इस प्रकार के प्रशिक्षण में केवल काम करना ही नहीं सिखाया जाता अपितु आवश्यकतानुसार कक्षायें भी चलायी जाती हैं जिससे उन्हें पर्याप्त सैद्धान्तिक ज्ञान भी प्राप्त हो जाय। इन कक्षाओं को या तो उसी संस्था में या अन्य स्थानों पर चलाया जा सकता है। कुछ बड़ी-बड़ी संस्थाओं में तो इसके लिए अलग से प्रशिक्षण संस्था चलायी जाती है, जहाँ प्रशिक्षण की सम्पूर्ण व्यवस्था वैज्ञानिक ढंग से की जाती है। नये कर्मचारी को किसी योग्य कर्मचारी के अधीन एक शिक्षार्थी या अप्रेन्टिस के रूप में कार्य करना पड़ता है। इसके लिए उन्हें संस्था के स्वामी के साथ अनुबन्ध करना पड़ता है। सामान्यतया, इसके लिए नियम तथा उपनियम कानून द्वारा निर्धारित किये जाते हैं और प्रशिक्षण के दौरान उन्हें कुछ न कुछ पारिश्रमिक भी दिया जाता है। तकनीकी काम की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए यह सबसे उपयुक्त पद्धति है क्योंकि शिक्षार्थी को उसके बारे में पूरी जानकारी प्राप्त हो जाती है। परन्तु यह पद्धति अत्यधिक व्ययपूर्ण है। इस पद्धति की एक समस्या यह भी है कि पूरी जानकारी प्राप्त करने के बाद वह शिक्षार्थी उसी संस्था में काम न करके कहीं और जा सकता है। ऐसी स्थिति मे ंउसके प्रशिक्षण पर किया गया व्यय व्यर्थ हो जायेगा।

(7) बाह्य या संयुक्त प्रशिक्षण योजना (Internship training) - इस प्रणाली को अपनाने के लिए विशिष्ट तकनीकी संस्थाओं व व्यवसायिक संस्थाओं में पर्याप्त सहयोग की आवश्यकता होती है। प्रत्येक देश में, अनेक ऐसी संस्थाएं चलायी जाती हैं जहाँ पर विद्यार्थियों को किसी पेशे या व्यवसाय के बारे में ज्ञान प्रदान किया जाता है।

मेडिकल कालेज, इंजीनियरिंग कालेज, प्रबन्ध व व्यवसाय प्रशासन की संस्थाएं आदि ऐसी ही संस्थाएं हैं। इनमें विद्यार्थियों को सैद्धान्तिक ज्ञान तो पूरा ही दिया जाता है साथ साथ व्यावहारिक जानकारी भी देने का यथासम्भव प्रयास किया जाता है। परन्तु फिर भी, व्यावसायिक संस्था में काम करने का व्यावहारिक ज्ञान व अनुभव नहीं प्राप्त हो पाता। इसी कमी की पूर्ति के लिए, समय-समय पर विद्यार्थियों को व्यावसायिक संस्थाओं में भेज दिया जाता है जिससे कि वे स्वयं देख सकें कि सैद्धान्तिक ज्ञान का उपयोग व्यावहारिक ढंग से किस प्रकार किया जा रहा है। इससे उनका कार्य सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान निश्चित रूप से बढ़ता है। प्रायः इस प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही लोगों को विदेश जाना पड़ता है। उसी प्रकार से, व्यावसायिक संस्थाओं को भी अपने कर्मचारियों को, समय-समय पर विषय विशेष में आधुनिकतम ज्ञान व विकास की जानकारी प्राप्त करने के लिए इन विशिष्ट संस्थाओं में भेजना पड़ता है। इस प्रकार एक-दूसरे के सहयोग से लोगों को सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता रहता है। प्रशिक्षण की यह पद्धति कुशल व तकनीकी ज्ञान प्राप्त व्यक्तियों के लिए अधिक उपयुक्त है।

6.5.2 प्रशिक्षण का महत्व (Importance of Training)

कर्मचारियों के प्रशिक्षण आज के युग में, अत्यन्त आवश्यक माना गया है। क्योंकि व्यावसायिक संस्थाओं में कार्य प्रणाली जटिलतर होती जा रही है। प्रशिक्षण लागत को इसीलिए आवश्यक लागत तथा एक विनियोग के रूप में माना जाता है। उचित ढंग से दिये गये प्रशिक्षण से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं :-

(1) अधिक कार्य-कुशलता (Increased efficiency) - प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद, कर्मचारी काम करने की सभी आवश्यक बातों की जानकारी प्राप्त कर लेता है फलस्वरूप उसकी कार्य कुशलता में समुचित वृद्धि हो जाती है और वह अधिक उत्पादन में अपना समुचित योगदान देता है।

(2) अधिक उत्पादकता (Increased productivity)- श्रमिकों के लिए यह विशेष रूप से लाभकारी है क्योंकि यह उनकी उत्पादकता में वृद्धि करता है। इसके साथ ही वह सभी साधनों, उपकरणों व मशीनों का उपयोग अधिक मितव्ययिता के साथ करता है।

(3) नैतिकता व मनोबल में वृद्धि (Higher morale and motivation) - उचित प्रशिक्षण प्राप्त करने के उपरान्त कर्मचारी को काम करने में सन्तुष्टि प्राप्त होती है और यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसके मनोबल को बढ़ाने में सहायक होता है। फलस्वरूप, उसका नैतिक उत्थान होता है जो संस्था में उचित वातावरण तैयार करता है और औद्योगिक

विवादों को कम करता है।

(4) पर्यवेक्षण में कमी (Reduced supervision) - यदि कर्मचारी प्रशिक्षित होता है तो वह काम को स्वयं अच्छी तरह समझकर अनुशासन तथा क्रमबद्ध ढंग से करता है। फलस्वरूप उसके ऊपर पर्यवेक्षण की आवश्यकता नहीं रहती।

(5) साधनों का उचित प्रयोग (Better use of resources) - प्रशिक्षित कर्मचारी उत्पादकता में लगने वाले सभी संसाधनों का उपयोग सही ढग से तथा मितव्ययिता के साथ करता है। इसके परिणामस्वरूप, उत्पादन लागत में कमी आती है और लाभ में वृद्धि होती है।

(6) दुर्घटना में कमी (Reduced accidents) - आजकल, औद्योगिक संस्थाओं में दुर्घटना की सम्भावनायें बढ़ गयी है। उचित प्रशिक्षण प्राप्त करने के उपरान्त, कर्मचारी या श्रमिक अधिक सावधानी के साथ काम करता है और अपनी सुरक्षा स्वयं करने में समर्थ हो जाता है। इससे धन, जन, मशीन आदि की हानि नहीं होने पाती।

(7) कर्मचारियों के लिए लाभप्रद (More useful for employees)- इससे कर्मचारियों में आत्मविश्वास बढ़ता है अपनी उन्नति के लिए वह स्वयं मार्ग ढूँढता है । संस्था में कोई अपने को अपरिचित नहीं समझता । कार्य कुशलता में वृद्धि के फलस्वरूप उसके पारिश्रमिक में भी वृद्धि की सम्भावना बढ़ जाती है। पदोन्नति के लिये भी उसको अधिक अवसर प्राप्त हो सकता है।

(8) अनुपस्थिति तथा आवर्त में कमी (Knowledge about persons) - प्रायः उचित प्रशिक्षण न मिलने पर, श्रमिकों की अनुपस्थिति की मात्रा में वृद्धि होती है। और असन्तोष होने के कारण एक संस्था को छोड़कर दूसरे में जाने का प्रयास करता है। उचित प्रशिक्षण के परिणामस्वरूप उसमें आत्म-विश्वास और सन्तोष बढ़ता है और अनुपस्थिति तथा आवर्त में कमी आती है।

(9) योग्य व्यक्तियों की जानकारी (Knowledge about talented persons) -प्रशिक्षण के दौरान, प्रायः ऐसे कर्मचारियों के बारे में जानकारी हो सकती है जो कि किसी कार्य विशेष के लिए अत्यधिक उपयुक्त हों। इस प्रकार गुणी व्यक्तियों की खोज भी प्रशिक्षण के माध्यम से हो सकती है।

6.6 मजदूरी भुगतान की पद्धतियाँ (Methods of wage payment)

मजदूरी के भुगतान करने की विभिन्न पद्धतियों या प्रणालियों का अध्ययन हम

सुविधा के लिए दो वर्गों में बांटकर करेंगें,

(1) प्रमुख परम्परागत पद्धतियाँ तथा

(2) प्रेरणात्मक अथवा प्रगतिशील पद्धतियाँ

मजदूरी भुगतान की प्रमुख या परम्परागत पद्धतियां (Basic or Traditional Methods of Remunerating Workers)

मजदूरों को पारिश्रमिक देने की दो प्रमुख प्रणालियाँ हैं। ये प्रणालियां समय अथवा किये गये काम पर आधारित हैं। इस प्रकार मजदूरी भुगतान की दो प्रणालियां है- समयानुसार मजदूरी तथा कार्यानुसार मजदूरी ।

(क) समयानुसार मजदूरी प्रणाली (Time wage system) - यह मजदूरी भुगतान करने की सबसे पुरानी तथा आसान प्रणाली है। उसे दैनिक मजदूरी पद्धति भी कहते है। इस प्रणाली के अन्तर्गत इनको दी जाने वाली मजदूरी उनके द्वारा किये गये काम के समय के अनुसार निर्धारित की जाती है। यह दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक रूप से निर्धारित की जा सकती है।पहले मजदूरी प्रतिदिन देनी पड़ती थी, इसलिए इसे दैनिक मजदूरी के नाम से जाना जाता है। आजकल भी अनेक क्षेत्रों में मजदूरी के नाम से जाना जाता है। आजकल अनेक क्षेत्रों में मजदूरी का भुगतान प्रतिदिन किया जाता है। इस प्रणाली के अनुसार यदि किसी श्रमिक की मजदूरी 125 रूपया प्रतिदिन निर्धारित की जाती है तो उसे एक माह में 3750 रूपया प्राप्त होगा। इस प्रणाली के अनुसार एक ही वर्ग या श्रेणी एवं अकुशल श्रमिकों के बीच में कोई भेद नहीं किया जाता। कुशल श्रमिकों को उनकी कुशलता तथा परिश्रम से काम करने के बदले उनकी पदोन्नति की जा सकती है। दूसरी ओर ऐसे श्रमिकों को, जो कुशलता के साथ कार्य नहीं करते, पदोन्नति न करके या नौकरी से निकाल कर दण्डित किया जा सकता है वैसे इस प्रणाली के अन्तर्गत उनके द्वारा किये गये काम पर मजदूरी का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता । न ही उनके ऊपर कोई नियन्त्रण हो पाता है और न ही उन्हें प्रोत्साहन ही मिलता है।

समयानुसार मजदूरी के गुण (Advantages of time wage system) इस प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं।

(1) सरलता - मजदूरी निर्धारित व भुगतान करने की दृष्टि से यह सरल प्रणाली है।समय के आधार पर मजदूरी निर्धारित कर दी जाती है जिससे किसी भी निश्चित अवधि की पूरी गणना बहुत आसानी से की जा सकती है।

(2) नियमित आय का आश्वासन - इससे श्रमिकों को यह आश्वासन मिल

जाता है कि उन्हें आय निश्चित रूप से मिलती रहेगी। फलस्वरूप आय के सम्बन्ध में वे निश्चिन्त व सन्तुष्ट रहते हैं क्योंकि उन्हें ज्ञात रहता है कि एक निश्चित अवधि के बाद कितनी आय प्राप्त होगी।

(3) काम करने में सुविधा व स्वतंत्रता - इस प्रणाली से भुगतान करने में श्रमिक अपना काम सुविधानुसार तथा स्वतंत्र होकर कर सकते हैं। उन्हें काम को जल्दी से जल्दी समाप्त करने की तथा अधिक से अधिक काम करने की चिन्ता नहीं रहती। इसके फलस्वरूप सावधानी के साथ समुचित ध्यान देकर वे अपना अपना काम करते हैं। अधिक कमाने की दृष्टि से अधिक काम करने की उत्सुकता नहीं रहती।

(4) अधिक कुशलता - इस प्रणाली के अन्तर्गत काम कर रहे मजदूरों को अपनी अधिक कुशलता दिखाने का अवसर प्राप्त होता है। उन्हें अपने कार्य कौशल के प्रदर्शन का भी अवसर प्राप्त होता है। फलस्वरूप बढ़िया किस्म का माल आसानी से तैयार हो पाता है।

(5) स्वास्थ्य की रक्षा - इसके अन्तर्गत श्रमिकों को जी-तोड़ काम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, फलस्वरूप अधिक काम करने के कारण उनके स्वास्थ्य पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता ।

(6) मशीनों की सुरक्षा - इसके अन्तर्गत सभी मशीनें व उनके कल पुर्जे भी सुरक्षित रहते हैं और उनके अनुरक्षण के लिए अधिक व्यय नहीं करना पड़ता क्योंकि अधिक कमाने की दृष्टि से वे मशीनों के साथ लापरवाही नहीं करते।

(7) एकता की भावना को प्रोत्साहन - यह प्रणाली श्रमिकों में एकता व भाई-चारे को अधिक से अधिक प्रोत्साहित करती है क्योंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत कुशल व अकुशल श्रमिकों में भेदभाव नहीं किया जाता। इसलिए श्रम संघ भी इसी प्रणाली को पसन्द करते हैं।

(8) कलात्मक तथा अन्य कार्यों के लिए उपयुक्त - यह प्रणाली कलात्मक अथवा इसी प्रकार के अन्य कार्यों के लिए अधिक उपयुक्त है जिसमें श्रमिकों की व्यक्तिगत योग्यता, कला चातुर्य, व्यक्तिगत ध्यान व रूचि की अधिक आवश्यकता होती है।जहाँ काम की मात्रा नहीं अपितु काम की उत्तमता व गुण अधिक आवश्यक होता है। वहाँ यह प्रणाली उपयुक्त है।

समयानुसार मजदूरी के दोष (Disadvantages of time wages system)- इस प्रणाली के दोष निम्नलिखित हैं -

(1) प्रेरणा का अभाव - इस प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिकों को अधिक कुशलता तथा

परिश्रम करने के साथ काम करने की कोई प्रेरणा नहीं मिलती इसलिए यह प्रणाली अकुशल, सुस्त तथा काहिल श्रमिकों द्वारा अधिक पसन्द की जाती है। इस प्रकार इस प्रणाली के अन्तर्गत कुशल श्रमिकों को एक प्रकार से दण्डित किया जाता है।

(2) अति-सुरक्षा की भावना तथा अकर्त्तव्यपरायणता - इस प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिकों को अपनी आय के प्रति सुरक्षा प्राप्त हो जाती है, जिसके फलस्वरूप वे अपनी उत्पादकता को बढ़ाने का बिल्कुल प्रयास नहीं करते। इससे उत्पादन की लागत व वस्तु का मूल्य बढ़ता है। किसी भी वस्तु के बनाने पर मजदूरी के रूप में किये गये कुल व्यय का पता लगाना कठिन होता है क्योंकि यह नहीं पता लगाया जा सकता कि प्रत्येक श्रमिक ने कितना काम किया है। इससे उत्पादन लागत के बारे में अनिश्चितता बढ़ती है।

(3) पर्यवेक्षण लागत अधिक - इस प्रणाली के अपनाने पर श्रमिकों पर नियन्त्रण तथा पर्यवेक्षण (supervision) रखने के लिए अधिक व्यय करना पड़ता है क्योंकि श्रमिकगण अपने आप अधिक जिम्मेदारी के साथ उत्पादन का कार्य नहीं करते । इस लिए यह प्रणाली छोटी-छोटी संस्थाओं के लिए अधिक उपयुक्त है जहाँ उनके मालिक स्वयं श्रमिकों पर नियंन्त्रण रख सकते हैं।

(4) सापेक्ष क्षमता निर्धारण में कठिनाई - यदि मजदूरी भुगतान के लिए इस प्रणाली को अपनाया जाता है तो विभिन्न श्रमिकों की सापेक्ष कुशलता को निर्धारित व निश्चित करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि पदोन्नति की समस्या सामने आती है तो उसके लिए कुशलता या कार्यक्षमता के स्थान पर अन्य किसी बात को आधार बनाना पड़ता है। सामान्यता इसके लिए वरिष्ठता (Seniority) को ही आधारा बनाया जाता है। इसका फल यह होता है कि कुशल श्रमिकों को असन्तोष होता है। वे भी कुशलता के साथ काम बन्द कर देते है।

(5) नैतिक पतन - काम करने के लिए उचित प्रेरणा न मिलने के कारण श्रमिकगण काम करने से भी जी चुराने लगते हैं। उनमें गैर जिम्मेदारी आ जाती है। तथा वे समय का दुरूपयोग करने लगते है। इससे नका नैतिक ह्रास होता है।

(6) उत्पादन लागत में वृद्धि की सम्भावना - इस प्रणाली को अपनाने से कई कारणों से विभिन्न व्ययों में वृद्धि होती है। श्रमिकों के अधिक कुशलता के साथ काम न करने के कारण प्रति इकाई लागत बढ़ती है। पर्यवेषण व्यय भी बहुत अधिक करना पड़ता है। फलस्वरूप उत्पादन व्यय के बढ़ने की सम्भावना रहती है। वैसे समुचित उपयोग द्वारा लागत में वृद्धि को रोका भी जा सकता है।

(ख) कार्यानुसार मजदूरी प्रणाली (Piece wage system) - मजदूरी भुगतान करने की यह दूसरी प्रमुख प्रणाली है। इस प्रणाली के अन्तर्गत मजदूरी का भुगतान निश्चित समय के अनुसार न होकर मजदूरों द्वारा किये गये कार्य के अनुसार होता है। मजदूरी निर्धारण उत्पादन की प्रति इकाई के आधार पर निश्चित की जाती है और जो जितना अधिक उत्पादन करता है उसे उतनी ही अधिक मजदूरी मिलती है। उदाहरण के लिये यदि मजदूरी 10 रूपया प्रति इकाई की दर पर निर्धारित की गयी है और कोई श्रमिक एक दिन में 4 इकाई का उत्पादन करता है तो उस दिन मजदूरी भी 40 रूपये प्राप्त होगी। यदि 3 इकाई का उत्पादन करेगा तो 30 रूपये और 5 इकाई का उत्पादन करेगा तो 50 रूपये प्राप्त होंगे। इस प्रकार अधिक उत्पादन करने से अधिक मजदूरी तथा इसके विपरीत कम उत्पादन करने पर कम मजदूरी प्राप्त होती है। पहले यह प्रणाली अधिक लोकप्रिय नहीं थी किन्तु आजकल जबकि अधिक कार्यक्षमता बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा प्रति इकाई लागत की कमी पर अधिक जोर दिया जा रहा है, इस प्रणाली का प्रयोग अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। इसके अधिक प्रचलित होने का कारण यह है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिक अधिक कार्यक्षमता के साथ उत्पादन करता है क्योंकि इसके लिए उसे समुचित मौद्रिक प्रेरणा प्राप्त होती है।

इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रति इकाई की दर से अथवा कार्य के अनुसार मजदूरी निर्धारण करना आसान नहीं है। वास्तव में इसके निर्धारित करने में विगत वर्षों का अनुभव तथा समयानुसार मजदूरी को आधार बनाया जाता है। उदाहरण के लिए यदि समयानुसार एक दिन की मजदूरी 40 रूपये हैं और एक दिन में 1 श्रमिक 4 इकाई का उत्पादन करता है तो इस आधार पर 10 रूपये प्रति इकाई की दर से कार्यानुसार मजदूरी निर्धारित होगी।

कार्यानुसार मजदूरी के लाभ (Advantages of piece wage system) - इस पद्धति के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :-

(1) उत्पादन के लिए समुचित प्रेरणा - इस प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिकों को अधिक उत्पादन करने के लिए समुचित मौद्रिक प्रेरणा प्राप्त होती है। वह जितना अधिक उत्पादन करेगा उतनी ही अधिक उसे आय प्राप्त होगी।

(2) कार्य कुशलता को प्रोत्साहन - इस प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिकों को अपनी अधिक योग्यता एवं कार्य-कुशलता के साथ कार्य करने का समुचित प्रोत्साहन मिलता है। जो व्यक्ति अधिक योग्य व कुशल होता है उसे अयोग्य तथा अकुशल मजदूरों की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त होगी। इस प्रकार यह प्रणाली अधिक न्यायपूर्ण है क्योंकि यह कुशल श्रमिकों को प्रोत्साहन देती है और उसके साथ ही अकुशल श्रमिकों को हतोत्साहित भी

करती है।

(3) श्रमिकों की आय व रहन सहन के स्तर मे वृद्धि - इस प्रणाली के अपनाने पर श्रमिकों की आय में वृद्धि होने की सम्भावना अधिक रहती है जिसके फलस्वरूप वह अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा कर सकता है।

(4) उत्पादन की मात्रा में वृद्धि - इस प्रणाली के अपनाने पर अधिकांश श्रमिक अधिक कार्यक्षमता के साथ उत्पादन करने का प्रयास करते हैं जिससे कुल उत्पादन में वृद्धि होती है।

(5) प्रति इकाई उत्पादन लागत में कमी - इसे अपनाने पर कुल उत्पादन में वृद्धि होने के फलस्वरूप उत्पादन की प्रति इकाई लागत में भी निश्चित रूप से कमी आती है क्योंकि उत्पादन के बढ़ने के साथ-साथ उसकी लागत में अपेक्षाकृत कम वृद्धि होती है। इसके फलस्वरूप लाभ में भी अपेक्षाकृत वृद्धि होती है।

(6) पर्यवेक्षण व्यय में कमी - इस प्रणाली के अपनाने पर श्रमिक स्वयं अधिक से अधिक काम करने का प्रयास करते हैं अतः उन पर नियन्त्रण व पर्यवेक्षण करने की कोई विशिष्ट आवश्यकता नहीं होती, जैसा कि समयानुसार मजदूरी प्रणाली में है।

(7) उत्पादन लागत का पूर्वानुमान - प्रबन्धकों के लिए भी यह प्रणाली अधिक उपयोगी है क्योंकि निश्चित मात्रा में उत्पादन लागत का अनुमान आसानी से और पहले ही लगा सकते हैं। इससे मूल्य निर्धारित करने में तथा उत्पादन सम्बन्धी योजना बनाने में पर्याप्त सुविधा रहती है।

(8) समय का सदुपयोग - इस प्रणाली को अपनाने पर सभी श्रमिक व कर्मचारी समय का समुचित और सदुपयोग करने का भरसक प्रयास करते हैं। इससे समय व्यर्थ में नष्ट नही होता और सभी काम सुचारू रूप से चलता है।

(9) उपभोक्ताओं को लाभ - इससे उत्पादन लागत में कमी आती है जिससे वस्तुओं के मूल्य कम होने की सम्भावना कम हो जाती है।उपभोक्ता के रूप में श्रमिकों की आय बढ़ती है तथा उनके रहन-सहन का स्तर बढ़ जाता है। इस प्रकार पूरे समाज को इससे लाभ होता है।

कार्यानुसार मजदूरी के दोष (Disadvantages of piece wage system) - उपर्युक्त लाभों के होते हुए भी इस प्रणाली के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं -

(1) मजदूरी निर्धारित करने में कठिनाई - इस प्रणाली के आधार पर मजदूरी निर्धारित करना आसान नहीं है। प्रायः नियोक्ता श्रमिकों को कम से कम मजदूरी देने की

दृष्टि से प्रति इकाई कम से कम मजदूरी की दर निर्धारित करने का प्रयास करते हैं।

(2) वस्तु की किस्म में गिरावट - इसके अन्तर्गत श्रमिक अधिक आय प्राप्त करने की दृष्टि से अधिक उत्पादन करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार वस्तु की किस्म या गुण में गिरावट आती है। इस सम्बन्ध में नियोक्ता भी अधिक ध्यान नहीं देते क्योंकि वे भी उत्पादन की अधिक मात्रा पर विशेष जोर देते हैं।

(3) श्रमिकों में सुरक्षा की भावना की कमी - इस प्रकार से मजदूरी करने में श्रमिक अपने आप को सुरक्षित व सन्तुष्ट नहीं महसूस करते क्योंकि उन्हें इस बात का आश्वासन नहीं रहता कि कितनी आय प्राप्त होगी। बीमारी या दुर्घटना व कमजोरी आदि की अवस्था में उसे कम आय प्राप्त होगी क्योंकि वह ऐसी स्थिति में अधिक उत्पादन नही कर सकता।

(4) स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव - अधिक आय प्राप्त करने के उद्देश्य से श्रमिकगण जी-तोड़ काम करने की कोशिश करते हैं जिसका प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर निश्चित रूप से विपरीत पड़ सकता है।

(5) मशीनों तथा औजारों की अधिक घिसावट - इस प्रणाली से मजदूरी देने के फलस्वरूप मशीनों, यन्त्रों तथा औजारों का भी अधिक घिसावट या ह्रास होता है क्योंकि श्रमिक उत्पादन करने की दृष्टि से उनका उपयोग तेजी के साथ तथा असावधानी से करते हैं। इसका प्रभाव यहाँ तक पड़ सकता है कि मशीन अधिक खराब हो जाये और उत्पादन को बन्द करना पड़े।

(6) श्रमिकों की एकता पर विपरीत प्रभाव - यह प्रणाली श्रमिकों में भेदभाव करती है जिसके फलस्वरूप उनमें आपस में द्वेषभाव उत्पन्न होता है और उनकी एकता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसलिए श्रमसंघ इस प्रणाली को अधिक पसन्द नहीं करते।

(7) औद्योगिक सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव - नियोक्ता अथवा प्रबन्धकों तथा श्रमिकों के बीच सम्बन्धों में भी इसके फलस्वरूप गिरावट आ सकती है क्योंकि मजदूरी की दर के न्यायपूर्ण न होने पर नियोक्ताओं के प्रति उनका विश्वास घटता है। इसके अतिरिक्त यदि ऐसे कारणों से उत्पादन का कार्य रूक जाता है जो उनके नियन्त्रण में न हो तो उन्हें मजदूरी की हानि होती है जिससे उनमें नियोक्ता के प्रति असंतोष पैदा होता है।

(8) कलात्मक तथा अन्य कार्यों के लिए अनुपयुक्त - यह प्रणाली कलात्मक तथा ऐसे कार्यों के लिए उपयुक्त नहीं है जिसमें व्यक्तिगत प्रतिभा, वस्तु के गुण आदि की अधिक आवश्यकता हो।

6.6.1 मजदूरी भुगतान की प्रेरणात्मक योजनाएँ (Incentive Plans of wage payment)

समयानुसार मजदूरी का भुगतान करने पर श्रमिकों को कार्य करने का प्रोत्साहन नहीं मिलता परन्तु कार्यानुसार मजदूरी देने से उन्हें आवश्यकता से अधिक प्रेरणा मिलती है। फिर भी अपनी उत्पादकता तथा कार्य-कुशलता बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन इन प्रणालियों से नहीं मिलता। इसीलिए समय-समय पर श्रमिकों को अधिक प्रेरणा देने के लिए इन प्रणालियों में अनेक विद्वानों द्वारा यथावश्यक परिवर्तन किये गये हैं। उनके द्वारा सुझायी गयी मजदूरी भुगतान की योजनाएं अथवा पद्धतियाँ ही प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धति के अन्तर्गत आती हैं।

1. हाल्से प्रव्याजि योजना (Halsey premium plan) - इस योजना का सुझाव अमरीका के श्री एफ.ए. हाल्से ने दिया था। यह प्रेरणात्मक मजदूरी भुगतान की प्रारम्भिक आधुनिक योजना मानी जाती है। इसमें समयानुसार तथा कार्यानुसार मजदूरी पद्धतियों को मिलाकर कुछ ऐसे परिवर्तन किये गये हैं जिससे श्रमिकों को अधिक कार्य करने का प्रोत्साहन मिल सके। इस योजना के अनुसार प्रत्येक श्रमिक को मजदूरी की एक निश्चित धनराशि प्राप्त होती है। किन्तु यदि प्रमापित समय से कम समय में ही निश्चित कार्य पूरा कर देता है तो बचाये हुए समय का कुछ निश्चित प्रतिशत प्रव्याजि के रूप में दिया जाता है।

विशेषताएँ - इस योजना की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं -

(1) प्रत्येक श्रमिक को दी जाने वाली एक न्यूनतम मजदूरी निश्चित होती है।

(2) विगत वर्षों के अनुभव पर किसी निश्चित काम को पूरा करने के लिए प्रमापित समय निर्धारित कर दिया जाता है।

(3) प्रमापित समय से कम समय में काम पूरा करने पर बचाये हुए समय का कुछ प्रतिशत प्रव्याजि के रूप दिया जाता है। प्रव्याजि बचाये हुए समय की मजदूरी का 33.1/3 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक होता है।

(4) जो मजदूर प्रमापित समय पर अपना काम पूरा नहीं कर पाते उन्हें भी न्यूनतम मजदूरी मिलती है। और उसके लिए उन्हें दण्डित नहीं किया जाता।

(5) यह योजना ऐच्छिक होती है ।

उदाहरण - यदि एक श्रमिक को 10 रूपया प्रति घण्टा दिया जाता है, प्रमापित समय

10 घण्टा निर्धारित है और प्रव्याजि की दर 50 प्रतिशत है। एक श्रमिक उस काम को 8 घण्टे में ही कर लेता है तो ऐसी स्थिति में उसे 90 रूपये प्राप्त होंगे। इसकी गणना इस प्रकार से की जायेगी : (काम करने का वास्तविक समय x मजदूरी की प्रति घण्टा दर) + (प्रव्याजि की दर x बचाया हुआ समय x प्रति घण्टा मजदूरी दर) = कुल मजदूरी।

2. **रोवन प्रव्याजि योजना (Rowan premium plan)** - इस योजना को जेम्स रोवन ने 1901 में बताया था। वे डेविड रोवन एण्ड सन्स, ग्लासगो में काम करते थे। हाल्से योजना से यह थोड़ा सा ही भिन्न है। दोनों में प्रमुख अन्तर केवल प्रव्याजि की गणना करने के सम्बन्ध में ही है। हाल्से योजना की तरह इसे भी आसानी से अपनाया जा सकता है क्योंकि इसके लिए संगठन में परिवर्तन की आवश्कता नहीं होती।

विशेषताएँ - इस योजना की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं -

(1) पिछले अनुभवों तथा रिकार्ड के आधार पर प्रमापित समय निर्धारित किया जाता है।

(2) प्रत्येक मजदूर के लिए न्यूनतम मजदूरी निश्चित होती है।

(3) प्रव्याजि की गणना बचाये गये समय के आधार पर की जाती है। इसके अनुसार यदि समय में 50 प्रतिशत की बचत की जाती है तो मजदूरी में 50 प्रतिशत की वृद्धि होगी किन्तु बचाये हुए घण्टों की प्रव्याजि कुल प्रमापित मजदूरी से अधिक नहीं हो सकती।

इस योजना के अन्तर्गत प्रव्याजि की गणना निम्नलिखित आधार पर की जाती है :-

$$\text{प्रव्याजि} = \frac{\text{बचा हुआ समय}}{\text{प्रमापित समय}} \times \text{लगा हुआ समय} \times \text{प्रति घण्टा दर}$$

उदाहरण - यदि प्रति घण्टा मजदूरी की दर 10 रूपया है, प्रमापित समय 10 घण्टे हैं तथा श्रमिक अपना कार्य 8 घण्टे में पूरा कर लेता है। इस उदाहरण के अनुसार प्रव्याजि एवं कुल मजदूरी निम्नलिखित होगी।

प्रव्याजि = 2/10 x 8x10 =16 रूपया

कुल मजदूरी = 80 + 16 रूपया

= 96 रूपया

3. **गैण्ट बोनस योजना (Gantt bonus plan)-** इसे **'टास्क एण्ड बोनस प्लान'** भी कहते हैं । इस योजना का सुझाव गैण्ट ने उस समय दिया था जबकि वे टेलर के साथ बैथलहेम स्टील कम्पनी में काम कर रहे थे। वास्तव में यह हाल्से, टेलर तथा इमर्सन योजनाओं का मिला-जुला स्वरूप है। इस योजना की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) यह सभी श्रमिकों को दैनिक मजदूरी की गारन्टी देती है।

(2) यह काम करने की दशाओं के प्रमापीकरण की आवश्यकता पर बल देती है।

(3) काम तथा उसकी दशाओं का सावधानी से अध्ययन करने के बाद ही प्रमापित समय निर्धारित किया जाता है।

(4) जो श्रमिक 100 प्रतिशत से कम कार्य-कुशलता दिखाता है उसे कोई बोनस नहीं दिया जाता तथा बोनस केवल उसी श्रमिक को दिया जाता है जो शत-प्रतिशत कार्य कुशलता दिखाता है ।

(5) बोनस की राशि सामान्यतया दिये गये समय (Time allowed) के 20 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक निर्धारित किया जाता है, परन्तु यह बचाये हुए समय (time saved) पर निर्भर नहीं करता।

उदाहरण - मान लीजिए कि किसी कार्य के लिए प्रमापित समय 8 घण्टा निर्धारित है तथा मजदूरी की दर 10 रूपया प्रति घण्टा है इसके अतिरिक्त बोनस प्रमापित समय का 25 प्रतिशत निर्धारित किया गया है। ऐसी स्थिति में यदि कोई श्रमिक अपना कार्य 9 घण्टे में पूरा करता है तो उसे अपनी मजदूरी 90 रूपये प्राप्त होगी किन्तु उसे बोनस नहीं मिलेगा क्योंकि उसकी कार्यकुशलता 100 प्रतिशत से कम है परन्तु यदि वह अपना कार्य 8 घण्टे में कर लेता है तो उसे अपनी मजदूरी के साथ-साथ बोनस भी मिलेगा। इस प्रकार से उसे कुल मजदूरी 100 रूपये मिलेगी।

4. **टेलर की विभेदी कार्यानुसार योजना (Taylor's differential pieces rate plan)** - इस योजना का सुझाव एफ.डब्ल्यू. टेलर ने 1887 में दिया था यह प्रणाली अब प्रयोग में नहीं लायी जाती है।

विशेषताएँ -

(1) प्रमापित उत्पादन का निर्धारण सावधानीपूर्वक अध्ययन व विश्लेषण के बाद किया जाता है।

(2) दो या दो से अधिक विभेदी कार्यानुसार मजदूरी निर्धारित की जाती है। एक उनके लिए जो निश्चित प्रमाप या उससे अधिक में काम कर लेते हैं, यह दर अधिक होती है। दूसरे, उनके लिए जो निश्चित प्रमाप से कम कार्य करते हैं तथा इन्हें नीची दर पर मजदूरी दी जाती है।

(3) यह उन लोगों को जो निश्चित प्रमाप से कम कार्य करते हैं बहुत ही कम दर से मजदूरी का भुगतान करके उनको दण्डित करती है।

उदाहरण -

यदि प्रमापित कार्य 10 इकाई प्रतिदिन निर्धारित किया जाये और कार्यानुसार मजदूरी की दर 10 रूपया निर्धारित की जाय, यदि उत्पादन 10 इकाई से कम हो व यदि कोई श्रमिक 10 इकाइयों का उत्पादन करता है तो उसे 10 रूपया प्रति इकाई की दर से 100 रूपया मजदूरी के रूप में मिलेगा। किन्तु यदि वह 8 इकाइयाँ ही उत्पादित करता है तो उसे 8 रूपया प्रति इकाई की दर से केवल रूपये 64 ही मिलेगा। यदि वह 12 इकाइयों का उत्पादन करता है तो 120 रूपये मिलेंगे।

5. इमर्सन दक्षता योजना (Emerson's efficiency plan) -इमर्सन ने श्रमिकों को मजदूरी देने की एक ऐसी योजना तैयार की जिससे उनकी कार्य-कुशलता में सुधार हो सके। टेलर की तरह वे भी वैज्ञानिक प्रबन्ध के अनुयायी थे और इस दिशा में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया है। श्रमिकों को अपनी कुशलता बढ़ाने के लिए प्रेरणा देने की दृष्टि से उन्होंने यह सुझाव दिया कि यदि कोई श्रमिक 66.2/3 प्रतिशत कार्य कर लेता है तो उसको बोनस मिलना चाहिए और वह बोनस उस समय तक बढ़ता जायेगा जब तक कि उसकी कुशलता 100 प्रतिशत न हो जाय । इस योजना की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

(1) प्रमापित कार्य के लिए प्रमापित समय का निर्धारण सावधानी के साथ अध्ययन व विश्लेषण के बाद किया जाता है।

(2) सभी श्रमिकों को एक न्यूनतम दैनिक मजदूरी की गारण्टी दी जाती है।

(3) मजदूरी श्रमिकों की कार्य-कुशलता पर निर्भर करती है और कार्य-कुशलता प्रमापित समय तथा किसी कार्य के लिए लिये गये समय के अनुपात के आधार पर निर्धारित की जाती है।

(4) यदि श्रमिक 66.2/3 प्रतिशत से कम कार्य-कुशलता दिखाता है तो उसे कोई बोनस नहीं दिया जाता।

इसके उपरान्त भी बोनस की राशि में धीर-धीरे ही वृद्धि होती हैं ।

उदाहरण - किसी निश्चित कार्य को करने के लिए प्रमापित समय 10 घण्टे निर्धारित किया जाता है। यदि कोई श्रमिक 20 घण्टे में काम करता है तो उसकी कार्य-कुशलता 50 प्रतिशत होगी। यदि वह 5 घण्टे में काम करता है तो उसकी कार्य-कुशलता 200 प्रतिशत होगी। यदि वह 10 घण्टे में काम कर लेता है तो उसकी कार्यकुशलता 100 प्रतिशत होगी। जब तक कोई श्रमिक 66.2/3 प्रतिशत कार्य-कुशलता नहीं प्राप्त कर लेता उसे कोई बोनस नहीं दिया जाता। 100 प्रतिशत कार्यक्षमता प्राप्त कर लेने पर उसे गारण्टी मजदूरी के 20 प्रतिशत की दर से बोनस मिलेगा।

6.7 श्रम कल्याण के प्रति दृष्टिकोण (Approach to labour welfare)

श्रम कल्याण के प्रति समय-समय पर और अलग-अलग देश में दृष्टिकोण परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। वैसे इसके तीन दृष्टिकोण मोटे तौर पर पाये जोते हैं - पैतृक दृष्टिकोण, औद्योगिक कार्य-कुशलता दृष्टिकोण तथा सामाजिक दृष्टिकोण।

औद्योगीकरण की प्रारम्भिक अवस्था में श्रम कल्याण के प्रति **पैतृक दृष्टिकोण** पाया जाता है। उस स्थिति में नियोक्ता का अपने कर्मचारियों से सीधा सम्पर्क होता है और वह उनकी सारी समस्याओं की जानकारी रखता है। मानवीय, धार्मिक तथा ऐसे ही अन्य कारणों से, नियोक्ता ने अपने कर्मचारियों को सुख-सुविधा उनके कल्याण के लिए देनी आरम्भ की।

व्यवसाय के आकार के बढ़ने तथा प्रबन्धक एवं स्वामित्व के पृथक्करण के साथ साथ इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। पैतृक दृष्टिकोण का स्थान औद्योगिक कार्य-कुशलता दृष्टिकोण (Industrial efficiency approach) ने ले लिया। यह विचार किया जाने लगा कि कर्मचारियों की कार्य-कुशलता के लिये भी समुचित उपाय अपनाये जाने चाहिए। इस दृष्टिकोण का श्रम संघों ने स्वागत नहीं किया क्योंकि वास्तव में इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि वह स्वार्थपूर्ण है।

विकास के अगले चरण में श्रम कल्याण के प्रति दृष्टिकोण बदल गया और सामाजिक दृष्टिकोण (Social approach) पर अधिक बल दिया जाने लगा। इसका विकास सम्पूर्ण समाज को सामान्य कल्याण प्रदान करने की दृष्टि से हुआ। इसके अन्तर्गत श्रम कल्याण अपने आप में एक साध्य (end) है और नियोक्ता के प्रति निष्ठा का विकास तथा कार्य-कुशलता में वृद्धि तो केवल प्रासंगिक मात्र है। इसके अन्तर्गत श्रमिक के सामान्य कल्याण की व्यवस्था की जाती है जिससे कि समाज का कल्याण हो सके।

इसका उद्देश्य कार्य-कुशलता बढ़ाना नहीं है, यद्यपि इस पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्तर केवल उद्देश्य का है और इसके अन्तर्गत उद्देश्य भिन्न है। इस दृष्टिकोण का श्रम संघों ने भी स्वागत किया है।

सिद्धान्त (Principles) - श्रमिकों को कल्याण सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान करते समय निम्नलिखित सिद्धान्तों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए :-

(1) श्रम कल्याण की व्यवस्था मजदूरी में कटौती करके या उसमें होने वाली वृद्धि को रोककर नहीं की जानी चाहिए।

(2) श्रम कल्याण की व्यवस्था करने से पूर्व श्रमिकों की आवश्यकताओं का समुचित अध्ययन कर लिया जाना चाहिए तथा निष्कर्षों के आधार पर प्राथमिकताओं को निर्धारित कर लेना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि श्रमिकों के पास रहने को घर नहीं है तो तैरने के लिए टैंक की व्यवस्था करने के बारे में सोचना व्यर्थ होगा।

(3) श्रम कल्याण ऐच्छिक होना चाहिए तथा प्रत्येक श्रमिक को उसे प्राप्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(4) श्रम कल्याण सम्बन्धी योजना तैयार करने तथा कार्यान्वित करने में श्रमिकों को भी समुचित भाग दिया जाना चाहिए। उनसे समय-समय पर परामर्श लिया जाना चाहिए।

6.7.1 श्रम कल्याण के भेद (Types)

श्रम कल्याण सम्बन्धी सुविधाओं को दो वर्गों में बांटा जा सकता है:-

(अ) अन्तर्भित्ति सुविधाएं तथा (ब) बहिर्भित्ति सुविधाएं

अन्तर्भित्ति सुविधाएं - श्रम कल्याण सम्बन्धी वे सुविधाएं जो कारखाने के अन्दर ही प्रदान की जाती हैं जहाँ श्रमिकगण कार्य करते हैं, अन्तर्भित्ति सुविधाएं कहलाती हैं। इसके अन्तर्गत थकान को दूर करने के उपाय स्वास्थ्य की सुरक्षा जैसे सफाई तथा शौचालय आदि की व्यवस्था, सुरक्षा सम्बन्धी उपाय, प्रकाश, रोशनदान की समुचित व्यवस्था, प्राथमिकता उपचार की सुविधा, आग बुझाने के यंत्रों की व्यवस्था, काम करने की दशाओं में सुधार, अनुशासन व मनोबल के लिए उचित अभिप्रेरणा आदि आती है।

(ब) बहिर्भित्ति सुविधाएँ - श्रम कल्याण सम्बन्धी वे सुविधाएं हैं जो श्रमिकों को कारखाने से बाहर प्रदान की जाती हैं, बहिर्भित्ति सुविधाएं कहलाती हैं। इन सुविधाओं के अन्तर्गत आवास, मनोरंजन, खेल-कूद, शिक्षा, लेक्चर, तथा वाद-विवाद प्रतियोगिता, क्लब, अस्पताल, सामाजिक बीमा, पेशन, प्राविडेण्ट फण्ड आदि की व्यवस्थाएं आती

हैं। इन पर पहले अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था परन्तु आजकल श्रम कल्याण सम्बन्धी सुविधाओं को प्रदान करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

6.7.2 श्रम कल्याण की महत्ता (Importance)

आज के युग में श्रम कल्याण सम्बन्धी सुविधाओं को प्रदान करने की महत्ता कर्मचारियों, नियोक्ता, प्रबन्धकों तथा समाज सभी की दृष्टि से अत्यधिक हैं। इन उपायों को अपनाना निम्नलिखित आधार पर अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

(1) औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार - इसके उपयोग से श्रमिकों व अन्य कर्मचारियों को सन्तोष मिलता है और उनकी निराशा व क्षोभ कम होता है। इसके फलस्वरूप औद्योगिक सम्बन्धों में पर्याप्त सुधार होता है।

(2) श्रमिकों की कार्य - कुशलता व आय में वृद्धि : इस बात पर सभी एक मत हैं और अनुभव भी यही बताता है कि श्रम कल्याण सुविधाएं श्रमिकों की कार्य कुशलता में वृद्धि करती है। कार्य कुशलता में वृद्धि के फलस्वरूप उनकी आय व रहन सहन के स्तर में वृद्धि होती है।

(3) मनोबल का ऊंचा होना - श्रम कल्याण सम्बन्धी उपाय श्रमिकों की सामान्य दशा में सुधार लाते हैं, फलस्वरूप वे अधिक सन्तुष्ट और अनुशासनबद्ध होकर काम करते हैं। वे अपने अधिकारियों को अधिक सहयोग प्रदान करते हैं और आपसी संघर्ष में कमी आती है। इस प्रकार उनका मनोबल ऊँचा उठता है।

(4) संस्था के प्रति निष्ठा में वृद्धि - जो संस्थाएं श्रमिकों के कल्याण के लिए उचित उपाय अपनाती हैं, उनके श्रमिक अपनी संस्था के प्रति अधिक निष्ठावान होते हैं। वे अपने को संस्था का एक अभिन्न अंग मानते हैं। इससे निश्चय ही संस्था के उद्देश्यों को पूरा करने में आसानी होती है।

(5) स्थायी श्रम-शक्ति का सृजन - भारत जैसे देश के लिए जहाँ श्रमिक स्थायी रूप से उद्योगों में काम नहीं करते और प्रवासी प्रकृति होने के कारण अपने गांव व खेतों से अधिक लगाव रखते हैं, यह अत्यन्त आवश्यक है। ये सुविधाएं निश्चय ही श्रमिकों को अपनी संस्था में बने रहने को प्रेरित करती हैं। यह श्रम संघों को भी सुदृढ़ करने में सहायक हैं। इनके फलस्वरूप अनुपस्थिति तथा श्रमिकों के आवर्त की समस्या में भी कमी आती है।

(6) श्रमिकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन - ये सुविधाएं श्रमिकों के दृष्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन लाती हैं। मानसिक नैतिक व भौतिक दृष्टि से वे स्वस्थ हो जाते हैं नियोक्ता व प्रबन्धकों के प्रति वैमनस्य, ईर्ष्या व तनाव की स्थिति में सुधार होता है। वे

यह सोचने लगते हैं कि उनका नियोक्ता उनकी भलाई के विषय में सोच रहा है। अतः उन्हें भी अधिक सहयोग देना चाहिए।

(7) नियोक्ता के दृष्टिकोण में परिवर्तन - इससे नियोक्ता व प्रबन्धकों के दृष्टिकोण में भी समुचित परिवर्तन होता है और वे श्रमिकों को केवल यंत्र का एक पुर्जा मात्र समझना छोड़ देते हैं। वे भी श्रमिकों को सुख-सुविधा प्रदान करने में पर्याप्त सहयोग देने लगते हैं।

6.8 सारांश (Summary)

पहले कार्मिक प्रबन्ध पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था किन्तु अब दृष्टिकोण बदल गया है और अब कर्मचारियों के प्रबन्ध के लिये विशेष ध्यान दिया जाता है। लघु उद्यमियों को भी कार्मिक प्रबन्ध उचित ढंग से करके उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिए जिससे वे संस्था के लिये अपना समुचित योगदान दे सकें।

कार्मिक प्रबन्धक को आज अनेक कार्य करने पड़ते हैं-नियोजन नीति-निर्माण, कर्मचारियों का चयन, प्रशिक्षण, मजदूरी प्रशासन, श्रम कल्याण तथा शोध कार्य करना आज आवश्यक हो गया है।

कर्मचारियों की नियुक्ति के दो प्रमुख स्रोत हैं - आन्तरिक तथा बाह्य स्रोत। लघु उद्यमियों को उचित स्रोत का पता लगा कर उस के माध्यम से कर्मचारियों की नियुक्ति करनी चाहिए। उनके प्रशिक्षण के लिये उचित विधि का चुनाव कर कर्मचारियों को प्रशिक्षित करना चाहिए।

मजदूरी भुगतान की अनेक विधियां हैं। उनमें दोनों विधियाँ अधिक प्रचलित हैं - समयानुसार तथा कार्यानुसार । समयानुसार पद्धति के अन्तर्गत उनको दी जाने वाली मजदूरी उनके काम के समय के अनुसार निर्धारित की जाती है। यह दैनिक, पाक्षिक या मासिक होती है। कार्यानुसार मजदूरी कर्मचारी द्वारा किये गये कार्य पर निर्भर करती है। यह उत्पादन की प्रति इकाई के आधार पर निश्चित की जाती है। मजदूरी भुगतान की प्रेरणात्मक योजनायें भी प्रचलित हैं। हाल्से, रोवन, गैण्ट, टेलर तथा इमर्सन आदि ने कुछ योजनायें इसके लिये सुझाई हैं।

लघु उद्यमियों को श्रम-कल्याण पर भी ध्यान देना चाहिए । श्रम-कल्याण सुविधाओं को अन्तर्भित्ति तथा बहिर्भित्ति सुविधाओं में बांटा जा सकता हैं। श्रम के कल्याण पर विशेष ध्यान देने पर श्रमिक अधिक सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं और मन लगा कर काम करते हैं।

6.9 स्व मूल्यांकन प्रश्न

1. कार्मिक प्रबन्ध का अर्थ तथा उसकी महत्ता की विवेचना कीजिए।
2. कार्मिक प्रबन्धकों के प्रमुख कार्यों की व्याख्या कीजिए।
3. कर्मचारियों के नियुक्ति के विभिन्न स्रोतों का वर्णन कीजिये।
4. कर्मचारियों के प्रशिक्षण की महत्ता पर प्रकाश डालिये।
5. कर्मचारियों के प्रशिक्षण की विधियों का वर्णन कीजिए।
6. मजदूरी भुगतान की कौन-कौन सी विधियां हैं? उनका उल्लेख कीजिये।
7. मजदूरी भुगतान की प्रेरणात्मक योजनाओं की संक्षिप्त विवेचना कीजिये।
8. श्रमिकों के कल्याण पर विशेष ध्यान देने की क्या आवश्यकता है? श्रम कल्याण के भेद बताइये।
9. श्रम कल्याण के प्रति दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिये।

6.10 संदर्भ ग्रन्थ

1. Frantz, Forrest H., Successful Small Business Management, Prentice Hall New Jersey, 1978.
2. Siropoels Nicholos C., Small Business Management, Houghton Miffinco, Boston, 1990.
3. V. Desai, Small Scale Industries and Entrepreneurship, Himalaya Pub. House, Mumbai, 2008.

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

M.COM-09
उद्यमिता एवं लघु उद्योग प्रबन्ध

खण्ड
4
लघु उद्योग सम्बन्धी मुद्दे

इकाई-1 5

लघु इकाइयों के क्षेत्र का आरक्षण तथा उन्हें दी गई रियायतें

इकाई-2 21

लघु औद्योगिक इकाइयों में रूग्णता

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

विषयगत सम्पादन

प्रो0 एस0 ए0 अंसारी	निदेशक, मोनिर्बा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

प्रो0 जगदीश प्रकाश	पूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के स्वयं के हैं।

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री एम0 एल0 कनौजिया, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, मार्च 2010

मुद्रक नितिन प्रिन्टर्स, 1, पुराना कटरा, इलाहाबाद।

खण्ड-4 (परिचय)

इकाई-01 के अन्तर्गत लघु इकाइयों के क्षेत्र का आरक्षण तथा उन्हें दी गई रियायतें सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत की गई हैं। इसके अन्तर्गत आरक्षण की आवश्यकता वैधानिक आधार, तथा आरक्षण हटाने की दशायें सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किया है। आरक्षण के सम्बन्ध में विभिन्न समितियों के सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं। लघु इकाइयों को दी गई रियायतें आर्थिक सहायता सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत की गई हैं।

इकाई-02 के अन्तर्गत लघु औद्योगिक इकाइयों में रूग्णता, औद्योगिक रूग्णता के संकेतक, रूग्णता के कारण, रूग्णता रोकने के उपाय, सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत किया गया है।

इकाई - 1 : लघु इकाइयों के क्षेत्र का आरक्षण तथा उन्हें दी गई रियायतें

इकाई की रूपरेखा-

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 आरक्षण की आवश्यकता

1.3 आरक्षण का वैधानिक आधार

1.4 आरक्षण हटाने की दशायें

1.5 1976 से अद्यतन आरक्षण की स्थिति

1.6 विभिन्न समितियों के सुझाव

1.7 लघु इकाइयों को दी गई रियायतें

1.8 सारांश

1.9 स्वमूल्यांकन परीक्षण

1.10 संदर्भ ग्रन्थ

1.0 : उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपको -

- लघु इकाइयों के लिये आरक्षण की आवश्यकता के बारे में जानकारी होगी,
- आरक्षण के लिये वैधानिक आधार की जानकारी होगी,
- आरक्षण हटाने के लिये दशायें ज्ञात होंगी,
- वर्ष प्रतिवर्ष आरक्षण की स्थिति जान सकेंगे,
- आरक्षण के संदर्भ में विभिन्न समितियों के सुझाव जान सकेंगे,तथा
- लघु इकाइयों को दी गई रियायतों की जानकारी होगी।

1.1 प्रस्तावना

लघु उद्यमों के विकास हेतु सरकार द्वारा यह आवश्यक समझा गया कि कुछ निश्चित वस्तुओं के निर्माण केवल लघु उद्योगों द्वारा ही किये जायें। इस प्रकार की नीति

इसलिये अपनायी गयी कि लघु उद्यमों को बड़े पैमाने के उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं से प्रतियोगिता न करनी पड़े। बड़े पैमाने के उद्यम कम लागत पर वस्तुओं का निर्माण इसलिए कर पाते हैं क्योंकि वे बड़े पैमाने पर प्रमाणित वस्तुओं का निर्माण करते हैं उन्हें बड़े पैमाने की मितव्ययिता प्राप्त होती है। उचित दर पर पूँजी प्राप्त हो जाती है। विपणन तथा विपणन के साधन उपलब्ध होते हैं। इनकी अपेक्षाकृत लघु उद्यमों द्वारा वस्तुओं की लागत अधिक होने के कारण इन उद्यमों को बड़े उद्यमों से प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। इसीलिये भारत सरकार ने 1967 से लघु उद्यमों के लिये कुछ निश्चित वस्तुओं के निर्माण के लिए आरक्षण प्रदान किया है। जिससे उन वस्तुओं का निर्माण बड़े उद्योग न कर सकें।

1.2 आरक्षण की आवश्यकता

लघु उद्योगों के लिए सरकार द्वारा आरक्षण की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से हुई :-

1. देश के विकास में लघु उद्यमों की भागीदारी बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है।
2. लघु उद्यम में निर्माण प्रक्रिया श्रम-सघन है। इसमें अधिकाधिक लोगों को रोजगार प्राप्त होता है।
3. इन उद्यमों के द्वारा उन तकनीकों का प्रयोग किया जा सके जो इनके लिये उपयोगी हों तथा सरल ढंग से उत्पादन संभव हो।
4. उपभोक्ताओं को उनकी आवश्यकता की वस्तुयें आसानी से उपलब्ध हो सकें।
5. इन उद्यमों को बड़े पैमाने के उद्यमों से प्रतियोगिता न करनी पड़े।
6. धीरे-धीरे ये उद्यम अपने आप को अधिक सक्षम बना सकें तथा प्रतियोगिता का सामना कर सकें।
7. सरकारी एजेसियों व कार्यालयों को केवल लघु उद्यमों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को उपलब्ध कराना।

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि केवल निर्माणी क्षेत्र में ही इन उद्यमों को आरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था है। सेवा क्षेत्र (Service sector) के सम्बन्ध में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। साथ ही यह भी निर्णय लिया गया कि यदि बड़े पैमाने

के उद्यम आरक्षित क्षेत्र में भी निर्माण करना चाहते हैं तो उन्हें अपने कुल उत्पादन का 75 प्रतिशत निर्यात करना होगा। सिले-सिलाये वस्त्रों की दशा में यह 50 प्रतिशत ही है।

1.3 आरक्षण का वैधानिक आधार

आरक्षण की व्यवस्था उद्योग विकास एवं विनिमय अधिनियम, 1951 में की गई। इस हेतु 1984 में इस अधिनियम में संशोधन करके सरकार को इस सम्बन्ध में आवश्यक अधिकार सौंपे गये। इस संशोधन द्वारा एक सलाहकार समिति के गठन का प्रावधान किया गया। केन्द्र सरकार द्वारा गठित यह समिति इन लघु उद्यमों को आरक्षण देने के सम्बन्धों में सरकार को आवश्यक परामर्श देगी।

औद्योगिक विकास सचिव को इस सलाहकार समिति का अध्यक्ष बनाया गया। यह समिति समय-समय पर निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करके सरकार को निर्णय के लिए प्रस्तुत करती है :-

(अ) नये वस्तुओं के उत्पाद के आरक्षण के सम्बन्ध में।

(ब) आरक्षण को समाप्त करने के विषय में, तथा

(स) उन वस्तुओं का नाम बदलने के सम्बन्ध में।

समय-समय पर सरकार इस बात की जाँच भी करती रहती है कि बड़े पैमाने के उद्योग इन आरक्षित वस्तुओं का उत्पादन तो नहीं कर रहे हैं।

1.4 आरक्षण हटाने (Dereservation) की दशायें

1967 में सरकार ने लघु उद्यमों को सुरक्षा प्रदान करने तथा प्रोत्साहन देने की दृष्टि से लघु उद्यमों के लिए आरक्षण की नीति अपनाई थी। परन्तु धीरे-धीरे अनेक कारणों से सरकार कुछ न कुछ वस्तुओं पर से आरक्षण हटाने की भी नीति अपनाती रही है।

आरक्षण हटाने के लिये निम्नलिखित दशायें निर्धारित की गई।

1. यदि लघु क्षेत्र में कोई नई इकाई स्थापित करके उनकी क्षमता में वृद्धि न की गयी हो।

2. विद्यमान लघु उद्यम इकाइयों में अतिरिक्त क्षमता न बढ़ाई गई हो।

3. मांग की अपेक्षाकृत इन उद्यमों में, वस्तुओं के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि न की गई हो।

4. यदि इन उद्यमों में टैक्रोलॉजी प्राप्त करने की दृष्टि से निर्धारित विनियोग की राशि से अधिक पूँजी लगा दी गई हो।

5. लघु उद्यम की किसी एक इकाई में इसकी न्यूनतम क्षमता की अपेक्षाकृत मांग में कमी आई हो फलस्वरूप उस वस्तु का उत्पादन करना मितव्ययी न रह गया हो।

इस प्रकार समय-समय पर सरकार आरक्षण की स्थिति की जाँच कर मूल्यांकन करती है तथा यदि आवश्यक हुआ तो कुछ निश्चित वस्तुओं पर से आरक्षण हटा भी लेती है।

1.5 1967 से अद्यतन आरक्षण की स्थिति

अप्रैल 1967 से लघु उद्यमों को आरक्षण देने की नीति सरकार ने आरम्भ की। वर्ष-प्रति-वर्ष इन उद्यमों को दिये गये आरक्षण तथा आरक्षण हटाने की स्थिति बदलती रही है। अप्रैल 1967 को लघु उद्यमों के लिये आरक्षित वस्तुओं की संख्या 47 थी। इनकी अधिकतम संख्या अक्टूबर 1984 में थी जब 873 मदों को आरक्षण प्राप्त था। बीच के वर्षों में कुछ मदों पर से आरक्षण हटा लिया गया तथा अन्य कुछ को आरक्षण प्रदान किया गया। इस प्रकार से आरक्षण प्राप्त मदों की शुद्ध संख्या में पहले तो वृद्धि हुई, पर बाद में आरक्षण हटाने के कारण इन की संख्या कम होती गई । अक्टूबर 2008 में आरक्षण प्राप्त मदों की संख्या घटकर केवल 21 रह गई। आरक्षण की 1967 से 2008 तक की स्थिति निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायेगी।

तालिका - 1

लघु उद्यमों को लिये आरक्षित मदों की संख्या

(1967 से 2008 तक)

वर्ष	आरक्षित मदों की संख्या	मदों की संख्या जिन पर से आरक्षण हटाया गया	आरक्षित मदों की शुद्ध संख्या
अवस्था प्रथम			
अप्रैल 1967	47	-	47
फरवरी 1970	8	-	55
फरवरी 1974	73	-	128
नवम्बर 1971	-	4	124
फरवरी 1974	53	-	177

जून 1976	3	-	180
अप्रैल 1978	324	-	504
अवस्था द्वितीय			
अप्रैल 1978*	807	-	807
दिसम्बर 1978	-	1	806
मई 1980	27	-	833
फरवरी 1980	1	1	833
अगस्त 1981	9	-	842
दिसम्बर 1981	2	13	831
14 अक्टूबर 1982	-	3	823
19अक्टूबर 1982	9	-	837
सितम्बर 1983	35	-	872
अक्टूबर 1984	1	-	873
जुलाई 1986	7	14**	869
अक्टूबर 1986	1	7	863
फरवरी 1987	-	13	850
जुलाई 1987	-	3	847
मार्च 1988	-	1	846
मार्च 1989	3	14	835
जुलाई 1989	1	-	836
अप्रैल 1997	-	15	821
फरवरी 1999	-	9	812
जनवरी 2001	-	1	811
जून 2001	-	14*	799
मई 2002	-	51e	749
जून 2003	-	750	675

अक्टूबर 2004	-	85[00]	605
मार्च 2005	-	108[000]	506
मई 2006	-	180	326
जनवरी 2007	-	87	239
मार्च 2007	-	125	114
फरवरी 2008	-	79	35
अक्टूबर 2008	-	14	21

*1978 में आरक्षित सूची में NIC द्वारा दिये गये कोड की संख्या में फिर से बदलाव लाया गया है। इसके फलस्वरूप 804 की संख्या बढ़कर 807 हो गई।

*** इसमें तीन उप मद सम्मिलित थीं। इसलिये प्रभावी संख्या केवल 11 रही।

* इस में भी 2 मद पद सम्मिलित हैं इसलिए प्रभावी संख्या 12 रह गई।

* इसमें 1 उप मद सम्मिलित हैं अतः प्रभावी संख्या 50 रह गई।

o11 उप मद सम्मिलित होने से प्रभावी संख्या 74 रह गई।

oo 15 उप मद सम्मिलित होने से प्रभावी संख्या 70 रह गई।

ooo 10 उप मद सम्मिलित होने से प्रभावी संख्या 98 रह गई।

(स्रोत - Ministry of Small Scale Industries (SSI) and Agro and Rural Industries and Economic Survey 2006-07 and 2007-08)

इस प्रकार उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि सरकार धीरे-धीरे आरक्षण नीति में परिवर्तन कर लघु उद्यमों के लिये आरक्षित मदों को कम करती गई। फलस्वरूप फरवरी 2008 में केवल 21 मदों पर ही आरक्षण रह गया। अनेक विद्वानों ने सरकार की इस नीति को उचित नहीं ठहराया है किन्तु अन्य अर्थशास्त्रियों ने उदारीकरण की नीति के तहत आरक्षण हटाने की नीति को उचित ठहराया है। इस तरह आरक्षण की नीति विवादास्पद है।

1.6 विभिन्न समितियों के सुझाव

समय-समय पर सरकार ने इन लघु इकाइयों के संदर्भ में समितियों का गठन किया, उनमें से निम्नलिखित समितियों की सिफारिशों का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

1. विजय राघवन समिति, 1996
2. आबिद हुसैन समिति, 1997
3. एस.पी.गुप्त समिति, 2000

1. विजय राघवन समिति 1996

अगस्त 1995 में, श्री टी.एस.राघवन, अतिरिक्त सचिव, वाणिज्य मंत्रालय की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई जिसे आरक्षण सूची पर विचार करके अपनी सिफारिशें देनी थी। 1996 में इस समिति ने अपनी रिपोर्ट सलाहकार समिति को सौंप दी। इस समिति की प्रमुख सिफारिश यह थी कुछ उत्पादों पर से आरक्षण हटा लिया जाना चाहिए तथा 63 उत्पादों का नाम बदल दिया जाना चाहिए।

इस समिति ने आरक्षण हटाने के लिए निम्नलिखित कारण बताये।

1. 60 लाख रूपये के विनियोग पर जो कि अधिकतम विनियोग की मात्रा है, गुणात्मक वस्तुओं का उत्पादन तकनीकी दृष्टि से उपयुक्त नहीं है।

2. उत्पादों के लिए नव प्रवर्तन होने के फलस्वरूप नये-नये उत्पादों का निर्माण आवश्यक हो गया है जिसके लिये अधिक विनियोग की आवश्यकता है।

3. उपभोक्ताओं के माँग में परिवर्तन हो चुका है। उस दृष्टि से तथा सुरक्षा हाईजीन एवं अधिक गुणवत्ता वाली वस्तुओं के उत्पादन के लिये भी यह आवश्यक हो गया है।

4. निर्यात की संम्भावनाओं तथा निर्यात संवर्द्धन हेतु भी यह जरूरी है।

5. उपलब्ध संसाधनों के उचित प्रयोग की दृष्टि से भी यह आवश्यक है।

6. बड़े पैमाने के इकाइयों द्वारा कुछ वस्तुओं के उत्पादन पर Cob License के तहत एकाधिकार स्थापित हो चुका है।

इस समिति की सिफारिशें तत्कालीन परिस्थिति में तो उपयुक्त थीं परन्तु आज जब लघु तथा मध्यम उद्यमों में विनियोग की अधिकतम मात्रा बढ़ा दी गई है तब ये सिफारिशें बहुत उपयुक्त नहीं रह गई हैं।

2. आबिद हुसैन समिति 1997

इस समिति ने भी लघु उद्यमों पर आरक्षण हटाने के सम्बन्ध में विचार किया तथा इन उद्यमों से धीरे-धीरे आरक्षण हटाने की सिफारिश की।

इन उद्यमों पर से आरक्षण हटाने के सम्बन्ध में समिति ने निम्नलिखित कारण बतायेः-

1. वास्तव में आरक्षण नीति अपनाने के फलस्वरूप इन उद्यमों को कोई विशेष प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हो सका। केवल इससे बड़े पैमाने के उद्यम इन वस्तुओं के उत्पादन से वंचित रह गये।

2. व्यापारिक सुधार की दृष्टि से इन उद्यमों को आरक्षण प्रदान करना सुसंगत नहीं है।

3. लघु उद्यम जिन वस्तुओं का उत्पादन करती है। उनमें से अधिकांश पर तो आरक्षण मिला ही नहीं अपितु जिन वस्तुओं के लिये आरक्षण दिया गया उनका कोई विशेष उत्पादन इन इकाइयों के द्वारा नहीं किया गया।

4. इस आरक्षण की नीति को अपनाने की अवसर लागत बहुत अधिक है इससे अनेक वस्तुओं के उत्पादन में कोई विशेष उन्नति

नहीं हुई।

5. मात्रात्मक प्रतिबन्ध (Quantitative Restriction) हटाने के पश्चात ये लघु इकाइयाँ वैश्विक स्तर की कम्पनियों से प्रतियोगिता नहीं कर पा रही हैं। समिति की दृष्टि से आरक्षण हटाने का महत्वपूर्ण कारण आयात है।

इस समिति द्वारा जो सिफारिशें की गईं या जो कारण बताये गये अब बहुत अधिक सुसंगत नहीं रह गये हैं। वास्तव में सरकार ने स्वयं लघु उद्यमों द्वारा अधिकांश वस्तुओं के उत्पादन पर से आरक्षण हटा लिया है।

3. एस.पी.गुप्त समिति 2000

इस समिति ने अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों के अध्ययन के पश्चात यह सिफारिश की कि सलाहकार समिति का पुनः संगठन किया जाना चाहिए और इस समिति में लघु तथा बड़े आकार के उद्योगों के प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए।

यह समिति इस पक्ष में नहीं थी कि इन लघु उद्यमों पर से आरक्षण हटा लिया जाये इसका विचार था कि लघु इकाइयों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का 30 प्रतिशत निर्यात किया जाता है, अतः उस दृष्टि से इन पर से आरक्षण नहीं हटाना चाहिए। यदि आरक्षण हटा लिया जाता है तो यह जोखिम भरा कदम होगा और इन लघु उद्यमों को बड़े पैमाने के उद्यमों से घरेलू बाजार में प्रतियोगिता करनी पड़ेगी। यह लघु उद्यमों के विकास की दृष्टि से उचित नहीं है।

सरकार ने इस समिति की सिफारिशें कों स्वीकार नहीं किया और धीरे-धीरे बहुत बड़ी मात्रा में इनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर से आरक्षण हटा लिया ।

1.7 लघु इकाइयों को दी गई रियायतें (Concessions)

भारतीय अर्थव्यवस्था में, उत्पादन, रोजगार, निर्यात तथा अन्य के समान वितरण की दृष्टि से लघु इकाइयाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण

लघु इकाइयों के क्षेत्र का आरक्षण तथा उन्हें दी गई रियायतें

हैं। इन इकाइयों के विकास के लिये यह आवश्यक है कि सरकार इन्हें कुछ विशेष रियायतें दे जिससे नई इकाइयाँ स्थापित हो सकें तथा वर्तमान इकाइयों का विस्तार हो सकें, साथ ही उनका संचालन सुचारू रूप से किया जा सके। विशेष रूप से नई इकाई की स्थापना के लिए उद्यमी (Entrepreneurs) जोखिम उठाने के लिये तैयार नहीं होते और जोखिम की डर से इनका प्रवर्तन (Promotion) करने से घबराते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि इन उद्यमियों को रियायतें देकर, उन्हें प्रेरित तथा प्रोत्साहित किया जाय।

ये रियायतें कई प्रकार से दी जा सकती हैं वास्तव में निम्नलिखित तीन मदें अधिक प्रचलित हैं : 1. रियायतें (Concessions) 2. आर्थिक सहायता या प्रतिदान (Subsidy) तथा 3. आनुतोषिक (Bounties)

1. रियायतें

रियायतों का तात्पर्य नीतियों तथा नियमों में शिथिलता देने से है जिससे कि उद्यमी प्रोत्साहित होकर लघु इकाइयों के विकास के लिये प्रेरित हो सकें। जब तक ये नियम विशेष रूप से इन इकाइयों के लिये शिथिल नहीं किये जायेंगे, इस क्षेत्र में नई -नई इकाइयों की स्थापना में अनेक बाधायें आयेंगी। इसके फलस्वरूप उद्यमी हतोत्साहित हो सकते हैं। इस तरह की छूट वास्तव में मौद्रिक रूप में तथा सुविधाओं के रूप में हो सकती हैं।

2. आर्थिक सहायता या प्रतिदान (Subsidy)

सरकार द्वारा प्रतिदान रूप से भी आर्थिक सहायता दी जाती है। प्रायः सरकार ऐसी सुविधा देती है जिससे कि इकाई को होने वाली पूर्ति हो सके। उदाहरण के लिये सरकार यदि किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित करती है किन्तु उत्पादक को उस वस्तु को अपनी लागत से कम मूल्य पर बेचना पड़ता है तो प्रशासनिक मूल्य (Administered Price) तथा वास्तविक मूल्य में जो अन्तर होता है

उसका भुगतान एक मुश्त राशि के रूप में सरकार कर देती है। इसी को प्रतिदान कहते हैं।

3. आनुतोषिक (Bounty)

आनुतोषिक का तात्पर्य उस राशि से होता है जो सरकार आर्थिक सहायता के रूप में किसी उद्योग विशेष या उत्पाद विशेष के प्रोत्साहन के लिये देती है। इस सहायता से उद्योग विशेष अपनी उत्पादन क्षमता को बढ़ा सकता है जिससे कि प्रतियोगिता का समाना किया जा सके। विशेष रूप से विदेशी बाजार में बेचने के लिये या निर्यात करने के लिये इस प्रकार की आर्थिक सहायता दी जाती है।

1.7.1 रियायतों के उद्देश्य (Objects of concessions)

इन लघु इकाइयों के विकास के लिये सरकार अनेक प्रकार की रियायतें प्रदान करती है। इससे इन इकाइयों को प्रोत्साहन मिलता है और उनका समुचित विकास सम्भव हो पाता है। इन रियायतों को प्रदान करने के लिये प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. नये उद्यमियों को प्रोत्साहित करना जिससे वे प्रेरित होकर नई-नई इकाइयों की स्थापना कर सकें।

2. विद्यमान इकाइयों को प्रेरित करना जिससे वे पहाड़ी क्षेत्रों में, पिछड़े क्षेत्रों में तथा उद्योग विहीन क्षेत्रों में अपनी इकाइयाँ स्थापित कर सकें।

3. उदारीकरण तथा वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में, इन उद्योगों के समक्ष अधिकाधिक प्रतियोगिता बढ़ गई है। इन रियायतों को देने का उद्देश्य उनकी प्रतियोगी क्षमता में वृद्धि करना है जिससे वे घरेलू तथा विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकें।

4. इस क्षेत्र में उद्यमियों को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। अतः इन रियायतों या छूटों के द्वारा उन्हें आशान्वित करना कि सरकार उन बाधाओं को दूर करेंगी।

लघु इकाइयों के क्षेत्र का आरक्षण तथा उन्हें दी गई रियायतें

5. मूल्य सम्बन्धी होने वाली हानि की आपूर्ति का आश्वासन देना जिससे वे इससे होने वाली हानि की पूर्ति कर सकें ।

6. पिछड़े व पहाड़ी क्षेत्रों में रियायतें देकर, उद्यमियों को प्रोत्साहित करना जिससे सन्तुलित क्षेत्रीय विकास सम्भव हो सके।

1.7.2 रियायतों का स्वरूप (Form of Concession)

सरकार इन लघु उद्यमियों को जो रियायतें, आर्थिक सहायता या आनुतोषिक प्रदान करती है, वे कई प्रकार की होती हैं। कुछ प्रमुख सहायता व रियायतें निम्नलिखित हैं :-

1. **लघु उद्यमियों को सहायता** - सरकार ने उद्यमियों के प्रशिक्षण तथा आर्थिक सहायता के लिये कई संस्थायें स्थापित की हैं। इन्हें प्रशिक्षण देने के लिए NISIET (हैदराबाद), NIESBUD (नई दिल्ली), तथा ITCI (नीलो खेरी), इत्यादि संस्थायें कार्यरत हैं जो लघु उद्योग विकास संगठन (SIDO) के अधीन इन उद्यमियों को प्रशिक्षण देती हैं और लघु इकाइयों की स्थापना के लिए प्रशिक्षित एवं सक्षम बनाती हैं। इन इकाइयों को विभिन्न प्रकार की सहायता के लिये राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (NSIC) कार्यरत है जिसके अधीन नई दिल्ली, मुम्बई, अहमदाबाद, बैंगलोर तथा गोवा आदि स्थानों में इसके केन्द्र स्थापित किये गये है।

2. **कच्चे माल के लिये सहायता** - इन लघु इकाइयों को प्रायः कच्चे माल विशेष रूप से दुर्लभ माल की आवश्यकता होती है जिसे प्राप्त करने में इन्हें कठिनाई होती है। यदि आयातित माल लेना हो तो विशेष कठिनाई होती है। केन्द्र तथा राज्य दोनों स्तर पर इस सम्बन्ध में संस्थायें कार्यरत हैं। विशेष रूप से राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (NSIC)इस सम्बन्ध में विशेष सहायता प्रदान करती है। राज्य स्तर पर उद्योग निदेशालय (Directorate of Industries) इसके लिये आवश्यक सुविधा प्रदान करता है।

3. किराया क्रय पद्धति (Hire Purchase Method)के अन्तर्गत मशीनों की आपूर्ति -

इन लघु इकाइयों को मशीन तथा अन्य आवश्यक उपकरण को प्राप्त करने में कठिनाई होती है। इसके लिये न तो उनको पर्याप्त पूँजी उपलब्ध हो पाती हैं और न ही उन्हें तकनीकी जानकारी होती है। कहाँ से ये मशीनें तथा उपकरण क्रय किये जायें इसके लिए भी आवश्यक परामर्श लेना होता है। तीन करोड़ रूपये तक की मशीनें आदि दिलाने के लिये NSIC तथा राज्य स्तर पर कार्यरत लघु उद्योग निगम इत्यादि इन्हें किराया क्रय पद्धति पर ये सुविधायें उपलब्ध करा देती है तथा इस सम्बन्ध में आवश्यक परामर्श भी देती है।

4. नकद सहायता -

कुछ विशिष्ट वर्ग के युवकों, अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लोगों को इन लघु इकाइयों के लिए निर्धारित सीमा तक नकद सहायता भी दी जाती है।

5. तकनीकी सहायता (Technical assistance) -

इन लघु इकाइयों के स्वामी या नये उद्यमियों में तकनीकी ज्ञान की कमी पाई जाती है। इस सम्बन्ध में, सरकार इन्हें तकनीकी सहायता भी प्रदान करती है। इस सम्बन्ध में SIDO तथा SIDBI तथा राज्य स्तर की संस्थायें तकनीकी परामर्श (Technical Consultancy) देती हैं।

6. विपणन सम्बन्धी सहायता -

इन लघु उद्यमियों को वस्तुओं का उत्पादन करने के पश्चात उनके बेचने की समस्या होती है। उत्पादित वस्तुओं की उचित मूल्य पर बिक्री आवश्यक है अन्यथा इन्हें हानि होगी। साथ ही, इस सम्बन्ध में, विक्रय संवर्द्धन की भी आवश्यकता होती है। विपणन के लिये यह भी आवश्यक है कि कम लागत पर उच्च गुणवत्ता वाली

वस्तुओं का उत्पादन किया जाय। NSIC भी विपणन के लिये उचित सहायता प्रदान करती है। इस सम्बन्ध में केन्द्र तथा राज्य स्तर पर कई संस्थायें कार्यरत हैं।

7. आर्थिक सहायता या प्रतिदान (Subsidy) -

सरकार इन उद्योगों के लिए अनेक प्रकार की सब्सिडी प्रदान करती है। सरकार ये सब्सिडी विनियोग, आयात,निर्यात शोध एवं विकास (R & D) कर, टैक्नोलाजी में सुधार आदि के लिये प्रदान करती है। वित्त मंत्री अपने बजट में इस सम्बन्ध में भी वर्ष-प्रति-वर्ष घोषणा करते हैं।

इस प्रकार इन लघु इकाइयों के लिये सरकार ने अनेक प्रकार की सहायता प्रदान करने की योजनायें तैयार की हैं किन्तु व्यवहार में उद्यमी इन सुविधाओं से या तो वंचित रह जाते हैं या उन्हें प्राप्त करने में इतनी बाधायें आती हैं कि वे हताश हो जाते हैं। इन योजनाओं के कार्यान्वयन में व्यावहारिक कमियाँ तथा कठिनाइयाँ आती हैं जिसके फलस्वरूप उद्यमी इनका पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा पाते हैं।

1.8 सारांश (Summary)

लघु इकाइयों के संरक्षण तथा विकास हेतु यह आवश्यक समझा गया कि इनको निश्चित वस्तुओं के उत्पादन के लिये आरक्षण प्रदान किया जाय जिससे बड़े पैमाने के उद्योग उन वस्तुओं का उत्पादन न कर सके। फलस्वरूप, लघु उद्यमों को बड़ी इकाइयों से इनके लिये प्रतियोगिता का सामना न करना पड़े। भारत सरकार ने 1967 से इन उद्यमों को कुछ निश्चित वस्तुओं को आरक्षण देना आरम्भ किया । 1984 में इन आरक्षित वस्तुओं की संख्या अधिकतम 873 थी। बाद में घटते-घटते इनकी संख्या 2008 में केवल 21 रह गई। उदारीकरण की नीति अपनाने के फलस्वरूप, कतिपय

कारणों से सरकार ने धीरे-धीरे इनके लिये आरक्षण हटाने की नीति अपनाई। सरकार द्वारा गठित समितियों ने भी इन आरक्षणों को हटाने की सिफारिश की, परन्तु आरक्षण हटा देने से इन उद्यमों को अब घरेलू तथा विदेशी औद्योगिक इकाइयों से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ रही है। सरकार द्वारा, नये उद्यमियों के लिये तथा विद्यमान लघु उद्यमों के लिये अनेक प्रकार की रियायतें तथा सब्सिडी दी जा रही है, परन्तु इनका भरपूर उपयोग ये उद्यमी नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि इन योजनाओं के कार्यान्वयन में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

लघु इकाइयों के क्षेत्र का आरक्षण तथा उन्हें दी गई रियायतें

1.9 स्वमूल्यांकन परीक्षण

1. ''लघु उद्यमों के विकास के लिये उन्हें आरक्षण प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है।'' इस कथन की व्याख्या कीजिये।
2. भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु उद्यमों की महत्ता को देखते हुए लघु उद्यमों को आरक्षण देने के उद्देश्यों की विवेचना कीजिये।
3. भारत में लघु उद्यमों को आरक्षण प्रदान करने के वैधानिक आधार बताइये। क्या इन उद्यमों पर से आरक्षण हटा लेना चाहिए?
4. भारत सरकार द्वारा लघु उद्यमों पर से आरक्षण हटाने के औचित्य को समझाइये। किन दशाओं में इन पर से आरक्षण हटाया जाना चाहिये?
5. आरक्षण के सम्बन्ध में विभिन्न समितियों द्वारा दी गई सिफारिशों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
6. भारत सरकार द्वारा लघु उद्यमों के संरक्षण तथा विकास के लिए दी गई रियायतों का वर्णन कीजिये।
7. रियायतें, सब्सिडी तथा आनुतोषिक (Bounty) से आप क्या समझते हैं?

1.8 संदर्भ ग्रन्थ

Relevant references should be given

1- Vasant Desai, Entrepreneurship and small Business Management, Himalaya Publication.

2- M.B . Shukla Entrepreneurship and Small Business Management, Kitab Mahal, Allahabad.

इकाई - 2 : लघु औद्योगिक इकाइयों में रूग्णता

इकाई की रूपरेखा-

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 लघु इकाइयों की रूग्णता की परिभाषा

2.3 औद्योगिक रूग्णता के संकेतक

2.4 लघु औद्योगिक इकाइयों में रूग्णता के कारण

2.5 इनमें रूग्णता रोकने तथा दूर करने के उपाय

2.6 सारांश

2.7 स्व मूल्यांकन प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के आप जान सकेंगें कि -

- लघु रूग्ण औद्योगिक इकाई की परिभाषा क्या है,
- लघु रूग्ण औद्योगिक इकाइयों के संकेतकों के विषय में,
- लघु औद्योगिक इकाइयों में रूग्णता के कारण के बारे में,
- लघु औद्योगिक इकाइयों में रूग्णता दूर करने के उपाय के बारे में।

2.1 प्रस्तावना

औद्योगिक रूग्णता संगठनों में कम या अधिक मात्रा में प्रत्येक अर्थव्यवस्था में पाई जाती है। यह बड़े आकार के उद्योगों तथा लघु उद्यमों दोनों में पाई जाती हैं। यद्यपि लघु उद्यमों की रूग्णता, भारत जैसे देश में अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती है। रूग्णता के फलस्वरूप अनेक लघु उद्यमों को प्रति वर्ष बन्द करना पड़ता है या वे बन्द होने की कगार पर पाये जाते हैं। इस रूग्णता का प्रभाव दूरगामी होता है तथा देश की अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर इसका प्रभाव पड़ता है। इससे उत्पादन तथा बिक्री घटने लगती है। लाभदायकता घटती

है तथा बेरोजगारी भी बढ़ती है। इसका प्रभाव बैंकों तथा विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं पर भी पड़ता है जो इन लघु इकाइयों को ऋण प्रदान करती है। इनके द्वारा प्रदत्त धनराशि के वापस लौटने की सम्भावना भी घटती जाती हैं।

2.2 लघु इकाइयों की रूग्णता की परिभाषा

रूग्णता का स्पष्ट अर्थ समझना आसान नहीं है। विभिन्न संस्थाओं में, समितियों ने तथा सम्बन्धित अधिनियम में इसकी परिभाषा भिन्न-भिन्न दी गई हैं :-

भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा दी गई परिभाषा

भारतीय रिजर्व बैंक के अनुसार, लघु इकाई तभी रूग्ण समझी जायेगी जब निम्नलिखित शर्तें पूरी हों -

(अ) जब इसके द्वारा ली गई उधार राशि दो वर्षो से अधिक देय या अवसामान्य (Sub-Standard) हो। दूसरे शब्दों में, देय मूल धन तथा उस पर ब्याज ढाई वर्षों से अधिक तक न दिया गया हो, तथा

(ब) दो विगत लेखांकन वर्षों में, इसके उच्चतम शुद्ध मूल्य (Net worth) में कम से कम 50 प्रतिशत तक संचित नकद हानि (Cash loss) के कारण कमी या आवर्दन (Erosion) हो जाये।

लघु उद्योग विकास आयुक्त (Small Industries Development Commissioner) - के अनुसार एक लघु इकाई तभी रूग्ण मानी जायेगी जब (1) विगत पाँच वर्षों में, अधिकतम प्रापृक्षमता का 50 प्रतिशत तक ही उपयोग हो रहा हो, (2) शुद्ध मूल्य में 50 प्रतिशत से अधिक अनुरक्षण या कमी हुई हो तथा (3) छः माह से अधिक से इकाई बन्द पड़ी हो।

एस.एल.कपूर समिति के अनुसार एक लघु उद्योग तभी रूग्ण मानी जायेगी जब (अ) यदि इकाई का कोई उधार खाता छः माह से अधिक के लिये अवसामान्य (Sub standard) हो गया है, अर्थात उस पर मूलधन तथा ब्याज एक वर्ष से अधिक से देय हो, (ब)

विगत लेखांकन वर्ष में संचित नकद हानि (Cash loss) के कारण शुद्ध मूल्य में उच्चतम शुद्ध मूल्य के कम से कम 50 प्रतिशत तक अनुरक्षण या कमी हुई हो तथा (स) इकाई में व्यावसायिक उत्पादन कम से कम तीन वर्षों से चल रहा हो।

रूग्ण औद्योगिक कम्पनी अधिनियम (Sick Industrial Companies Act or SICA)1985 की धारा (स) में भी रूग्ण कम्पनी की परिभाषा दी गई है। इस अधिनियम के अनुसार एक रूग्ण कम्पनी वह औद्योगिक कम्पनी है (जो कि कम से कम 5 वर्षों से पंजीकृत हो) ऐसी वित्तीय वर्ष के अन्त में संचित हानियाँ, शुद्ध मूल्य के बराबर या उससे अधिक हों। पहले पंजीकरण की अवधि 7 वर्ष थी जिसे 1993 में संशोधन करके घटा कर 5 वर्ष कर दिया गया। इसी वर्ष संशोधन करके नकद हानि की शर्त को भी हटा दिया गया।

किसी भी औद्योगिक इकाई की रूग्णता एक साथ नहीं आती है। वह धीरे-धीरे कई वर्षों में होती है। कतिपय कारणों से उत्पादन घटने लगता है। बिक्री में तथा लाभ में धीरे-धीरे कमी होती जाती है। वह अपने बैंकों को देय राशि का भुगतान करने में असमर्थ हो जाती है। इसके फलस्वरूप उस इकाई में हानि होने लगती है। इकाई का शुद्ध मूल्य हानि के कारण घटने लगता है। नकद हानि जब होने लगती है और उसकी संभावना अगले वर्ष में भी होती है तो उसे आरंभिक रूग्णता (Incipient Sickness) कहते है। जब नकद हानि होने लगे, शुद्ध कार्यशील पूँजी ऋणात्मक हो जाये, शुद्ध मूल्य घटता जाये तो उसे रूग्णता की श्रेणी में लाते है।। वास्तव में एक स्वस्थ इकाई को रूग्ण इकाई में परिवर्तित होने में 5 से 7 वर्ष तक लग जाते हैं।

2.3 औद्योगिक रूग्णता के संकेतक (Signals of Industrial Sickness)

इकाई के रूग्ण होने के लक्षण तथा संकेत तो पहले से ही मिलने लगते हैं। प्रायः इनकी जानकारी या पहचान पाना आसान

नहीं है। यदि प्रबंधक इस दिशा में प्रयास करे तो इन संकेतकों की पहचान की जा सकती है। एस.एस.खान के अनुसार कुछ महत्वपूर्ण संकेतक निम्नलिखित हैं -

1. क्षमता के उपयोग में कमी
2. अल्पकालीन दायित्वों को पूरा करने में कोषों में कमी
3. अत्यधिक मात्रा में इन्वेण्ट्री का होना
4. बैंक तथा वित्तीय संस्थाओं को आँकड़े न प्रस्तुत करना
5. बैंक खाता चालू रखने में अनियमिततायें
6. संयंत्र तथा उपकरणों में बार-बार टूट-फूट
7. उत्पादित वस्तुओं या सेवाओं की किस्म में गिरावट
8. कानूनी देयताओं, जैसे प्राविडेण्ट फण्ड, कर आदि के भुगतान में देरी या चूक
9. तकनीकी कुशलता में गिरावट
10. उद्योग से कर्मचारियों के आवर्त (Turnover) में वृद्धि

2.4 लघु औद्योगिक इकाइयों में रूग्णता के कारण

भारत में लघु इकाइयाँ सूक्ष्म, लघु तथा मध्यम आकार की हैं। इसमें से सूक्ष्म तथा लघु इकाइयों में रूग्णता अधिक पाई जाती है। ये लघु इकाइयाँ बहुत कम मार्जिन पर काम करती हैं और एक छोटी सी त्रुटि भी इन्हें रूग्ण बना देती हैं। इनकी वित्तीय स्थिति इतनी सुदृढ़ नही होती कि ये सरकारी नीति या बाजार के उच्चवचन या प्रतियोगिता का सामना कर सकें। परिणामस्वरूप, इन्हें रूग्णता की समस्या का सामना करना पड़ता है।

इस रूग्णता के अनेक कारण हैं। इन कारणों का अध्ययन हम, इसे दो प्रमुख भागों में बाँट कर कर सकते हैं। वे हैं (अ) बाह्य तथा (ब) आंतरिक कारण।

(अ)बाह्य कारण

बाह्य कारण वे कारण होते हैं जो इन इकाइयों या उनके प्रबन्धकों द्वारा नियंत्रण से परे होते हैं। इन बाह्य कारणों से पूरा उद्योग रूग्ण हो सकता है। कुछ प्रमुख बाह्य कारण निम्नलिखित हैं -

1. **सरकारी नीति** - सरकार की औद्योगिक तथा अन्य नीतियाँ इन लघु इकाइयों के संचालन पर अधिक प्रभाव डालती है वास्तव में इन नीतियों में बार-बार परिवर्तन होने से इनके कार्य संचालन में कठिनाइयाँ आने लगती है जो अन्ततोगत्वा रूग्णता की ओर ले जाती है।

2. **आवश्यक संसाधनों की उपलब्धता** - लघु इकाइयों द्वारा उत्पादन में अनेक बाधायें आती हैं जिससे उत्पादन बढ़ने के स्थान पर घटता रहता है। इनको कच्चा माल, शक्ति, कुशल श्रमिक पर्याप्त मात्रा में तथा समय पर उपलब्ध नहीं हो पाते । उसी प्रकार परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी उत्पन्न होती है। फलस्वरूप धीरे-धीरे वे रूग्णता की ओर अग्रसर होने लगती हैं।

3. **माँग में कमी** - प्रायः इन उद्यमों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग में अनेक कारणों से कमी आ जाती है। फैशन बदलने से, लोगों की रूचि बदलने से अन्य कम्पनियों की प्रतियोगिता आदि से, इनकी माँग घटती है। फलस्वरूप हानि होती है और इकाई रूग्णता के कगार पर पहुँच जाती है।

4. **अर्थव्यवस्था में मन्दी** - प्रायः देश की अर्थव्यवस्था में मन्दी जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती हैं। इससे माँग घटती है, उत्पादन घटता है और हानि होने लगती है जिससे रूग्णता उत्पन्न होती है।

5. **प्राकृतिक आपदायें** - सूखा, बाढ़ आदि प्राकृतिक विपदाओं के कारण भी इन्हें हानि होती है जो रूग्णता बढ़ाती है।

6. **अपर्याप्त वित्तीय सुविधायें** - वित्त सम्बन्धी कठिनाइयों, विशेष रूप से कार्यशील पूँजी की कमी से अनेक उद्यम रूग्ण हो जाते हैं।

7. **हड़ताल व तालाबन्दी** - बार-बार हड़ताल व तालाबन्दी का भी सामना इन्हें करना पड़ता है। इससे भी रूग्णता को बढ़ावा मिलता है।

(ब) आन्तरिक कारण (Internal Causes) - अनेक आन्तरिक कारणों से भी ये उद्यम रूग्ण हो जाते हैं। बाह्य कारणों की अपेक्षाकृत, इन पर इकाई का नियंत्रण रहता है। कुछ महत्वपूर्ण आन्तरिक कारण निम्नलिखित हैं -

1. **प्रोजेक्ट क्रियान्वयन में कमी (Poor project implementation)** आरम्भ में ही जो प्रोजेक्ट तैयार किया गया हो उसके क्रियान्वयन में यदि कठिनाई आती है तो धीरे-धीरे वह इकाई रूग्ण हो जाती है। उस के लागत में वृद्धि होने तथा आवश्यकता से अधिक समय लगने के फलस्वरूप भी ऐसा होता है।

2. **कच्चे माल की कमी** - यदि समय से तथा पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल उपलब्ध नहीं होता है तो उसके भी गम्भीर दुष्परिणाम सामने आते हैं तथा रूग्णता का कारण बन जाता है।

3. **अपर्याप्त कार्यशील पूँजी** - इन लघु इकाइयों में कार्यशील पूँजी के पर्याप्त मात्रा में तथा समय से न मिलने के फलस्वरूप अत्यधिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह धीरे-धीरे ऋणग्रस्तता की ओर इकाइयों को अग्रसर करती है।

4. **अनार्थिक स्थान-निर्धारण (Uneconomic Location)** - यदि किसी लघु इकाई की स्थापना बिना किसी योजना के तथा जाँच पड़ताल के ऐसे स्थान पर हो जाती हैं जो स्थानीकरण की दृष्टि से अनुपयुक्त व अनार्थिक सिद्ध होता है तो उससे इकाई बाद में रूग्ण हो जाती है।

5. **श्रमिकों की नियुक्ति व प्रशिक्षण** - प्रायः निपुण तथा उपयोगी श्रमिकों की नियुक्ति न करने से भी कठिनाई उत्पन्न होती है। इन उद्यमों के पास संसाधन की कमी से उन्हें प्रशिक्षित भी नहीं किया

जा सकता। यह भी रूग्णता का एक कारण बन जाता है।

6. **उपयुक्त टैक्नोलॉजी की कमी** - आज के युग में टैक्नोलाजी क्षेत्र में जल्दी- जल्दी परिवर्तन होते रहते हैं। संसाधनों की कमी से नई टेक्नोलॉजी न मिल पाने से रूग्णता होती है।

7. **विपणन सम्बन्धी समस्यायें** - लघु औद्योगिक इकाइयों को अपने उत्पादित माल को बेचने में भी कठिनाई होती है तथा इस सम्बन्ध में बड़ी कम्पनियों से भी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। यदि माल नहीं बिक पाता तो स्टॉक इकट्ठा होने लगता है और इससे हानि होती है।

2.5 इनमें रूग्णता रोकने तथा दूर करने के उपाय

औद्योगिक रूग्णता देश पर अपना दूरगामी प्रभाव छोड़ती है। इससे बैंकों तथा वित्तीय संस्थाओं को हानि होती है। रोजगारी घटती है साथ ही औद्योगिक सम्बन्ध बिगड़ते हैं जिससे हड़ताल, तालाबन्दी को बढ़ावा मिलता है। भावी उद्यमी पर भी इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। दुर्लभ संसाधनों की बर्बादी होती है। इसके अतिरिक्त सरकार की आय पर भी इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। देश का निर्यात भी घटता है जो इन लघु इकाइयों के द्वारा किया जाता है। अतः यह आवश्यक है कि रूग्णता को दूर करने के लिये प्रभावकारी प्रयास किये जायें।

रूग्णता दूर करने के लिये निम्नलिखित महत्वपूर्ण उपाय अपनाये जा सकते हैंः-

1. आरम्भ में यह उपाय करना चाहिए कि रूग्णता बढ़ने न पाये। चूँकि रूग्ण की स्थिति आने में कई साल लगते हैं। उद्यमियों को तथा प्रबन्धकों को आरम्भ से ही ध्यान रखना चाहिए कि रूग्णता न आने पाये। इसके लिये पहले से ही सतर्क रहना चाहिए तथा आवश्यकतानुसार उपचार भी करते रहना चाहिए।

2. साधन की कमी होने के कारण यह देखना चाहिए कि यदि रूग्णता को दूर न किया जा सके तो सम्बन्धित इकाई को बन्द कर

देना चाहिए। केवल उपयुक्त इकाइयों में ही सुधार लाने का प्रयास करना चाहिए।

3. यदि यह निर्णय ले लिया जाय कि रूग्ण इकाई को पुनः स्थापित न किया जाय तो इसके लिये उचित कार्यक्रम या योजना तैयार की जानी चाहिए तथा उस योजना पर शीघ्रता के साथ अमल किया जाना चाहिए क्योंकि देरी होने से रूग्णता की मात्रा और बढ़ती है।

4. औद्योगिक एवं वित्तीय पुनर्निमाण बोर्ड (Board of Industrial and Financial Reconstruction या BIFR) को यह अधिकार प्राप्त है कि वह लघु इकाइयों का भी पुनरूत्थान करें। अतः यह आवश्यक है कि यह बोर्ड इन रूग्ण लघु इकाइयों का पुनर्निमाण पुनरूत्थान या पुनर्स्थापना शीघ्रता से करे। सभी सम्बन्धित संस्थाओं से, बैंकों से, सरकार से तालमेल बैठाकर इनके पुनर्निमाण की योजना को शीघ्रता के साथ कार्यान्वित करे।

5. बैंकों तथा अन्य सम्बन्धित वित्तीय संस्थाओं को समय-समय पर इन लघु इकाइयों के खातों की जाँच करनी चाहिए और वे यह पता लगाती रहें कि इकाई रूग्णता की ओर तो नहीं बढ़ रही है। यदि यह जानकारी प्राप्त हो तो इसकी सूचना सम्बन्धित एजेन्सी को दें जिससे शीघ्रता से इस समस्या का निपटारा किया जा सके।

6. इकाई में रूग्णता होने पर रूग्ण इकाई में लगे कर्मचारियों तथा मजदूरों का रोजगार समाप्त हो जाता है। इससे बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न होती है। फलस्वरूप कर्मचारी इकाई के बन्द होने का विरोध करते हैं। इसलिये उन्हें पुनर्प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए तथा उनके लिये नौकरी देने की वैकल्पिक व्यवस्था करनी चाहिए।

7. भारतीय रिजर्व बैंक तथा भारत सरकार को चाहिए कि वे व्यापारिक बैंकों को आवश्यक निर्देश दे कि वे रूग्णता की जानकारी समय-समय पर देते रहें तथा पुनर्स्थापना की योजना को कार्यान्वित

करने के लिए सम्बन्धित एजेन्सियों को आवश्यक सहायता प्रदान करें।

उद्यमिता विकास कार्यक्रम (Entrepreneurial Development Programme या EDP) को अधिक प्रभावकारी बनाया जाय जिससे जो उद्यमी किसी लघु इकाई की स्थापना करने जा रहे हों उन्हें इसके विषय में पूरी जानकारी हो। उन्हें रूग्णता से बचने के उपायों से अवगत कराना चाहिए, साथ ही प्रबन्ध सम्बन्धी सभी आवश्यक व्यावहारिक जानकारी उन्हें दी जानी चाहिए।

2.6 सारांश

औद्योगिक रूग्णता प्रत्येक अर्थव्यवस्था में पाई जाती हैं। इसके गम्भीर दुष्परिणाम होते हैं। एक औद्योगिक इकाई तभी रूग्ण कहलाती है जब उस की संचित हानि, इसके शुद्ध मूल्य (पूँजी तथा संचय) के बराबर या उससे अधिक हो जाये। किसी भी लघु इकाई की रूग्णता एक साथ या यकायक नहीं आती अपितु यह धीरे-धीरे कई वर्गों में होती है। उत्पादन घटने पर बिक्री तथा लाभ में कभी होने पर बैंकों को देय राशि का भुगतान न कर पाने पर रूग्णता बढ़ती जाती है।

यह आवश्यक है कि आरम्भ से ही रूग्णता की पहचान कर ली जाये और आवश्यक उपाय करके उन्हें रोकने के प्रयास किये जायें। रूग्णता की पहचान करने के लिए रूग्णता के संकेतकों के बारे में जानकारी होनी चाहिए। ये संकेतक कई प्रकार के होते हैं जैसे क्षमता के उपयोग में कमी, अधिक इन्वेण्ट्री का होना, बैंक खाता चालू रखने में अनियमिततायें, कानूनी देयताओं का भुगतान न कर पाना आदि।

इन लघु औद्योगिक इकाइयों में रूग्णता के अनेक कारण हो सकते हैं जो बाह्य तथा आन्तरिक कारण होते हैं। बाह्य कारण इकाई के नियंत्रण में नहीं होते जबकि आन्तरिक कारणों पर कुछ सीमा तक नियंत्रण किया जा सकता है। कुछ महत्वपूर्ण कारण हैं - सरकारी

नीति में बदलाव, संसाधनों की कमी, माँग में कमी, औद्योगिक अशान्ति, प्राकृतिक विपदा आदि। आन्तरिक कारण हैं - प्रोजेक्ट क्रियान्वयन में कमी, कच्चे माल की कमी, अपर्याप्त कार्यशील पूँजी, श्रमिकों की गलत नियुक्ति, उपयुक्त टेक्नोलॉजी का न मिल पाना, विपणन सम्बन्धी समस्यायें आदि।

रूग्णता दूर करने के लिये समय से तथा शीघ्रता से उपाय किये जाने चाहिए। या तो उन्हें बन्द कर देना चाहिए या उनकी पुनर्स्थापना की जानी चाहिए। बेरोजगार हुए कर्मचारियों तथा मजदूरों के पूर्व प्रशिक्षण की व्यवस्था कर उन्हें अन्यत्र रोजगार दिलाया जाना चाहिए। पुनर्स्थापना कार्यक्रम को शीघ्रता के साथ कार्यान्वित करने के लिये बी.आई.एफ.आर, व्यापारिक बैंकों तथा सम्बन्धित एजेन्सियों को एकजुट होकर इन रूग्ण इकाइयों की पुनर्स्थापना करनी चाहिए।

2.7 स्व-मूल्यांकन प्रश्न (Self Assessment Question)

1. लघु उद्यमों में औद्योगिक रूग्णता की परिभाषा दीजिये तथा उसके प्रमुख लक्षण समझाइये।

2. लघु उद्यमों में औद्योगिक रूग्णता के संकेतकों का वर्णन कीजिये।

3. ''औद्योगिक रूग्णता अकस्मात नहीं होती''। इस कथन की व्याख्या दीजिये तथा इसके कारणों की समीक्षा कीजिये।

4. लघु औद्योगिक इकाइयों में रूग्णता के कारणों पर प्रकाश डालिये।

5. लघु औद्योगिक इकाइयों में रूग्णता को दूर करने के उपायों को समझाइये।

6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

(अ) औद्योगिक रूग्णता के संकेतक

(ब) बी.आई.एफ.आर.

(स) औद्योगिक एवं वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड के उद्देश्य

7. औद्योगिक इकाइयाँ क्यों रूग्ण होती हैं? लघु औद्योगिक इकाइयों के संदर्भ में इसकी विवेचना कीजिए।

8. ''लघु औद्योगिक इकाइयों की रूग्णता से किसी को लाभ नहीं होता तथा भारतीय अर्थव्यवस्था पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है।'' इस कथन की व्याख्या कीजिए।

2.8 संदर्भ ग्रन्थ

Relevant references should be given

1- Vasant Desai, Entrepreneurship and small Business Management, Himalaya Publication.

2- M.B . Shukla Entrepreneurship and Small Business Management, Kitab Mahal, Allahabad.

NOTES

NOTES